स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

श्रद्धानन्द ग्रन्थावली: ग्यारह खण्डों में

राष्ट्र पुरुष श्रद्धानन्द ने भारत में धर्म, समाज, संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में चौमुखी क्रांति का सूत्रपात किया था। उन्होंने स्वयं को कल्याण मार्ग का एक ऐसा पथिक बताया जो ऋषि दयानन्द के दिव्य जीवन से प्रेरणा लेकर निज के तथा संसार के कल्याण हेतु निरन्तर प्रगति पथ पर आगे बढ़ता ही रहा। स्वामी श्रद्धानन्द जहाँ एक निष्ठावान धर्म प्रचारक, समाज सुधारक, शिक्षा शास्त्री तथा स्वाधीनता संग्राम के अजेय सेनानी थे, वहाँ वे सरस्वती के वरद पुत्र भी थे। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, तथा अंग्रेजी में विपुलकाय ग्रंथों का प्रणयन किया है। उनके सभी ग्रथों का प्रामाणिक और अधिकृत संस्करण श्रद्धानन्द ग्रंथावली के ग्यारह खण्डों में प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें स्वामी जी की स्वलिखित आत्मकथा के अतिरिक्त उनका संस्मरणात्मक साहित्य (बंदी जीवन के विचित्र अनुभव तथा इनसाइड कांग्रेस), वेदाधारित धर्मोपदेश, स्वामी दयानन्द के जीवन और व्यक्तित्व का मूल्यांकन परक साहित्य तथा धर्म समाज के इतिहास की स्मरणीय घटनाओं को लिपिबद्ध करने वाली रचनाएं एक साथ ही उपलब्ध कराई गई हैं। 'आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स ए विण्डिकेशन' जैसे दुर्लभ किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रामाणिक अनुवाद को भी ग्रन्थावली में समाविष्ट किया गया है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के उर्दू में संकलित 'कुलियात संन्यासी' तथा सद्धर्म प्रचारक व अन्य पत्र पत्रिकाओं से उनके लेख व शास्त्रार्थों का संग्रह सम्पादन तथा अनुवाद भी ग्रन्थावली के दो खण्डों में समाया है।

ओ३म्

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

खण्ड एक

'कल्याण मार्ग का पथिक'

(१९८१ वि० में प्रकाशित आत्मकथा)

सम्पादक
डॉ० भवानीलाल भारतीय
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

प्रकाशक
विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८७

मूल्य : ६० रुपये

मुद्रक
अजय प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

सम्पादकीय भूमिका

आर्यसमाज आन्दोलन में स्वामी श्रद्धानन्द का नाम और कार्य महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व के ठीक नीचे ही सुशोभित होता है। किन्तु श्रद्धानन्द के कार्यों की विशिष्टता इस दृष्टि से भी विवेचनीय है कि उन्होंने धर्म, समाज, राष्ट्र तथा शिक्षा के चतुर्दिक् प्रस्तत क्षेत्रों में अपने मौलिक चिन्तन तथा प्रबल कर्मठ शक्ति से नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। आर्यसमाज के धर्म-प्रचार कार्यक्रम को उन्होंने नूतन आयाम दिया तो शुद्धि, संगठन तथा वर्णाश्रम-धर्म के वास्तविक अनुपालन पर जोर देकर उन्होंने भारतीय समाज में नव-चेतना उत्पन्न भी की। देश के प्रति कर्त्तव्यपालन के भाव ने उन्हें कांग्रेस-आन्दोलन में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी किन्तु वे अपने युग के अन्य नेताओं की भाँति केवल व्याख्यान-मंच से दहाड़नेवाले वाक्शूर की ही भाँति मुखर नहीं हुए अपितु अवसर आने पर उन्होंने एक निर्भीक संन्यासी के बाने की रक्षा करते हुए आक्रामक की संगीनों के समक्ष अपनी छाती खोलने का साहस भी दिखाया। भारतीय शिक्षा को पुरातन गुरुकुलीय के अनुरूप ढालने का उनका प्रयास तो सर्वथा अनूठा ही था।

स्वामी श्रद्धानन्द जहाँ कर्मक्षेत्र के अद्वितीय योद्धा थे, वहाँ वे एक सफल लेखक तथा साहित्यकार भी थे। कर्मठता तथा बौद्धिकता का ऐसा समन्वय प्रायः बहुत कम लोगों में दिखाई देता है। स्वामी जी के ग्रन्थ हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने अपने लेखकीय जीवन का आरम्भ 'सद्धर्म-प्रचारक' नामक एक उर्दू साप्ताहिक निकालकर १८८९ ई० में किया था। कुछ वर्ष पश्चात् उन्होंने इस पत्र को हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। उनकी प्रथम पुस्तकाकार रचना 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' १८९१ ई० में प्रकाशित हुई थी।

कल्याण मार्ग का पथिक शीर्षक से यह ग्रन्थ ज्ञानमण्डल से संवत् १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें स्वामी जी के जीवन के ३५ वर्षों के क्रिया-कलाप स्वयं उनकी लेखनी से ही वर्णित हुए हैं। श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा को 'कल्याण-मार्ग का पथिक' नाम प्रदान कर अपने प्रारम्भिक जीवन की कटु यथार्थता तथा उसके मंगलोन्मुख होने की ही कहानी को प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार महात्मा गांधी की आत्मकथा सत्य के प्रति उनके प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत करती है, उसी प्रकार श्रद्धानन्द की आत्मकथा अनाचार और पतन के मार्ग से विमुख होकर श्रेय

मार्ग की ओर कदम बढ़ाने की एक अद्भुत, रोमांचक किन्तु शिक्षाप्रद कहानी है।

सामान्य मनुष्यों के लिए अपने जीवन के कालिमावाले पृष्ठों का उद्घाटन करना, अपनी कलंक-गाथा को औरों के सामने प्रस्तुत करना कठिन होता है, किन्तु संसार के महापुरुष कुछ और ही प्रकार की धातु से गढ़े होते हैं। मुंशीराम जी के जीवन की यह कथा उन सभी लोगों के लिए प्रेरणा और उदाहरण प्रस्तुत करती है जो अपने कदाचारों से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु आत्मिक दुर्बलता तथा मानसिक अदृढ़तावश ऐसा करने में कठिनाई महसूस करते हैं।

मुंशीराम के निराशापूर्ण जीवन में आशा की एक क्षीण प्रकाश-रेखा उस समय उदय हुई, जब बरेली में उन्हें स्वामी दयानन्द का सत्संग मिला। स्वामीजी के गरिमामय चरित्र तथा उदात्त जीवन ने उन्हें प्रभावित किया और पाश्चात्य दार्शनिकों के नास्तिकभावों से परिपूर्ण ग्रन्थों के पठन से विकृत उनके मस्तिष्क में जमी इस भ्रांत धारणा का उन्मूलन कर दिया कि संस्कृत जाननेवाला साधु बुद्धि की क्या बात कर सकता है! अब उन्हें यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए भी कोई व्यक्ति इतनी युक्तिसंगत बात कह सकता है।

स्वामी श्रद्धानन्द की यह आत्मकथा यदि नाना प्रकार के जीवनानुभवों से परिपूर्ण है तो साथ ही आर्यसमाज के प्रारम्भिक दिनों के अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद संस्मरण भी इसमें समाविष्ट हुए हैं। इस प्रकार आर्यसमाज के उस स्वर्णिम इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए भी इस ग्रन्थ का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। स्वामी श्रद्धानन्द तो आर्यसमाज के निर्माताओं और शलाका-पुरुषों में शीर्षस्थ हैं। उन्होंने अपने समकालीन सभी आर्य नेताओं और कार्यकर्ताओं के व्यक्तित्व एवं चरित्र को निकटता से देखा, परखा और जाना था। इस दृष्टि से लाला साईंदास, पण्डित गुरुदत्त, लाला देवराज, पण्डित पूर्णानन्द, स्वामी अच्युतानन्द आदि शतशः आर्यपुरुषों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण इस ग्रन्थ में अनायास ही आ गया है।

'कल्याणमार्ग का पथिक' का यह प्रस्तुत संस्करण अत्यन्त अवधानपूर्वक सम्पादित किया गया है। ग्रन्थ के इस पाठ को १९८१ वि० में प्रकाशित मूल संस्करण से पूर्णतया मिलान कर परिशुद्ध कर दिया गया है। यत्र-तत्र उपयोगी पाद-टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

पंजाब विश्वविद्यालय,
चंडीगढ़
१९ फाल्गुन शकाब्द १९०८

—भवानीलाल भारतीय

प्रस्तावना

अपना जीवन-वृत्तान्त सर्वसाधारण के आगे रखना उन उच्चकोटि के महानुभावों को ही शोभा देता है जिन्होंने संसार में किसी-न-किसी बड़े काम में कृतकार्यता प्राप्त की हो। फिर उत्तम प्रकाशक[1] भी उन्हीं की जीवनी को मुद्रित करना उचित समझते हैं जिन्होंने कोई अपूर्व कार्य किया हो, चाहे उस काम से संसार की उन्नति हुई हो या पहले से भी बढ़कर संसार रसातल को चला गया हो। मैं जानता हूँ कि मेरी जीवन-कथा दोनों कोटियों में नहीं आ सकती, फिर भी मैंने अपनी कहानी सर्वसाधारण के आगे रखने का साहस क्यों किया?

अभी पचास वर्ष भी पूरे नहीं हुए कि भारतवर्ष के नवयुवक सिवाय खाने-पीने, भोगने और उसके लिए धन संचय करने के अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते थे। गुलामी में वह जन्म लेते थे और उस दासता की अवस्था को अनिवार्य समझकर गन्दगी के कीड़ों की तरह उसी में मस्त रहते थे। उन्हें मालूम न था कि उनके पुरुषा भी किसी समय में सभ्यता का स्रोत थे। उन्हें यही बतलाया गया था कि भारतीय अर्द्ध सभ्य हैं, उनकी कोई संस्कृति थी ही नहीं और यदि वे गिरी हुई अवस्था से उठना चाहते हैं तो उन्हें योरोपियन सभ्यता की शरण में जाना चाहिए। इस पुस्तक का लेखक स्वयं किन विचारों का था वह उसकी जीवन-यात्रा की कहानी पढ़ने से विदित होगा।

आचार्य ऋषि दयानन्द ने आर्य्यावर्त्त की प्राचीन संस्कृति का सप्रमाण चित्र खींचकर न केवल आर्यसन्तान के अन्दर ही आत्म-सम्मान का भाव उत्पन्न किया प्रत्युत योरोपियन विद्वानों को भी, उनकी कल्पनाओं की असारता दिखलाकर, चक्कर में डाल दिया। हिन्दू युवक अपने प्रत्येक आचार-व्यवहार को दूषित और योरोपियनों के गिरे-से-गिरे अत्याचार और दुराचार को भी आदर्श समझा करते थे। मैंने भी उसी विद्यालय में शिक्षा पायी थी जिसने हिन्दू युवकों को अपनी प्राचीन संस्कृति का शत्रु बना दिया था।

आजकल की भारतीय जनता ५० वर्ष पूर्व का इतिहास पढ़कर उस समय के भारतीय लेखकों को तुच्छ दृष्टि से देखती है और उनके अज्ञान पर आश्चर्य प्रकट

१. मूल में लेखक

करती है और यह समझ बैठी है कि अज्ञान से ज्ञान की ओर आने के बीच में कोई भी मञ्जिल तय नहीं करनी पड़ी। इसी भूल को दूर करने के लिए मैंने अपनी जीवन-यात्रा की कहानी सविस्तर लिख दी है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावट की कहानियाँ बहुत-से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगाएँगी, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस आत्म-कथा के पाठ से बहुत-से युवकों को संसार-यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।

एक और बात भी है जिसकी ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूँ। ऋषि दयानन्द के लेखों का तत्त्व उन आर्यसमाजियों की समझ में पूर्णतया नहीं आता जिन्होंने आर्यसमाज के यौवनकाल में उसके अन्दर प्रवेश किया है।

अपनी निर्माण की हुई पाठविधि में आचार्य दयानन्द ने 'सर्व भाषा ग्रन्थ' त्याज्य लिखे हैं। इसपर सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में इस प्रकार प्रश्नोत्तर हैं—

'**प्रश्न**— क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है इससे··· जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है वैसे ये ग्रन्थ हैं।'

आचार्य का यह लेख रहस्यपूर्ण है। आजकल कुछ ऐसे आर्यसमाजी भी हैं जो यह समझते हैं कि किसी भी भाषा-ग्रन्थ को न पढ़ना चाहिए। यह उनकी भूल है। ऋषि ने उनमें यत्किञ्चित् सत्य भी माना है किन्तु बाल्यावस्था में शिक्षा ग्रहण करने के लिए संकेत कर दिया है कि वेदशास्त्रानुकूल नये भाषा-ग्रन्थों का निर्माण करना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार गृहस्थों के लिए आचार्य ने आज्ञा दी है कि सत्य का मण्डन और असत्य मत का खण्डन सीखकर सदाचारपूर्वक विदेश में जाने से हानि नहीं उसी प्रकार गुरुकुलों तथा राष्ट्रीय विद्यालयों में भी शिक्षा समाप्त करने के पीछे पुराने भाषा-कवियों के ग्रन्थ पढ़ने से लाभ ही होगा। मैंने इस कहानी में दिखलाया है कि आर्यसंस्कृति के गिरे-से-गिरे समय में भी तुलसीदास आदि की कविताओं ने आर्यसंस्कृति को लुप्त होने से बचाया है।

किस प्रकार क्रमशः धार्मिक दासता से उत्तरोत्तर हिन्दूसमाज को मुक्ति मिलती गयी और अपनी राजनैतिक दासता का भी उनको परिज्ञान हुआ, इसके समझने के लिए युगविधाता आचार्य दयानन्द के जीवन-चरित्र का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है, परन्तु उस परिवर्तन के बहुत-से मर्म तभी मालूम हो सकते हैं जबकि ऋषि के अनुगामी जिन्होंने स्वयं उनका सत्संग किया है अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को खोलकर जनता के सामने रख दें।

इस कहानी में मैंने अपने कुछ साथियों के नाम स्पष्ट नहीं दिये हैं, इसलिए कि उनके सम्बन्धियों को किसी प्रकार का मानसिक कष्ट न हो। घटनाएँ सब ठीक-ठीक दी गयी हैं। कुछ स्थलों में घटनाओं का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि शायद

उनको कल्पनात्मक उपन्यास समझा जाय परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि सच्ची घटनाएँ कभी-कभी उपन्यास को भी मात कर देती हैं।

ज्येष्ठ संवत १९३३ तक की कहानी आज से दो वर्ष पहले ही लिख छोड़ी थी। आर्यसमाज में प्रवेश के समय से संवत् १९४९ तक का वृत्तान्त 'सद्धर्मप्रचारक' साप्ताहिक पत्र में 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' के शीर्षक से छपता रहा है। उनमें से असम्बद्ध विस्तार को संक्षिप्त करके उस समय की कथा लेखबद्ध की गयी है। इन दोनों समयों के बीच का वृत्तान्त 'मियाँवाली जेल' के एकान्त निवास में लिखा गया। निस्संदेह मेरी स्मरणशक्ति ने भी घटनाओं के ठीक वर्णन में सहायता दी है परन्तु मुझे विद्यार्थी-जीवन व्यतीत करते हुए ही आत्मचिन्तन का व्यसन-सा लग गया था और इसलिए दिन-पत्रिका (डायरी) रखने का अभ्यास था। उस दिन-पत्रिका से तिथियों और घटनाओं के संशोधन में बहुत सुभीता रहा है।

मेरे पुराने साथी प्रायः सब चल बसे हैं। आर्यसमाज में प्रवेशकाल के नये साथियों में भी बहुत ह्रास हो चुका है। मुझे भी मौत सिर पर खड़ी दिखाई देती है। फिर भी नये-से-नये साथी मिलते चले जा रहे हैं और मेरे अन्तःकरण में निराशा की लहर जब कभी उठती है उसी समय श्रद्धा-सागर में विलीन हो जाती है। मेरा जीवन आशातीत व्यतीत हुआ है, इसलिए जबतक दम में दम है तबतक मनुष्य को बेदम नहीं होना चाहिए, यह मेरा सिद्धान्त है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में 'ज्ञानमण्डल' के संचालक बाबू शिवप्रसाद गुप्त से मुझे बड़ी सहायता मिली है। यदि वह इसकी छपाई का भार अपने ऊपर न लेते और उनके प्रबन्धकर्ता मेरे पीछे न पड़े रहते तो मुझे ऋषि-ऋण से मुक्त होने का अवसर अभी न मिलता। यन्त्रालय से मेरे दूर होने के कारण अशुद्धियाँ अवश्य रह गयी हैं, परन्तु मेरे लेख की पहेलियों को सुलझाने का काम ज्ञानमण्डल के संशोधकों ने उत्तम किया है।

मेरे जीवन के शेष अनुभव भी, किसी-न-किसी रूप में जनता के सामने आते ही रहेंगे, यदि उनको छपवाकर मुद्रित कराने का बोझ उठाने के लिए बाबू शिव-प्रसादजी-से उदार आर्यपुरुष तय्यार रहें।

पाठकवृन्द ! कल्याण-मार्ग के पथिक की कहानी में जो कुछ भी आपको शिक्षाप्रद दिखाई दे उसे ग्रहण करो, परन्तु जो कुछ अहितकर प्रतीत हो उसको उपेक्षादृष्टि से ही देखो। गुसाईं तुलसीदास ने ठीक कहा है—

जड़ चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहि पय परिहरि वारि विकार॥

दिल्ली नगर—२६-८-८१ विक्रमी

—श्रद्धानन्द संन्यासी

॥ ओ३म् ॥

ऋषि दयानन्द के चरणों में

सादर समर्पण

ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पट पर अबतक ज्यों-की-त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरणमात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है? परमात्मा के विना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सत्संग ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन-लाभ करने के योग्य बनाया?

मैं क्या था इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूँ, वह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है। इसलिए इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्म-शताब्दी पर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूँ। तुम वाणी द्वारा प्रचार करनेवाले केवल तत्त्ववेत्ता ही न थे परन्तु जिन सचाइयों का तुम संसार में प्रचार करना चाहते थे उनको क्रिया में लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान् कृष्ण की तरह तुम्हारे लिए भी तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया था, परन्तु तुमने भी मानव-संसार को सीधा मार्ग दिखलाने के लिए कर्म की उपेक्षा नहीं की।

भगवन् ! मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। इसलिए जिस परमपिता की असीम गोद में तुम परमानन्द का अनुभव कर रहे हो, उसी से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करें।

—विनीत

श्रद्धानन्द

अनृत जीवन से श्रेय की ओर

प्रथम परिच्छेद
अन्धकार और प्रकाश का युद्ध

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'

—भगवद्गीता २।२७

माँ पर पूत पिता पर घोड़ा बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा ।।

जन्म-स्थान, नाम, संस्कार

संवत् १९१३ विक्रमी, मास फाल्गुन, कृष्ण त्रयोदशी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता उन दिनों रोजगार की तलाश में घर से बाहर गये हुए थे। पञ्चनद (पंजाब) प्रान्त में जालन्धर एक ज़िला है जो अपने मुख्य नगर के नाम से प्रसिद्ध है। जनोक्ति यह है कि इसी स्थान में जालन्धर दैत्य का राज्य था और यहाँ ही दैत्यों के शत्रु—मुरारि के हाथ से वह मारा गया। दैत्य भी ऐसा था कि जिसकी स्त्री पतिव्रता थी और उसी के प्रताप से जहाँ उसका रक्त गिरता वहाँ प्रतिबूंद एक जालन्धर उत्पन्न हो जाता। मुरारि ने किस विधि से उसका वध किया इसके लिखने की जरूरत नहीं। फिर जालन्धर में माण्डलिक हिन्दू राजे शासन करते रहे। मुसलमानों के समय में अदीनाबेग यहाँ का हाकिम रहा और अंग्रेजों ने इसे ज़िला बना लिया।

ज़िला जालन्धर के पूर्वी कोने पर शतद्रु (सतलज) नदी के किनारे तलवन एक उपनगर है। वही मेरी जन्मभूमि है। किसी समय जालन्धर दुआब में ढाई शहरों की गिनती हुआ करती थी—पूरा शहर 'तलवन', पूरा 'बिजवाड़ा' और आधा 'हदियाबाद'। अब ये तीनों स्थान केवल ग्राम की स्थिति में रह गये हैं। पुरानी कीर्ति के लिए उदारता और ब्याह-शादियों की करतूत की बदौलत मेरे जन्म के समय भी इनका कुछ मान था। अब तो जब से नापित अर्थात् नाऊ राजा के शासन से छुटकारा पाकर पुराने प्रसिद्ध कुलीन भी रिश्ते-नाते देख-भालकर करने लगे हैं

तब से इन शहरों की करतूतों का चमत्कार भी मद्धिम पड़ गया है।

तलवन में मेरा जन्म हुआ और पाधा जी ने जन्म-नाम बृहस्पति रखकर भी प्रसिद्ध नाम 'मुंशीराम' रख दिया। मेरे तीन भाई और थे तथा दो बहनें थीं। मैं सबमें सबसे छोटा, अपनी माता की अन्तिम सन्तान था। आयु के क्रमानुसार सब भाई-बहनों के ये नाम थे—(१) सीताराम, (२) प्रेमदेवी, (३) मूलाराम, (४) द्रौपदी, (५) आत्माराम, तथा (६) मुंशीराम।

तत्त्ववेत्ताओं ने दो प्रकार के संस्कार बतलाये हैं। पूर्वजन्म के संस्कार ही वर्तमान योनि के कारण होते हैं और उन्हीं के अनुसार बुरे वा भले माता-पिता भी मिलते हैं। उन माता-पिता के गुण-अवगुणों का विशेष प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। इनको पैतृक संस्कार कहते हैं। यद्यपि पैतृक संस्कार भी अपने पूर्वकर्मों के ही फल हैं तथापि इन्हें अलग समझकर जीवन के बहुत-से भेद खुल जाते हैं। इसलिए अपने कुल की कुछ विशेषताओं का यहाँ वर्णन करना असंगत न होगा।

जन्म तथा गुण-कर्म दोनों के विचार से मेरा कुल क्षत्रि (क्षत्रिय) कुल कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही वह भक्ति-प्रधान था। मेरे परदादा का नाम सुखानन्द था। वे सचमुच सुख और आनन्द की मूर्ति ही थे। मैंने अपने पिता जी से सुना था कि उनका चित्त हर समय प्रसन्न तथा उनके मुख पर शान्ति और कान्ति का मेल रहता था। पहले तो वह किसी पर क्रोध करते ही न थे, परन्तु यदि किसी व्यक्ति के दुर्व्यवहार पर उसको ताड़ना करते तो भी उनके मुँह से दुर्वाक्य कभी न निकलता। कहते तो क्या कहते—"स्याण्या ! क्यों धर्म तों डिग गिया है ?" अर्थात् "सयाने ! क्यों धर्म से गिर गया है ?" सबसे बड़ी गाली "सयाना" कहना था। लाला सुखानन्द के पाँच पुत्र थे—(१) लाला कन्हैयालाल, (२) हीरानन्द, (३) माणिकचन्द, (४) गुलाबराय, (५) महताबराय। लाला कन्हैयालाल राजा कपूरथला की ओर से पंजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में वकील (एलची) बनकर रहते थे। उनकी बात महाराजा रणजीतसिंह के यहाँ चलती थी। लाला कन्हैयालाल ने एक शिवालय बनवा दिया था जिसमें उनके पिता सुखानन्द जी रहते और वहीं नियमपूर्वक, दोनों समय शिवपूजा करते।

मेरे दादा लाला गुलाबराय भी हरिभक्ति में रत रहते थे। नित्य प्रातः ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठकर स्नान करते और सुखमणि तथा भगवद्गीता का पाठ करते। फिर कबीर तथा अन्य भक्तों के शब्द गाते रहते। कपूरथला में वे रानी हीरादेवी के मुख्तारकार थे और महाराजा नौनिहालसिंह के गद्दीनशीन होने पर जब रानी साहेबा अपने दोनों पुत्रों-(सर्दार विक्रमसिंह और कुँअर सुचेतसिंह)-सहित जालन्धर में आ बसीं तब मेरे दादा भी उन्हीं के साथ चले आये। उन्होंने महाराजा नौनिहालसिंह के दिये प्रलोभनों की परवा न की। गुलाबराय जी बड़े स्पष्टवक्ता थे। जिस समय वे ४ बजे स्नानादि से निवृत्त होकर पाठ आरम्भ करते और

पञ्चम स्वर में भजन गाते तो सर्दार विक्रमसिंह की नींद खुल जाती। तंग आकर उन्होंने एक दिन कहा—'लालाजी ! क्या आप परमेश्वर का नाम मन में नहीं ले सकते ?' उत्तर मिला—"मेरे मन में तो हरदम परमात्मा बसते हैं परन्तु जो मूढ़ भजन के अमृतवेला में बेहोश सोये रहते हैं उन्हें सचेत करने के लिए उच्च स्वर से भजन बोलता हूँ।"

ऐसे निर्भय वीर, ईश्वरभक्त के घर मेरे पिता, नानकचन्द का जन्म हुआ। वे अपने छह भाइयों में सबसे बड़े थे। छुटपन में ही शिवपूजा अपने दादा सुखानन्द से सीख, इन्होंने भी ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर पूजा आरम्भ कर दी थी। वह पूजा जो १४ वर्ष की आयु में आरम्भ हुई तो ५६ वर्ष की आयु तक (अर्थात् मृत्युपर्यन्त) बराबर चलती रही। मुँहफट ये भी अपने पिता की तरह ही थे। कपूरथला में थानेदार जी से वजीर दानिश्मन्द के साथ कड़ी बातचीत होने पर त्यागपत्र दे दिया। फिर सियालकोट में "ठग्गीडकैती" महकमे के "खजाञ्ची" का चार्ज लिया। वहाँ भी अंग्रेज हाकिम को खुली सुनाकर नौकरी छोड़ आये। फिर अमृतसर की तहसील में मुहासिब बने। शोभाराम लंगड़ा तहसीलदार था। उसपर घूस का मुकद्दमा चला। जहाँ सारी तहसील मौकूफ हो गई वहाँ मेरे पिता के विरुद्ध एक भी गवाह न खड़ा हुआ; परन्तु वे उदास हो, फिर त्यागपत्र देकर घर चले आये और कुछ दिन वहाँ ही पूजा-पाठ में लगे रहे। फिर लाहौर में जाकर चौकीदारों के बख्शी नियत हुए।

लाहौर जाने से पहले मेरे पिता, बिना एक पैसा दादा जी से लिये, सारे परिवार से अलग हो गये, केवल एक दालान और कोठरी लेकर माता जी को बच्चों समेत उसमें रख दिया। बड़ी बहन के विवाह की तैयारी थी और उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। लाहौर में वेतन इतना न था कि परिवार का गुजारा करते हुए अपनी पुत्री के विवाह पर करतूत से न गिर जाएँ। इधर विवाह में नाक कटने का डर और उधर संवत् १९१४ विक्रमीय का विप्लव, जिसे गोरों ने गदर की उपाधि दे रक्खी थी। पिता जी ने एक काने टट्टू पर जीन डालकर परमेश्वर का नाम ले, दिल्ली का रास्ता पकड़ा। भाग्य की सहायता से हिसार नगर की शहर-पनाह के अन्दर उस दिन प्रवेश किया जब बागियों ने गढ़ हिसार को घेर रक्खा था। एक सिक्ख सर्दार भी दो सौ सवारों का दस्ता लेकर उस सरकार की जड़ें भारतवर्ष में दृढ़ करने जा रहे थे जिसने कुछ वर्ष पहले ही पंजाब को दास बना लिया था। सर्दार साहब ने घोड़ों को शहरपनाह के अन्दर तीन चक्कर दिलाकर जो हमला किया तो बागियों के छक्के छूट गये और मेरे पिता जी ने एक चौधरी के घर ब्रह्मभोज का सामान बनता देख उसे इस बात पर राजी कर लिया कि पूरी, कचौरी, हलवा, भाजी, बना-बनाया पकवान नये जंगी बेड़े की भेंट कर दे ! सर्दार साहब तो रण में विजय प्राप्त करके लूटमाररूपी इनाम लेने के लिए दिल्ली चल दिये और पिताजी हिसार के बागी कोतवाल की 'जाल किरिच' सँभालकर बागियों

को फाँसी दिलाने के शुभ काम पर तैनात हुए। यहाँ रिश्वत की कमाई से न केवल पुत्री के विवाह के लिए पर्याप्त धन ही घर भेज दिया प्रत्युत घोड़े खरीद और अपने परिवार के २५ व्यक्तियों को रिसाले के छोटे अफसर बना, और ७५ जाटों को घुड़सवारी के लिए साथ लेकर, मेरठ पहुँच गये। वहाँ रिसालदार नियत होकर पहला शुभ काम यह किया कि तीन महीनों में सहारनपुर के सारे जिले के हथियार ले लिये और उस जिले के गले में सदा के लिए गुलामी का तौक पहिराकर नेपाल की तराई में मेलाघाट की लड़ाई का छापा जा मारा। वहाँ भी पूजा-पाठ न छूटा। नदी के पास ही कैम्प था। उसपर बागियों की बाढ़ दूसरे किनारे से फेंकी जाती थी, परन्तु रिसालदार साहब के लिए एक घड़ा पानी का गजरदम ही आ जाता था और वे नहाकर पूजा कर लेते। फिर कुछ खाकर दिन-भर के लिए कमर कसकर लैस हो जाते।

मेलाघाट पर विजय प्राप्त कर बेड़ा बाँसबरेली में आ पड़ा। वहाँ मिलिटरी पुलिस के सब रिसाले तोड़ दिये गये और मेरे पिता जी को अपने भाइयों और सम्बन्धियों सहित, सिविल पुलिस में नौकरी मिल गयी। मेरे पिता जी को कहा गया कि या तो १२०० बीघे भूमि इनाम में ले-लें अथवा पुलिस इन्स्पेक्टर का पद स्वीकार करें। अपने देश की लोकोक्ति है कि खेती उत्तम, व्यापार मध्यम और चाकरी सबसे निकृष्ट काम है। परन्तु जिस समय पिता जी के सामने दोनों इनाम रक्खे गये उस समय नौकरी से बढ़कर अन्य कोई भी प्रतिष्ठित काम नहीं समझा जाता था और फिर क्षत्रिय के लिए तो चाकरी हुकूमत की कलँगी समझी गयी थी। खेती तो रज़ील[१] पेशा समझा जाता था, फिर पिताजी ज़मीन कैसे कुबूल करते? इन्स्पेक्टर साहब बन गये और पुलिस लाइन्स का चार्ज ले लिया।

बालपन गया खेलकूद में

मेरी आयु तीन बरस की हो चुकी थी जब मेरी माता मुझे और मेरे दो भाइयों को साथ लेकर बरेली पहुँचीं। बरेली में तीन वर्ष खेलकूद में व्यतीत हुए। मेरे दोनों बड़े भाई तो मौलवी साहब से पढ़ने लगे, किन्तु मैं खुले मैदान घूमता और सारी पुलिस लाइन्स से लाड लड़ाया जाता रहा। पिता जी ने मुल्ला जी से ही सब-कुछ पाया था, अंग्रेजी शिक्षा का अभी नमूद[२] ही होने लगा होगा और बरेली का संस्कृत के साथ कुछ सम्बन्ध ही न था। मुसलमानी की वहाँ पूरी बादशाहत थी। मेरे भाई घोखते-घोखते थक जाते और मौलवी साहब के सामने फिर भी सबक (पाठ) पूरा न सुना सकते, मैं वही फट-फट सुना देता। पिता जी ने मुझे यह बतलाया था कि मैं उस आयु में भी पर्यायवाची शब्द जोड़कर अन्वय अपना बना लिया करता था। हम तीनों भाइयों के मनों और शरीरों की रक्षा करनेवाला कोई न था। मैं तो सचमुच खुदरो[३] वृक्ष की तरह स्वयं ही बढ़ता रहा। हाँ, एक

१. अधम, नीच, २. प्रकटीकरण, प्रारम्भ, ३. अपने-आप उत्पन्न होनेवाले।

दृश्य मुझे स्मरण है जो माता के अगाध प्रेम को ही प्रकाशित नहीं करता, प्रत्युत मातृशक्ति के स्वाभाविक विकास को भी प्रकट करता है।

सायंकाल का समय था। मेरे छोटे मामू जो पुलिस में ही सवार थे, होली का मेला देख शहर से लौटे आ रहे थे। घोड़ी अठखेलियाँ करती चली आ रही थी। मेरी दृष्टि उनपर पड़ी तो विचित्र दशा देखी। पगड़ी गले में लटक रही थी, शरीर एक ओर झुक रहा था। गिरने को ही थे कि एक भृत्य ने उन्हें उतार लिया, दो आदमी आश्रय देते हुए पिता जी की कोठी के आँगन में ले आये और चारपाई पर लिटा दिया। अन्य पुरुषों के बाहर जाते ही माता जी कमरे से निकलीं। भाई को विचित्र दशा में बेहोश देखा, चिकन जाली की कुड़ती और तनजेब का कुड़ता पारा-पारा है, पगड़ी धूल में लिपटी हुई है। मट्टी और होली के लाल रंग के मेल ने विचित्र दृश्य बना रक्खा है। प्रात: जो मुख कमल की तरह खिला हुआ था, वह अब कुम्हला ही न गया, डरावना भी प्रतीत होता है। हाथ-पैर चारपाई पर पटके जा रहे हैं। पान की राल मुँह से निकलकर दाढ़ी पर बह रही है और सारे शरीर से दुर्गन्ध फूट-फूटकर निकल रही है। माता जी ने बाहर आते ही शराबी के सिर पर पानी डलवाना आरम्भ किया। मैं भी चारपाई के पास खड़ा था। मुझपर दृष्टि पड़ते ही माता जी के मन का भाव बदल गया। मुझे झट गोद में उठा लिया और घबराकर नौकर से कहा—"इसे क्यों यहाँ आने दिया ?" भृत्य अभी उत्तर देने को ही था कि वे मुझे बगल के कमरे में ले गयीं और प्रयत्न करती रहीं कि मैं उस दृश्य को भूल जाऊँ। मैंने कुछ प्रश्न भी किया था जो स्मरण नहीं रहा, परन्तु माता जी ने मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचकर खेल में लगा दिया।

माता जी सर्वथा अनपढ़ थीं, शिशुपालन तथा आचार-शास्त्र की शिक्षा उन्हें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु मातृशक्ति के अन्दर जो स्वाभाविक अगाध प्रेम परमात्मा ने उत्पन्न किया है, उसने उन्हें अपनी सन्तान की रक्षा का ज्ञान दे रक्खा था। आज उस समय का स्मरण करके मन-ही-मन मैं पश्चात्ताप करता हूँ कि माता की विद्युत्‌रूपी स्वाभाविक शिक्षा को दो अक्षर पढ़ लेने के अभिमान में फँसकर मैंने अपने आगे के जीवन में क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखा ?

बरेली से एक दर्जा उन्नति पाकर मेरे पिता बदायूँ बदल गये। वहाँ भी मुझे तीन वर्ष रहना पड़ा। स्वच्छन्द घूमने की यहाँ भी स्वतन्त्रता थी। मुझे याद है कि पिता जी के साथ अकेला ही होने के कारण जब दिन को वे कचहरी में कोर्ट-इन्स्पेक्टर के काम पर चले जाते तो मैं भी कचहरी की गश्त लगाता था। फौजी सलाम मैंने बरेली में ही सीखी थी। सब रिश्तेदार तथा मुहर्रिर उसी सलाम की फरमाइश करते और पुरस्कार में मुझे कागज और कलम देते। कलम मुझे बनी-बनायी मिलती थी और मसीपात्र (दवात) घर से लेकर कागज पर लिखते रहना मेरी आदत हो गयी थी। एक दिन पिता जी ने मुझे संजीदगी से एक पुस्तक की

जिल्द पर कागज रखकर लिखते देख मेरा कागज का सारा कोष छान मारा। उन्हें आश्चर्य हुआ जब उन्होंने फारसी हरूफ बने हुए पाये। "अरे! यह कहाँ से सीखा?" जब पास ही "करीमा" और "खालिक बारी" के पन्ने-पन्ने अलग देखे तो मालूम हुआ कि मक्खी-की-मक्खी मारते हुए मैं डारविन के सिद्धान्त का क्रियात्मक प्रमाण दे रहा हूँ, और मनुष्य की नकल करनेवाले बन्दर की औलाद होना सिद्ध कर रहा हूँ।

बदायूँ में कोर्ट-पुलिस इन्स्पेक्टर को बहुत काम करना पड़ता था। यह लोकोक्ति उस समय प्रसिद्ध थी—"पाँव बदौआँ लीजे साथ, तब करिये झगड़े की आस"। बदायूँ के जात शरीफ दूर-दूर के मुकद्दमे लड़ाते थे, फिर अपने जिले में तो उन्होंने ऊधम मचा ही रक्खा होगा। ब्रिटिश राज्य के पहले रुहेलखण्ड-निवासी रुहिल्ले युद्ध में निपुण थे और उनका असर कायस्थ और बनियों तक पर पड़ चुका था। सरकार अंग्रेजी ने उनका ध्यान मुकद्दमेबाजी की ओर खींच दिया। तब हाकिम उनसे निश्चिन्त हो गये। लाहौर जिले की प्रथम बन्दोबस्त की रिपोर्ट में भी मैंने यही लिखा देखा था। मोहतमिम बन्दोबस्त ने परमेश्र का धन्यवाद किया था कि लड़ाकू सिक्ख जाटों की कौम मुकद्दमेबाजी में मग्न हो रही है, इसलिए उनसे कोई भय नहीं रहा।

बदायूँ से शायद संवत् १९२२ के अन्त में मेरे पिता की तब्दीली, एक दर्जा उन्नति के साथ, काशी (बनारस) के जिले में हो गयी।

काशी में प्रथम एक वर्ष का निरंकुश जीवन

काशी में पहुँचकर पहला अनुभव छूतछात के भूत का हुआ। मेरे पिता जी विज़िटिंग पुलिस इन्स्पेक्टर थे। उनका काम काशी नगर से बाहर के थानों का निरीक्षण और उधर के ही बड़े फौजदारी मुकद्दमों की तहकीकात करना था। कर्त्तव्य-पालन के लिए उन्हें प्रायः शहर से बाहर रहना पड़ता था। मकान बड़ा था, इसलिये माता जी ने एक पंजाबी परिवार को बिना किराये पर बसा लिया। उस परिवार की गृहपत्नी का नाम निहालदेवी था। उसने काशी से छूतछात की नई शिक्षा ली थी। मेरे और मेरे बड़े भाई का नाक में दम कर दिया। पूस-माघ का जाड़ा और हमें हुकुम था कि सर्वथा नग्न होकर शौच जाएँ और नहाकर धोती पहिरें। यदि पैर मोरी पर पड़ गया तो फट नहाने की आज्ञा, यदि चलते-फिरते कहीं छींटा पड़ गया तो कपड़े धो डालने का नादिरशाही हुकुम! एक दिन सायं-काल खेलते-कूदते मेरा पैर एक मट्टी के चिराग की ठीकरी से छू गया। निहालदेवी ने शोर मचा दिया "छू गया, छू गया! नहलाओ, नहलाओ!" माता जी कोई बड़ी आपत्ति समझकर दौड़ी आयीं। पूछने पर निहालदेवी ने कहा कि "चिराग कउआ लेकर उड़ा होगा। उससे छूटकर गिरने पर ही तो ठीकरी-ठीकरी अलग हो गयी,

इसलिए नहाना आवश्यक है।" गरम पानी करके मुझे नहला तो दिया परन्तु माता जी ने दूसरे दिन ही निहालदेवी को दूसरे घर में चले जाने के लिए बाधित किया।

वह बड़ा मकान छोड़ माता जी लाहौरी टोले के एक मकान में जा रहीं। यह मकान बड़ा हवादार, चारों ओर से खुला हुआ था। काशी में शेष ढाई बरस उसी मकान में व्यतीत हुए। मैं अभी तक नियमपूर्वक पढ़ाई में नहीं लगा था, सुना-सुनाया, कण्ठस्थ करने से ही काम था। एक दिन पिता जी मामले की रिपोर्ट लिख रहे थे। मैंने शोर मचाया। पिता जी ने झिड़क दिया। मुझे बहुत बुरा लगा। सीढ़ी में चढ़नेवालों के सहारे के लिए रस्सी लग रही थी। मैंने गले में रस्सी डालकर धमकी दी कि फाँसी ले-लूंगा। पिता जी ने एक थप्पड़ लगाया और रस्सी से छुड़ाकर घसीट लाये। यह पहला ही अवसर था कि मुझ लाडले को किसी ने मारा हो। रोते-रोते मेरी घिग्घी बँध गयी। माता जी ने बाहर से आकर गोद में ले-लिया। जो सुख उस समय मिला उसका वर्णन कोई कवि ही कर सकता है।

'गुरु बिन ज्ञान न पाये भोला चेला'
पठन-पाठन का आरम्भ

अबतक जो कुछ सीखा, निगुरा रहकर ही सीखा था। —उस वैरागी की तरह जिसने "सारी गीता रगड़ मारी और गुरु एक न बनाया।" मैंने भी जहाँ पंजाबी स्त्रियों के मुख से "काशी महातम" सुनकर उसे कण्ठ कर लिया था, वहाँ पिता जी के नित्य-पाठ के स्तोत्रों के कुछ भाग भी कण्ठस्थ कर छोड़े थे, परन्तु संवत् १९२३ के आरम्भ में मुझे यज्ञोपवीत पहिराने का विचार चला। उसमें एक कठिनाई बाधक प्रतीत हुई।

गुरुकुलों की प्रथा तो हजारों वर्षों से बन्द हो चुकी थी, यज्ञोपवीत-संस्कार का नाटक ही रह गया था। फिर भी जब यज्ञोपवीत पहिराया जाता था और वेदारम्भ की विधि भी हो चुकती तो ब्रह्मचारी कोपीन-दण्ड धारण करके भिक्षा ले काशी पढ़ने के लिए जाने की तैयारी करता। उस समय बहन की आवश्यकता पड़ती। नवीन ब्रह्मचारी जब कहता कि मैं काशी पढ़ने के लिए जाऊँगा तो बहन बाँह पकड़कर कहती—"भाई, तुझे यहाँ ही पढ़ा लेंगे" और भाई इतने पर लौटता और उसी दिन उसका समावर्तन संस्कार भी हो जाता। परन्तु मेरी सगी बहन काशी में एक भी न थी। एक धर्म की बहन बनायी गयी। काशी में तो मैं रहता ही था, तब वहाँ से विद्योपार्जन के लिए कहाँ जाना था। मुझसे कहलाया गया कि काश्मीर पढ़ने के लिए जाता हूँ। काशी और काश्मीर दोनों ही विद्या के केन्द्र समझे जाते थे। बहन लौटा लाई। पिता जी ने इतना हौसला दिखाया कि समावर्तन की विधि न करवाई और एक पण्डित को पढ़ाने के लिए

नियत करके देवनागरी अक्षरों का अभ्यास और आर्यभाषा की पढ़ाई आरम्भ करा दी। इन्हीं दिनों पिता जी को शिवपूजा करते देखकर हम दोनों भाई एक मन्दिर से शिवलिंग उठा लाये और पिता जी के अनुकरण में स्नान कराके उसपर पुष्प, बेलपत्र चढ़ाने, और धूप-दीप और नैवेद्य देवार्पण करने लग गये। पण्डित महाशय ने हमें किसी नियम में न रक्खा। पिता जी कहीं रात की गश्त में एक विद्यार्थी को खूँटी में चोटी बाँधकर पढ़ते देख आये। विद्यार्थी ने पूछने पर बतलाया कि जब उसको ऊँघ आ जाती है तो चोटी पर झटका लगते ही जगकर वह फिर पढ़ने लग जाता है। तब पिता जी ने हमें हिन्दी पाठशाला में भरती करा दिया। नैत्यिक पाठ तो मैं पाठशाला में ही समाप्त कर आता और घर में आकर पिता जी की तुलसीकृत रामायण ले बैठता। सवा-डेढ़ वर्ष तक पढ़ाई का यह क्रम चला और फिर मेरे पिता जी की बदली जिला बाँदा (प्रान्त बुन्देलखण्ड) को हो गयी। काशी से बाँदा को प्रस्थान करने से पूर्व दो विशेष घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक है जिन्होंने मेरे जीवन के भविष्य पर बड़ा प्रभाव डाला था।

उसमें से पहली देशभक्त डाकू संग्रामसिंह का दर्शन था। संग्रामसिंह बनारस जिले के एक ग्राम का साधारण कृषिकार था और साधारण जीवन व्यतीत करता था। उसकी अनुपस्थिति में पुलिस ने उसके घर की तलाशी ली और उसकी धर्मपत्नी का सतीत्व नष्ट करने की चेष्टा की। राजपूत ने घर लौटकर सब हाल सुना तो पुलिस के बड़े अफसर के पास फरयादी गया। यहाँ उसके साथ भी पिशाचत्व का बर्ताव हुआ। राजपूती खून जोश में आया, पुरानी छिपाई हुई तलवार निकाल पहले निरपराधिनी अर्द्धांगिनी को सदा के लिए बदनामी से बचाकर संग्रामसिंह ने जंगल की राह ली। तलवार का स्वयं धनी था, उसके साथ दूसरा राजपूत हाथीसिंह मिल गया जिसका बन्दूकी निशाना कभी खाली नहीं जाता था। जनरल संग्रामसिंह और कप्तान हाथीसिंह के साथ बीस-पच्चीस सिपाही और हो लिये और संग्रामसिंह एक छोटी-सी सेना का सेनापति हो गया।

संग्रामसिंह के विषय में उसी प्रकार की लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हो गयीं जो देशभक्त डाकुओं के विषय में अंग्रेजी इतिहास तथा उपन्यास की पुस्तकों में मैंने दूसरी बार काशी में आकर पढ़ी थीं। अमीरों को लूटने और निर्धनों को आर्थिक सहायता देने की कहानियाँ प्रसिद्ध थीं। वेश्याओं को नाच दिखाने की आज्ञा हुई, तो बहली पर साज-समाज लादकर वे चल दीं और जंगल में मंगल हो गया। बनारस, जौनपुर और आजमगढ़ के जिलों में संग्रामसिंह ने ऊधम मचा दिया। तब तो अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेंडेण्ट ने १५० हथियारबन्द सेना लेकर उस स्थान के गिर्द बड़ा घेरा डाल दिया जहाँ संग्रामसिंह की स्थिति सुनी थी और स्वयं दो अर्दली साथ लिये घोड़े पर धीमी चाल से जाने लगे। अकस्मात् दो आदमियों ने दोनों अर्दलियों को दबा लिया और तीसरे ने साहब बहादुर को घोड़े से नीचे फेंककर पिस्तौल दिखाई।

—१

साहब ने डर के मारे घड़ी, जंजीर, नोट, रुपये सब-कुछ डाकू को भेंट कर दिये। तब डाकू ने जीन के कबूलों में धरे पिस्तौल के जोड़े को सँभालकर सलाम किया और कहा—'संग्रामसिंह को पकड़ने ऐसी असावधानी से न आया करो !' स्वतन्त्र होकर सुपरिंटेंडेण्ट साहब ने जो घोड़े को एड़ दी तो अपने बँगले पर पहुँचकर ही दम लिया।

अब शहर बनारस पर डाकुओं के आक्रमण होने लगे। शहर कोतवाल एक राजपूत, आलमसिंह नामी था। उसने डींग मारी कि एक मास के अन्दर ही संग्रामसिंह को पकड़कर साहब मजिस्ट्रेट के हवाले कर देगा। संग्रामसिंह को पता लग ही जाना था। चार-पाँच दिन पीछे कोतवाली के बोर्ड पर संग्रामसिंह का इश्तहार लग गया। आलमसिंह को सम्बोधन करके लिखा था—'अब हमारे धावे काशी नगर पर ही हो रहे हैं। चन्द्रग्रहण का स्नान करने भी आऊँगा। यदि क्षत्रिय के वीर्य से है तो सामने होना !'

कुछ दिन पीछे चन्द्रग्रहण का नहान था। अपनी माता को गंगा नहलाने के लिए संग्रामसिंह ने दो साथियों समेत मणिकर्णिका घाट का रास्ता लिया। माता को नहला और दोनों साथियों की रक्षा में चलता करके आप उस स्थान की ओर बढ़ा जहाँ आलमसिंह कोतवाल, रिजर्व पुलिस समेत, प्रबन्ध के लिए बैठा था। आलमसिंह के लगाये पहरे व्यर्थ गये, क्योंकि एक देहाती कम्बल ओढ़े आलमसिंह की ओर बढ़ा और चेहरा कम्बल से बाहर निकाल, बोला—'देख ! संग्रामसिंह स्नान करके जा रहा है।' आलमसिंह चौंक उठा और कुछ बोलने को ही था कि संग्रामसिंह की छुरी बिजली-सी चमक गयी। आलमसिंह घबराकर पीछे हटा और संग्रामसिंह भीड़ में अन्तर्धान हो गया—'दौड़ियो, पकड़ियो ! वह गया, वह गया !' अब शोर मचाने से क्या होता था ! बाज तो उड़ गया।

अन्त को जब पुलिस के आने-जाने से साधारण मार्ग भी बन्द होने लगे तो तीन जिलों में नई पुलिस भर्ती करके हजारों पुराने जवानों द्वारा सब रास्ते घेर लिये गये। मेरे पिता भी एक स्थान पर, बहुत-सी पुलिस समेत, नाकाबन्दी किये बैठे थे। पाँच दिन नदी के पानी में घूमने के पीछे संग्रामसिंह पाँच-छह साथियों समेत कुछ भोजन लेने को निकला। उसका एक आदमी पिता जी के हाथ लगा। उससे पता पाकर पुलिस गिरफ्तारी को बढ़ी। संग्रामसिंह आदि एक चमार की झोपड़ी में घुस गये। झोपड़ी को आग लगाई गई। बहादुर राजपूत बाहर निकला। पानी की नमी से बारूद काम का न रहा। बन्दूक रंजक चाट गयी। तलवार खींची तो मियान से बाहर न निकली। इधर पुलिस ने गोलियों की बाढ़ें झोंकनी शुरू कर दीं। पाँचों साथी गिर गये। संग्रामसिंह ने बन्दूक उलटी पकड़कर उससे लाठी का काम लिया। तीन-चार सिपाही आन की आन में बिछा दिये और पिता जी के घोड़े की गर्दन पर ऐसी चोट लगाई कि जानवर बहुत पीछे हट गया। पिता जी ने पहले अकेले पर गोली

चलानी बन्द करा दी थी, अब अपने क्षत्रियत्व के भाव को भूलकर फिर बाढ़ झुंकवा दी। संग्रामसिंह २४-२५ गोलियाँ खाकर गिर गया और उसे बाँधकर बनारस के अस्पताल में ले आये। प्रसिद्ध है कि जब अंग्रेज सिविल सर्जन (बड़े डॉक्टर) ने उसके पच्चीस घाव देखे और कहा कि अन्त को तू पकड़ा गया तो वीर क्षत्रिय ने उत्तर दिया—'इस प्रकार पकड़ना बहादुरी नहीं, मेरे हाथ में एक तलवार दे दे और मेरे सम्मुख २० आदमी खड़े करा दे, फिर देखूँ मुझे कौन पकड़ता है !' साहब बहादुर उसकी कड़क से आश्चर्यचकित हो गये। फाँसी तो मिलनी ही थी, परन्तु उसे यमपुर पहुँचाकर भी हिन्दुस्तानी पुलिस अफसरों को शोक ही हुआ। एक तो चारपाई पर लेटे हुए संग्रामसिंह के दर्शन मुझे स्मरण हैं जिसे दूसरी बार काशी पहुँचकर मैं याद किया करता था।

दूसरी घटना एक नास्तिक जादूगर से मेरी रक्षा थी। काशी में प्रसिद्ध हुआ कि एक वेद-शास्त्र का ज्ञाता बड़ा नास्तिक आया है, जिसके दोनों ओर दिन में मशालें जलती हैं ! जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है उसके तेज से दब जाता है। मुझे भली प्रकार याद है कि माता जी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थीं—इस भय से कि कहीं हम दोनों भाई जादूगर के फन्दे में न फँस जाएँ। पिता जी ने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्धि अवधूत दयानन्द की थी। माता जी को क्या मालूम था कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जाएगा !

बाँदा में तीन वर्ष और रामभक्ति का मधुर रस

बाँदा में पहुँचकर हमारी शिक्षा का माध्यम बदल गया। बड़े भाई ने मियाँ जी से फारसी हरूफ सीखे हुए थे। मैं 'अब्जद'[1] से निरा कोरा ही था, केवल हिन्दी लिखना-पढ़ना जानता था। बाँदा के स्कूल में हिन्दी की प्रतिष्ठा न थी ; उर्दू बेगम का ही राज था। उस समय केवल छह श्रेणियों में मिडल शिक्षा विभक्त थी। भाई तो दूसरी कक्षा में प्रविष्ट हुए और मैं पहली के ही विभाग के योग्य समझा गया। एक तो लिपिभेद और दूसरे बाँदा की झोपड़ियाँ काशी के प्रासादों की याद दिलाती थीं। परन्तु तीन महीनों के पीछे ही मिडल की आठ कक्षाएँ बन गयीं, तब मेरे भाई तो द्वितीय में ही रहे और मैं तीसरी के योग्य समझा गया।

पाठशाला गया। तुलसीकृत रामायण के अतिरिक्त देशभाषा पद्य में महाभारत का अनुवाद भी पढ़ा करता और छुट्टी के दिन युद्ध के पर्व प्रायः समाप्त कर देता था। 'रामचरितमानस' से बुद्धू भक्त द्वारा अधिक प्रेम उत्पन्न हुआ। मेरे पिता अबतक शिवपूजा ही करते थे, परन्तु बाँदा में उनका सत्संग एक ऐसे रामभक्त से हुआ जिसने उनकी काया ही पलट दी। मैं बीमार हुआ, लोगों ने वैद्य बुद्ध भक्त की

१. अलिफ, बे, जीम, दाल—अरबी अक्षरों का विशेष क्रम।

प्रशंसा की। भक्त जी बुलाये गये। मैं रोग से मुक्त हुआ और भक्त जी हमारे परिवार के प्रामाणिक वैद्य बन गये।

बुद्धू भक्त जात के बनिये थे। उनकी कहानी विचित्र है। पहले वह बड़े चालबाज और जालसाजों के पुश्तपनाह[1] थे। बीसियों मुकद्दमे लड़ाये और सैकड़ों झूठे गवाह बनाये। अन्त को एक बार रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा सुनकर हृदय में अनुताप का भाव उत्पन्न हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी के हृदयवेधक शब्द काट कर गये और बुद्धू 'सेसर'[2] बुद्धू भक्त बन गया। कौड़ी बेचने की दुकान खोलकर आजीविका कर ली, चिकित्सा बिना पुरस्कार लिये आरम्भ कर दी और नित्य रात को रामायण की कथा का प्रारम्भ कर दिया।

भक्त जी की भव्य मूर्ति अवतक आँखों के सामने फिर रही है। कुछ लम्बा-दुबला बदन, चमड़े पर आबनूस का-सा स्याह रोगन और पगड़ी श्वेत। क्या यह मूर्ति आकर्षण करनेवाली है? परन्तु आँखों का तेज और लबों पर निरन्तर मुस्कराहट जले-से-जले दिल को भी शान्त कर देते थे। नित्य रात्रि को भक्त जी उच्चासन पर बैठकर रामायण खोल लेते। संगत में झाँझ, मृदंगादि लेकर चमार और द्विज एक आसन पर बैठते। चाहे क्षत्रिय पुलिस इन्स्पेक्टर हो, चाहे ब्राह्मण डिपुटी कलेक्टर—सबको एक ही चटाई पर बैठना पड़ता था। पहले मंगलाचरण का एक भजन होता, फिर दोहासहित एक चौपाई गाई जाती और अन्त में भक्त जी एक चौपाई को स्वरसहित कहकर उसके अर्थ करते और अन्य रामायणों के प्रमाणों से उसका समर्थन करते। वीररस के प्रसंग में जहाँ श्रोताओं के हृदय बल्लियों उछल पड़ते, वहाँ करुण रस के आते ही अश्रुधारा बहने लगती।

बुद्धू भक्त के सत्संग का पिता जी पर तो यह प्रभाव पड़ा कि दिनभर पुलिस-आफीसर का कर्त्तव्य-पालन करते हुए अपराधियों को गिरफ्तार करते और पुलिस-डायरी तैयार करने के पीछे रात को अपराधी और फरियादी, थानेदार और जमादार, सिपाही और खलासी सबको एक आसन पर बैठाकर रामायण की कथा सुनाते थे और कभी-कभी यह कथा मुकद्दमा साफ करने का साधन भी बन जाती। मुझपर इस सत्संग का प्रभाव अबतक वैसा ही है। अब बाँदा में प्रत्येक आदित्यवार को हनुमानचालीसा का एक टाँग के भार खड़े होकर सौ बार पाठ करने के पीछे नमक-शून्य भोजन करता था। वहाँ सनीचर को स्कूल से लौटकर जो बालकाण्ड का आरम्भ करता तो आदित्यवार की रात तक लंकाकाण्ड की समाप्ति कर देता।

बाँदा का एक सब-डिविजन 'करवी' था। उसी के इलाके में चित्रकूट का पर्वत है, जिसका राम-जीवन के साथ चौदह वर्ष वनवास में बड़ा सम्बन्ध रहा है। करवी में पुलिस का एक अंग्रेज असिस्टेण्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट इञ्चार्ज रहता था। वह छह महीने की छुट्टी पर गया। पिता जी उसके स्थानापन्न होकर गये। इस प्रकार मुझे

१. सहायक, २. जालसाज़।

चित्रकूट के सारे दृश्य देखने और करवी के पुराने मरहठा राजा के महलों में निवास का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ परन्तु पढ़ाई में विघ्न पड़ गया। छह महीने में एक श्रेणी पिछड़ जाना पड़ा।

बाँदा जिला में पिता जी तीन बरस तक रहे। इस अन्तर में दो बार वह करबी भेजे गये और दोनों बार जहाँ मेरा साधारण अनुभव बढ़ा वहाँ कितनी बार पढ़ाई में विघ्न पड़ते रहे।

मिर्जापुर में पाँच मास और विन्ध्यवासिनो के दर्शन

बाँदा से बदलकर मेरे पिता फाल्गुन संवत् १९२८ वि० में मिर्जापुर पहुँचे। बाँदा से मैं अकेला पिता जी के साथ शिक्रम की सवारी से फतेहपुर (हसवा) की ओर चल पड़ा। फतेहपुर पहुँचकर रेलगाड़ी पर चढ़ना था। मार्ग में ही रात हो आई। फतेहपुर दस मील रह गया था, जब घोड़े ने चलने से जवाब दे दिया। कोच-वान और साईस घोड़े बदलवाने ग्राम में चले गये। पिता जी सड़क पर टहलने लगे और मैं शिक्रम के अन्दर ही पड़ा रहा। अकस्मात् पास के खेत से कुछ लट्ठबन्द निकले। पिता जी के हाथ में पिस्तौल थी; फायर कर दिया और मुझे पुकारा कि दो-नाली बन्दूक उन्हें दे दूँ। मैं उठा तो डरता हुआ, परन्तु पिताजी को बारूद और छर्रा देते और उनकी बन्दूक की बाढ़ का शब्द सुनते-सुनते डरकर भाग गया। डाकू भाग गये और घोड़े आते ही शिक्रम चल पड़ी। यहाँ से ही बन्दूक चलाने का शौक हुआ। मिर्जापुर में पहुँचते ही चैत्र के नवरात्र में विन्ध्यवासिनी देवी का मेला था। पिता जी का खेमा विन्ध्याचल पर जा लगा और मैं उनके साथ ही मेले का आनन्द लूटता रहा। पढ़ाई में यह भी विघ्न था, पर अनुभव-घड़ा भी बढ़ा। उसी स्थान में पिता जी के अर्दली सार्जण्ट जोखू मिसिर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढ़ते उनमें से सात की सिरियाँ मिसिर जी की पेट-पूजा के लिए भेंट में आतीं। सात बकरों के सिर मुफ्त, कण्डों (उपलों) की आग मुफ्त, मिट्टी की हँडिया मुफ्त, नमक व हल्दी भी मुफ्त। हाँ, पावभर चून (आटा) मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे, सातों सिरियों का सफाया करके शेष थाली पावभर चून की लिट्टी से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूँदड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हँडिया पकते-पकते पिता जी का नौकर चिमटे से चिलम में आग धर लाया। मिसिर जी आग-बबूला हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले—"अरे सरकार! हम अपना धरम कबहूँ नाहीं छोड़ा। अरे! झूठ बुआला, जुआ खेला, गाँजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिसवत लिहा, चोरी-दगाबाजी किहा, कौन फन-फरेब बाटै जौन हम नाहीं किहा, मुल सरकार! आपन धरम कबहूँ नाहीं छोड़ा।" सरकार तो मुस्कराके चल ही दिये और मेरे पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये।

जोखू मिसिर का मामला तो मनोरंजक था, परन्तु थाने की छत से जो एक

राजा को स्त्री नग्न करके देवी की पूजा करते देखा—उस दृश्य ने मुझे ऐसे धनाढ्य पुरुषों से बड़ी घृणा दिलाई।

मिर्जापुर में पहला महीना तो देवी-दर्शन की भेंट हुआ, फिर गवर्नमेण्ट स्कूल की तीसरी श्रेणी में प्रविष्ट हुआ। उर्दू और कुछ फारसी तो पढ़ ही रक्खी थी, मिर्जापुर में 'अरबी' इख्तियारी मजमून[1] लेकर 'फायलातुन'[2] की टाँग भी तोड़ डाली। परन्तु अभी 'अरबी' के उच्चारण के लिए गला तैयार ही कर रहा था कि श्रावण संवत् १९२८ के आरम्भ में मेरे पिता जी अव्वल दर्जे के इन्स्पेक्टर बनाये जाकर और १००) मासिक विशेष वेतन म्युनिसिपैलिटी से इसके अतिरिक्त प्राप्त कर, काशी—बनारस को बदल गये और वहाँ जाकर उन्होंने पण्डित रघुनाथ प्रसाद कोतवाल[3] के स्थान में शहर की कोतवाली का चार्ज ले-लिया।

काशी में दूसरी बार और हुकूमत की बहार

अवध रुहेलखण्ड रेलवे का उन दिनों नमूद[4] भी न था, न राजघाट का पुल ही बँधा था। माता जी को पवित्र काशी-निवास की उत्कट इच्छा थी। मिर्जापुर से मुगलसराय पर गाड़ी बदली, छोटी लाइन पर दूसरी गाड़ी में बनारस स्टेशन पर पहुँचे। प्रातःकाल का सुहावना समय···थोड़ी फुहार पड़ रही···कोतवाल साहब के लिए सुन्दर बजड़ा···छती हुई नाव तैयार···उसकी ओर चलते हुए गंगा के दूसरे पचमंजिले-सतमंजिले तक मकान-पर-मकान चढ़े हुए और सबसे आगे माधोदास के धरहरे के मीनार—वह काशी का प्रथम दृश्य कौन भूल सकता है!

दूसरे पार जलसाईं घाट पर बजड़े ने लंगर डाला और हम सब उतरकर मणि-कर्णिका घाट पर स्नान के लिए चले गये। सामान डेरे पर पहुँचा और ब्रह्मनाल मुहल्ला के पास रियासत कपूरथला की धर्मशाला में आसन जमा। कुछ काल पीछे ब्रह्मनाल में ही एक खुला चौमंजिला मकान किराये पर लेकर पिता जी ने परिवार उसमें रख दिया।

काशी के देवमन्दिरों, घाटियों, गंगापुत्रों, गुण्डों और चाइयों आदि के विशेष गुण-वर्णन की यहाँ जरूरत नहीं है, क्योंकि आज कोई भी पढ़ा-लिखा इन बातों से अनभिज्ञ नहीं है। मन्दिरों की भरमार का अन्दाजा इसी से लग सकता है कि काशी में "जेते कंकर तेते शंकर" प्रसिद्ध हैं। जिस कपूरथला धर्मशाला में हम टिके थे उसमें दो शिवलिंग स्थापित थे। एक का नाम रामजसेश्वर और दूसरे का नाम मथुरेश्वर—दोनों कपूरथला के बाप-बेटा, दीवानों के नाम से प्रसिद्ध थे।

---

१. ऐच्छिक विषय, २. अरबी शब्दों की रूपावली।
३. यही कोतवाल रघुनाथप्रसाद स्वामी दयानन्द के प्रथम काशी-शास्त्रार्थ में उपस्थित थे। —सम्पादक
४. चिह्न।

काशी के उस समय के आचार-व्यवहार का खुलासा एक लोकोक्ति के अन्दर बन्द कर दिया गया था, जिसके लिखने की आवश्यकता होगी—

राँड, साँड, सीढ़ी, संन्यासी,
इनसे बचै सो सेवे कासी ।

काशी में हिन्दू प्रायः अपनी आयु का अन्तिम भाग बिताकर मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा से जाते थे, क्योंकि **"काश्यां मरणान्मुक्तिः"** उक्ति प्रसिद्ध थी। गद्दी से निराश होकर और रईस पुत्रों को सम्पत्ति सौंपकर इसी स्थान में पहुँचकर कहा करते थे कि—

चना चबेना गंगाजल जो भेजै कर्तार।
काशीपुरी न छोड़िए विश्वनाथ दर्बार ।।

परन्तु व्यभिचारी लोग राँडों को भगाकर भी काशीपुरी में ही डेरा लगाते थे। एक ओर बंगाल और दूसरी ओर पंजाब, पूरब और पच्छिम जहाँ से भी कोई व्यभिचारी पुरुष किसी स्त्री के सतीत्व को दाग़ लगाता वह उसे लेकर सीधा काशी पहुँचता और काशी पहुँचते ही उनको ऐसी मुक्ति प्राप्त होती कि वे अपनी बिरादरी में मिल-जुल जाते। इनके अतिरिक्त बिगड़ी हुई विधवाओं और अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों से बहुत भय रहता था। इनसे बचकर ही हरि-भजन होना सम्भव था।

दूसरे, साँडों की भरमार से बहुत भय रहता था। जिस पुरी के राजा विश्वनाथ का वाहन नन्दीगण था, उसमें साँड छोड़ना बहुत ही पुण्य समझा जाता है। आँख बन्द करके चलनेवालों की अकालमृत्यु का भी भय रहता था।

तीसरे, सीढ़ियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। दृष्टि को सचेत करके न चला जाय तो पग-पग पर गिरकर चोट खाने का भय! प्रत्येक दस कदम के पीछे दो-तीन सीढ़ियाँ उतरने वा चढ़ने को मौजूद! काशी ठहरी शिव के त्रिशूल पर बसी हुई, नीचे सारा पोल और ऊपर पत्थर का फर्श। आँख को ऊँचाई-निचाई दिखाई भी तो नहीं देती। एक बार गिरे तो महीनों तक गंगास्नान और विश्वनाथ के दर्शन से वंचित रहना पड़ता। और—

चौथे, सबसे बढ़कर काशी-सेवा में बाधक उस समय के संन्यासी थे। विस्तार में यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु एक और लोकोक्ति से उनका सारा आचार समझ में आ जाएगा—

जगत-गुरु ब्राह्मन, बाह्मन-गुरु संन्यासी, संन्यासी-गुरु चपरासी ।

यदि पाठक कल्पना कर लें कि चपरासी किस श्रेणी के मनुष्यों के गुरु हो सकते हैं, तो समझ में आ जाएगा कि किस प्रकार संन्यासी स्त्रियों और पुरुषों के भजन में भंग डाल सकते थे।

काशी पहुँचकर कुछ महीनों के लिए मेरा पढ़ना-लिखना फिर बन्द हो गया।

काशी की कोतवाली एक नव्वाबी समझी जाती है। तहसीलदार आते और जाते हैं, कमिश्नर और कलक्टर भी बदलते रहते हैं, अहलकारों के सिवाय कानों-कान भी किसी को खबर नहीं होती कि कौन आया और कौन गया, परन्तु कोतवाल का बदलना क्या है, एक विप्लव आ जाता है। अमीर से गरीब तक और महात्मा, साधु, ब्राह्मणों से लेकर लुच्चे-बदमाशों तक सब नर-नारी कोतवाल के बदलने से प्रभावित होते हैं। नरमदिल, न्यायकारी कोतवाल आया तो उसकी प्रशंसा के गीत बन जाते और यदि कोई अत्याचारी उस 'मसनद' पर बैठ गया तो स्त्रियाँ भी गाने लगतीं—

'कैसे खेलौं रे कजरिया आये नये कुतवाल।'

वर्षाऋतु में काशी पहुँचना हुआ। कजरी का गाना जोरों पर था, और हम दोनों भाई नवाबजादे। कोतवाल के द्वार पर रईसों की बग्घियाँ, फिटनादि हर पल खड़ी रहतीं। फिर क्या था! नित्य नये मेलों में जाना ही एक काम था। कहीं लोलार्क छट, कहीं दुर्गादेवी (जिसे अंग्रेज 'मंकी टेम्पल' कहते हैं) के दर्शन, कहीं गौनहारियों के नाच—विचित्र समाँ बँधा रहता था। और फिर श्राद्धों के दिनों पूरी, सुहारी, और अनेक व्यंजनों के साथ फलों का स्वादिष्ट भोजन! पितरपक्ष चल बसा तो रामलीला की सैर में २० दिनों से अधिक व्यतीत हो गये। काशी में वैसे तो कई स्थानों में रामलीला मनाई जाती थी, परन्तु उनमें दो बड़ी शानदार होती थीं—एक तो गंगापार महाराजा रामनगर के यहाँ और दूसरी असिघाट की ओर महाराजा विजयानगरम् की ओर से। यह महाराजा मद्रास प्रान्त से आकर काली-निवास के लिए ठहरे हुए थे। हमारे लिए अब चाँदी-सोने के हौदेवाला हाथी नित्य आने लगा और इस तरह मैंने भी जन्मपत्री की विध मिलाकर हाथी-नशीन[1] की पदवी प्राप्त की।

दशहरा समाप्त हुआ, भरतमिलाप भी हो चुका, नाटी इमली के मिलाप का दृश्य भी हम देख चुके। तब पिता जी का हमारी शिक्षा की ओर फिर ध्यान खिचा। फारसी पढ़ाने के लिए एक 'लाला भइया' (कायस्थ मुंशी) नियत किये गये, जिन्होंने 'दस्तूरुलसीबियाँ' और एक अन्य पुस्तक का पाठ शुरू कराया। मुंशी साहब गाँजे का जबरदस्त दम लगाकर तो हमें पढ़ाने आया करते थे। चिरकाल से आजीविका बन्द थी और मुंशी जी को फिक्र रहती थी कि कहीं रोजगार का यह दरवाजा भी बन्द न हो जाय, इसलिए अपने शागिर्दों को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे। थोड़ा-सा पढ़कर जब हम उकता जायँ तो हमें नित्य नई फड़कती हुई कहानी सुना देते। उन कहानियों को सुनकर 'सबक याद करने' की कब सूझ सकती थी, और जब गुरु पाठ सुनना अपना कर्त्तव्य ही न समझें! मुंशी जी ने तो हमें खुली छुट्टी दे रक्खी थी, परन्तु पिता जी को एक दिन हमारा पढ़ा-लिखा पड़तालने का खयाल आ गया। तब

१. हाथी-सवार।

मुंशी जी की करतूतों का उन्हें पता लगा और हमारे 'उस्ताद' घण्टे-भर के नोटिस पर विदा कर दिये गये। मुंशी साहब के पीछे मास्टर जी की बारी आई। बाबू देवकीनन्दन जी 'करणघण्टा स्कूल' के हेडमास्टर थे। कुछ दिनों घर पर पढ़ाकर उन्होंने हमें अपने निजू स्कूल में भरती करा दिया। संवत् १९२९ का आरम्भ हो चुका था। और यतः इस स्कूल में चौथी कक्षा तक ही पढ़ाई होती थी, अतएव मैंने नीचे की ओर उन्नति करके तीसरी के स्थान में चौथी 'जमाअत'[1] में ही नाम लिखा लिया। मेरा नाम इस स्कूल में भाद्रपद संवत् १९२९ वि० के अन्त तक रहा जिसके पीछे मेरे पिता जी की तब्दीली 'बलिया' को हो गयी। इन नौ महीनों में भी मुश्किल से १२५ दिन स्कूल में मेरी उपस्थिति लगी होगी। होली के दिनों में रंग और अबीर की बहार उड़ाते रहे और पुलिस की धौंस से प्रत्येक प्रकार की रंगरलियाँ मनाईं। बुढ़वामंगल के मेले के दिनों में तो किश्ती पर ही चार दिन-रात गुजारे और कोतवाल के 'बजड़े' की बहार उड़ाते रहे। आवारगी की कुछ हद न रही। फिर एक मुसलमान वकील के यहाँ एक लड़की मर गयी। मुखबिर ने कोतवाली में रपट दी कि लड़की मार डाली गयी है। नायब कोतवाल, होरीलाल ने जाकर लाश (मृतक शरीर) डॉक्टरी मुलाहिजे[2] के लिए रुकवा दी। वकील साहब सर सय्यद अहमद के कॉलिज के हामी थे। कचहरी में पता लगते ही सर सय्यद अहमद की मदद से उन्होंने नायब कोतवाल की तहकीकात बन्द करा दी और मेरे पिता जी, नायब कोतवाल और मुख़बिर पर फौजदारी नालिश दायर कर दी। मैं फिर उसी मुकद्दमे के सम्बन्ध में अंग्रेजी पत्र लिखने के काम में लग गया। इधर मुकद्दमा सेशन सुपुर्द हुआ और उधर सारा घर 'लाल बुखार' का शिकार हुआ। परन्तु बनारस में सर सय्यद अहमद के प्रभाव से न्याय की आशा न होने पर पुलिस के इन्स्पेक्टर जनरल ने 'हाईकोर्ट' इलाहाबाद को हिलाया और जजों ने मुकद्दमा इलाहाबाद के सेशनकोर्ट में बदल दिया। परिणाम यह हुआ कि पिता जी अपने साथियों सहित निर्दोष समझे जाकर छूट गये, उनका सब खर्चा सर-कार से मिला और उनकी बदली, जैसाकि लिख चुका हूँ, बलिया को हो गयी।

काशी में रहते हुए मुझे प्रातःकाल गंगा-स्नान और विश्वनाथादि के दर्शन के साथ व्यायाम का भी अभ्यास पड़ गया। उस समय गंगा के सब घाटों के किनारे अखाड़े खुदे रहते थे। प्रत्येक अखाड़े का एक उस्ताद था जो कुश्ती लड़वाता था। मैंने दशहरे के दिनों में मिले मेले के खर्च में से कुछ धन बचाकर एक टूटीदार बर्तन खरीदा, जिसे झारी कहते हैं। इसमें देवता पर चढ़ाने के लिए जल भर लिया जाता है। दूसरी एक पीतल की डलिया खरीदी जिसके ऊपर पकड़ने का दस्ता और बीच में दो कटोरियाँ जड़ी होती हैं। एक कटोरी में अक्षत, दूसरी में चन्दन और थाली में फूल और बेल-पत्र रख लिये जाते हैं। मैं नित्य प्रातः बायें हाथ में डलिया, दाहिने

१. श्रेणी, २. पोस्टमार्टम=शव-परीक्षण।

हाथ में झारी और बगल में धोती-अंगोछा लेकर चल देता। अखाड़े में पहुँचकर सब-कुछ अलग रख 'लंगर' (रुमाली) पहन लिया और कुछ डण्ड-बैठक करके उस्ताद ने एक जोड़ से लड़ा दिया। फिर पसीना सुखा, गंगा में गोता लगा, लंगर को धोकर लौटते हुए अखाड़े में रख दिया और झारी-डलिया लेकर चल दिये। मार्ग के सब शिवलिंगों पर झारी से एक-एक बूँद चुआते हुए विश्वनाथ, सनीचर देवता, महावीर, अन्नपूर्णा और गणेश ढुण्डिराज की प्रेमपूर्वक चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, धूप-दीप से पूजा करके घर पहुँचकर जलपान करना—यह नित्य नियम हो गया, जिसमें बिना किसी विशेष विपत्ति के विघ्न नहीं पड़ता था।

काशी में संवत् १९२९ का दशहरा हाथियों पर बैठकर फिर देखा। पढ़ना-लिखना सब ताक पर रख दिया और नव्वाब-बेमुल्क बने हुकूमत का खालिस मजा चखते रहे। अन्त को 'जुदाई की घड़ी सर पर आ खड़ी हुई' और एक बजड़ा किराये पर करके, सारा असबाब उसपर लाद मैं और भाई आत्माराम, पिता जी के साथ बलिया को चल दिये और माता जी सबसे बड़े भाई के साथ, शेष परिवार लेकर, स्वदेश को प्रस्थान कर गयीं।

बजड़ा तीसरे पहर तक चलता और यत: गंगा के बहाव के साथ जा रहा था, अत: अच्छी मंजिल मार लेता। लगभग ४ बजे, रसोई और रात्रि-शयनादि का सुभीता देखकर, लंगर डाल दिया जाता। सायंकाल का भोजन खाकर सब सो जाते। पाचक दूसरे दिन के लिए पराँठे बना छोड़ता जो दिन के १० वा ११ बजे अचार-मुरब्बे के साथ बड़े स्वादिष्ट लगते।

यहाँ स्मरण नहीं कि कितने दिनों में बलिया पहुँचा, परन्तु एक रात की घटना याद है। उस दिन हमने ऐसे स्थान पर डेरा किया था जहाँ एक आश्रम में पुरानी राख बहुत थी और कहा जाता था कि वहाँ किसी ऋषि ने तप किया है। सबसे पहले सबसे छोटा मैं भोजन किया करता था और शाम के छह बजे घोड़े बेचकर सोता तो दूसरी प्रात: के छह बजे ही हिलने का नाम लेता। उस दिन पास ही एक पुराना वटवृक्ष देखा जिसकी शाखाएँ दब-दबकर ५० वृक्ष बन गये थे। छाया इतनी घनी और फैली हुई थी कि १०० घुड़सवार घोड़ों सहित, लश्कर डाल लें तो पता न लगे। मैं सैर करते-करते इस प्राकृतिक छत के नीचे दूर चला गया और ठण्डी हवा के झोंकों ने मुझे सुला दिया। मेरे साथी दो घण्टों तक लालटेनों द्वारा टक्करें मारने के पीछे मुझे वृक्ष के तले से उठा लाये। मुझे छुटपने से ही नई इमारतें और सजे हुए प्रासाद प्रभावित नहीं करते थे; मैं ईश्वरकृत दृश्यों और प्राचीन मन्दिरों और खण्डहरों की ओर अधिकत: आकर्षित होता था।

शिक्षा का नियमपूर्वक आरम्भ

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।।

—चाणक्य० १०।३

बलिया इस समय जिला है, उस समय गाजीपुर जिला का सब-डिविजन था। बलिया पहुँचकर भी शायद पढ़ाई-लिखाई का अल्ला ही बेली होता, परन्तु वहाँ के स्कूल के मुख्याध्यापक बाबू मुकर्जी पिता जी के पास पहुँच गये। यद्यपि उनके स्कूल में चौथी से कम कक्षा न थी, फिर भी परीक्षा लेने के पीछे मुझ अकेले के लिए तीसरी कक्षा बनाई गयी। इंगलिश भाषा में मेरी योग्यता बढ़ी हुई थी, इसीलिए जहाँ कुछ दिनों पीछे एक अंग्रेज कमिश्नर ने मेरे शुद्ध उच्चारण से प्रसन्न होकर विशेष पारितोषिक दिया था, वहाँ मार्गशीर्ष संवत् १६२६ के मध्य में राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स ने परीक्षा लेकर मुझे द्वितीय कक्षा में उन्नति दी।

यद्यपि पढ़ाई-लिखाई में भी कुछ समय लगने लगा, परन्तु सैर, कुश्ती, और गतका-लाठी सीखने में भी बहुत-सा समय जाता था।

बलिया में सिक्ख खत्री विशेष मालदार थे। पटना साहब की संगत के वे शिष्य थे। उन्हीं में से एक श्यामसिंह कुश्ती लड़ाता और दूसरा अजीतसिंह गतके के हाथ बतलाता। अजीतसिंह सिर पर दस्तार[1] 'शाहनामे' के रुस्तम के चित्र के सदृश बाँधता और हाथ में एक गुर्ज रखता था। तलवार हाथ में लिये विरोधी के सामने केवल रुमाल लेकर खड़ा होता और तीन पैंतरों में तलवार छीन लेता।

बलिया की सभ्य सृष्टि

बलिया में सभ्य समाज के सभासद् केवल तहसीलदार, मुंसिफ, पुलिस आफीसर और उनके पढ़े-लिखे मातहत समझे जाते थे। शेष प्रजा में लखपति तक की भी कोई गिनती न थी। एक ओर राजपुरुष और दूसरी ओर उनके पाँव-तले रौंदी हुई प्रजा; तीसरी स्वतन्त्र समाज का कुछ अस्तित्व ही न था। पिता जी यतः विषय-वासनाओं से मुक्त थे, इसलिए उनसे सब दबते थे। कायस्थ तहसीलदार और उनके नायब, मुसलमान मुंसिफ और उनके कनौजिया सरिश्तेदार, राजपूत पुलिस-दरोगा और सिक्ख हेड मुहर्रिर, सब-के-सब वेश्यागामी और प्रजा को लूटनेवाले, परन्तु तुलसीकृत रामायण पर जो मेरी श्रद्धा थी उसने इस पतित समाज से मुझे घृणा दिला दी।

तुलसीकृत रामायण पर, इन दिनों, एक विशेष घटना ने मेरी श्रद्धा और भी बढ़ा दी। एक रात पिता जी बलिया में ही अपने नित्य नियम के अनुसार रामायण

---

१. पगड़ी।

की कथा कह रहे थे। मेरी उपस्थिति में पुलिसवालों तथा मुहल्लेवालों के अतिरिक्त एक बड़े मुकद्दमे की आसामियाँ भी बैठी हुई थीं। प्रसंग भगवान् रामचन्द्र जी की क्षमा का छिड़ गया और पिता जी ने सिद्ध किया कि यदि मनुष्य अपने पाप को स्वीकार कर ले तो उससे बढ़कर कोई प्रायश्चित्त नहीं। भगवान् शरणागत को कभी त्यागते नहीं। अकस्मात् पकड़े हुए अपराधियों में लम्बा, दृढ़ांग पुरुष दोनों हाथ बाँध पिता जी के सामने यह कहता हुआ, साष्टांग लेट गया—

स्रवन सुजस सुन आयो प्रभु भंजन भव-भीर।
त्राहि त्राहि आरत-हरन सरन-सुखद रघुबीर॥

पिता जी ने खड़े होकर उसे भूमि पर से उठा लिया और कहा—"मुझ मनुष्य के सिर पर पाप क्यों चढ़ाते हो?" उत्तर मिला—"भगवन्! **राम तें अधिक रामकर दासा।** मैं आपकी शरण में आया हूँ। सारी कहानी सुन लो!" उसने फिर चोरी और खून दोनों को मान लिया और जब उसका "इकबाल" लिखकर उसके हस्ताक्षर करा लिये गये तो उसके मुख की कान्ति वर्णन की सीमा को उल्लंघन कर गयी थी। मुझपर उस दृश्य का बड़ा प्रभाव पड़ा और अपने जीवन में कई बार उसका स्मरण आया।

बलिया में कुछ पढ़ा-लिखा तो, परन्तु नियमपूर्वक शिक्षा का आरम्भ अभी कहा नहीं जा सकता था। जिस प्रकार रूखड़ वैरागी बाबा ने अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी थी और गुरु एक भी नहीं बनाया था,[1] इसी प्रकार अबतक मैं "लैभज"[2] बना रहा। इधर-उधर की बातें और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सब रगड़ मारी और गुरु किसी एक को भी धारण नहीं किया था। तीसरी बार काशी में पहुँचकर सचमुच विद्यार्थी-जीवन का, जैसी कि उस समय था, आरम्भ हो गया।

कुइन्स (महारानीवाले) कॉलिज में प्रवेश

विद्याविहीनः पशुः॥

पौष संवत् १९३० में मेरा प्रवेश कुइन्स कॉलिज में स्कूल-('पाठशाला')-विभाग में हो गया। इन्स्पेक्टर के प्रमाणपत्र को देखते ही मुझे द्वितीय कक्षा में ले लिया गया।

कुइन्स कॉलिज (जिसे अब 'बनारस कॉलिज' कहकर पुकारा जाता है) उस समय के संयुक्त प्रान्त में बड़ी उच्च कोटि का महाविद्यालय था। अवध उस समय सर्वथा अलग सूबा था, परन्तु उधर से भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी बनारस में ही आते थे। क्या महाविद्यालय-भवन के सौन्दर्य और गम्भीर प्रभाव की दृष्टि से और क्या विद्यार्थियों की योग्यता की दृष्टि से आगरा, इलाहाबाद (प्रयाग) इत्यादि कॉलिज इसका मुकाबिला नहीं कर सकते थे। इञ्जिनियर ने

१. निगुरा। २ तुलनीय सत्यार्थप्रकाश—११ वें समुल्लास में खाखी बाबा की कथा।

इमारत बनवाते हुए व्यय को अनुमान से इतना बेढब बढ़ा दिया कि उसके लिए हिसाब-किताब समझना कठिन हो गया और उस बखेड़े से बचने के लिए उसे आत्मघात की शरण लेनी पड़ी। उसकी कब्र कॉलिज के बड़े आँगन के सामने बड़ी सुन्दर बनी हुई है। कॉलिज की दो मञ्जिलें डेवढ़ी के अन्दर चलकर बड़ी विस्तृत वाटिका है। कॉलिज सामने है जिसका एक ही बहुत लम्बा हाल है। उसके दोनों ओर नौ-नौ कमरे हैं। मध्यस्थानीय एक ओर के कमरे में उस समय का बड़ा भारी दोमञ्जिला पुस्तकालय और दूसरी ओर के दाहिने कमरे में संस्कृत प्रोफेसरों के बैठने का स्थान और दूसरी मञ्जिल में अद्भुतालय था। मध्यवर्ती कमरों की तीसरी मञ्जिल पर बुर्ज हैं, जिनमें से एक में संवत् १९१४ की राजक्रान्ति, (अंग्रेजों की भाषा में 'गदर') में प्रिन्सिपल ग्रिफिथ जा छिपे थे। इंगलिश विभाग के सब प्रोफेसर और स्कूल की दो बड़ी जमातों के टीचर तो ११ कमरों में बैठते थे और शेष ५ कमरों में संस्कृत के अध्यापक बैठते थे। 'पण्डित बालशास्त्री' वैदिक और लौकिक साहित्य के, पं० ढुण्डिराज शास्त्री गणित के और प्रसिद्ध ज्योतिष के धुरन्धर पण्डित बापूदेव शास्त्री भी उन्हीं के अन्तर्गत थे। हाल खुला था और उसके बीच में मार्ग छोड़कर दोनों ओर पाँचवीं से आठवीं कक्षा तक मिडल-विभाग के विद्यार्थी बैठते थे। प्राइमरी की निचली जमातों के लिए हैडमाटस्र साहब ने गवर्नमेण्ट से रहने के लिए मिली हुई अपनी कोठी किराये पर दे रक्खी थी, क्योंकि उन्होंने मुहल्ला दशाश्वमेध घाट पर अपना निजू मकान बनवा लिया था। बड़ी वाटिका की समाप्ति पर एक कोने में प्रिन्सिपल साहब के रहने का बँगला और दूसरे कोने में कुन्ज में छिपा संगमरमर का मेज और उसी पत्थर का बेंच था जिसपर काग़ज और पेन्सिल धरे रहते थे। चारों वेदों का इंगलिश पद्य में अनुवाद करनेवाले प्रिन्सिपल 'राल्फ टी० एच० ग्रिफिथ' कवि थे और जब नये विचार हृदय में उठते तो इसी संगमरमर के बेंच पर बैठकर हृदय के उद्गार पेन्सिल द्वारा प्रकट किया करते। मैंने दो बार उनकी छोड़ी हुई कविता को पढ़कर अपने-आपको धन्य समझा था, परन्तु यह तो कॉलिज-विभाग में आने के पीछे संवत् १९३३ की बात है।

बनारस कॉलिज के प्रिन्सिपल और प्रोफेसर

बनारस में विद्यार्थी बनकर मैं संवत् १९३० के पौष मास से लेकर १९३४ के ज्येष्ठ मास के अन्त तक बराबर रहा। इस अन्तर में केवल संवत् १९३२ का पूरा वर्ष रेवड़ी तालाब के स्कूल (जयनारायनज कॉलेज) में गुजारा, शेष साढ़े तीन वर्ष बनारस कॉलिज की चारदीवारी में ही व्यतीत किये। रेवड़ी तालाब के स्कूल में एक वर्ष मेहमान बनकर ही काटा। असली विद्यागृह मैं कुइन्स कॉलिज ही समझता रहा।

एक बात यहाँ बतला देना आवश्यक है। उन दिनों संयुक्त प्रान्त में कोई यूनिवर्सिटी न थी और न पंजाब में ही। दोनों प्रान्तों के विद्यार्थी एण्ट्रेंस से लेकर एम० ए० तक की परीक्षा कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अधीन देते थे। हाँ, संस्कृत-विद्यालय विभाग अपने-आपमें अवश्य स्वतन्त्र था।

कॉलिज के प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहब थे जो वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद इंगलिश पद्य में करने के अतिरिक्त चारों वेदों के भी अनुवादक थे। पाँच फीट से शायद एक आध इंच ही लम्बे हों, परन्तु थे नख-शिख से दुरुस्त। जैसे वामन आप थे वैसा ही बौना भृत्य आपको मिला हुआ था। उसने भी साहब बहादुर के अनुकरण में गलमुच्छे रक्खे हुए थे। ग्रिफिथ साहब एक टाँग से लँगड़े हो चुके थे। इसका कारण भी विचित्र था। कवि ही तो ठहरे! टमटम इतनी ऊँची बनवाई कि जब एक सड़क से दूसरी सड़क की ओर घुमाने लगे तो गला तार में फँस गया और साहब शेष जीवनभर के लिए लँगड़े हो गये। लँगड़ी टाँग की एड़ी जरा ऊँची रखवाते और ऐसी सावधानी से चलते कि देखनेवाले को टाँग का व्यंग प्रतीत न होता। शौकीन ऐसे थे कि नया कोट वा नई पतलून पहिरते समय यदि तनिक भी बेढब मालूम हुई तो बाहर के बरामदे में फेंक दी गई। जो भी भृत्य उपस्थित हुआ उसके भाग्य उदय हो गये। बँगले की सजावट जगत्-प्रसिद्ध थी। ऐसा कोई ही हतभाग्य विद्यार्थी होगा जिसने गलमुच्छवाले बौने भृत्य को अठन्नी वा रुपया देकर, प्रिन्सिपल साहब की अनुपस्थिति में उनकी नरम गद्देवाली कोचों और कुर्सियों का आनन्द न लूटा हो। कवि ने विवाह तो किया नहीं था, परन्तु बीच के सड़क की दूसरी ओर एक कोठी किराये पर लेकर अपनी सदासुहागिन प्रिया को रक्खा हुआ था। नाजुकमिजाज इतने कि यदि कोई उनकी ओर बढ़े तो पीछे हटते जाते थे। साधारण पुरुष के मुँह से निकली अपानवायु को सहन नहीं कर सकते थे। प्रायः बोलते बहुत धीरे थे और इसीलिए मिलनेवाले को आगे बढ़ना पड़ता था, परन्तु जब पढ़ाते तो गरज ऐसी होती कि एक-एक शब्द स्पष्ट सुनाई देता। शायद गले की सारी शक्ति का संचय उसी समय के लिए कर छोड़ते थे। मेरे अंग्रेजी प्रोफेसर की बीमारी पर एक बार, संवत् १६३४ में उन्होंने मेरी कक्षा को एक सप्ताह तक इंगलिश पद्य पढ़ाया था, जिसे मैं कभी नहीं भूला।

संस्कृत विभाग के उपाचार्य पहले गफ़ साहब थे जिनका नाम संस्कृत के आन्दोलन में कुछ-कुछ लिया जाता है। ग्रिफिथ साहब के स्थान में, उनके प्रिन्सिपल बनने पर, डॉक्टर थीवो जर्मनी से लाये गये। उनकी विद्या और विशेषतः परिश्रम की धूम मची हुई थी। गर्मियों में रात की आँधी में न बुझनेवाला लेम्प जलाकर ग्यारह बजे तक उन्हें पढ़ते देख एक आदमी ने आश्चर्य प्रकट किया। उत्तर मिला कि रात को गणित का फिर से अभ्यास किया करते हैं और इस प्रकार किसी भी पढ़े हुए विषय का ज्ञान बासी नहीं होने देते। आते ही पं० बालशास्त्री से दर्शन-

शास्त्र का पढ़ना और संस्कृत सम्भाषण का अभ्यास आरम्भ कर दिया। थोड़े दिन पीछे ही षाण्मासिक परीक्षा में संस्कृत के परीक्षक हुए। एक भी अनुत्तीर्ण न हुआ। यह पहले यूरोपियन थे जिनकी दाढ़ी के साथ मूँछों का भी सफाया मैंने देखा। प्रसिद्ध यह था कि धर्मशास्त्र में उच्छिष्ट की निन्दा देखकर इन्होंने मूँछ मुड़ा ली है, जिससे बालों में उच्छिष्ट न फँस जाय।

गणित के प्रोफेसर मिस्टर राजर्स भी अपने विषय में निपुण थे और उन्हीं के पढ़ाये हुए, उनके शिष्य, लक्ष्मीशंकर मिश्र सहायक प्रोफेसर थे और पीछे से गणित-साइन्स, दोनों के प्रोफेसर हो गये।

इंगलिश के प्रोफेसर किब्ल प्रिन्सिपल साहब की अपेक्षा भी नाटे थे, परन्तु हर समय उसकी नस-नस फड़कती रहती थी, और हँसमुख इतने थे कि उनसे पढ़ते हुए विद्यार्थी का जी नहीं उकताता था। परन्तु मेरे होते हुए ही किब्ल साहब चले गये और उनके स्थान में पलटन की क्लर्की और स्कूल-मास्टरी से बढ़ते-बढ़ते चार्ल्स डाड स्थानापन्न प्रोफेसर होकर आये जिनका सारा बल विद्यार्थियों के उच्चारण शुद्ध करने की ओर लगता था।

इतिहास के प्रोफेसर इंगलिस्तान से एक सिफारिशी युवक बुलाये गये जिनको अयोग्यता के कारण कोई डिग्री न मिल सकी तो उन्हें बनारस कॉलिज के गले मढ़ा गया। इनको विद्यार्थी बहुत तंग किया करते थे और इनकी इतिहास से अनभिज्ञता की पोल खोला करते थे।

अंग्रेजी के सहायक प्रोफेसर दो हिन्दुस्तानी एम० ए० थे—एक बालकृष्ण भट्ट और दूसरे उमाचरण मुकर्जी। ये दोनों भी अपने विषय में बहुत योग्य थे, जिनमें भट्ट जी तो सदाचार की मूर्ति थे। दोनों ही कॉलिज के अतिरिक्त एण्ट्रेंस की दोनों कक्षाओं को भी पढ़ाया करते थे। रह गये दो प्रोफेसर उन विषयों के जो गौण समझे जाते हैं। अंग्रेजी उस समय मुख्यभाषा समझी जाती थी। ब्रिटिश गवर्नमेंट के स्कूलों और कॉलिजों में अब भी मुख्य भाषा अंग्रेजी और संस्कृत तथा फारसी-अरबी दूसरी वा गौणभाषा समझी जाती हैं। संस्कृत के उपाध्याय पण्डित राम-जसन थे जो प्रिन्सिपल ग्रिफिथ को संस्कृत से अंग्रेजी-उलथा में भी सहायता देते थे। इसके अतिरिक्त किसी विशेष आश्रय पर इनका ग्रिफिथ साहब पर बड़ा अधि-कार था। यही कारण था कि इनके बड़े लड़के लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए० पास करते ही प्रोफेसर बन गये। दूसरे उमाशंकर एम० ए० अंग्रेजी में फ़ेल होकर बिजनौर जिला के ताजपुर के राजा के पुत्रों के अध्यापक नियत होकर भेजे गये और तीसरे रमाशंकर मिश्र एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण होते ही पहले बनारस कॉलिज में गणित के सहायक प्रोफेसर और फिर अलीगढ़ में स्थापित नये ऐंग्लो-मुहम्मडन कॉलिज के गणित के मुख्य प्रोफेसर बनकर गये थे। दूसरे गौण विषय अर्थात् फारसी-अरबी के मुख्य उपाध्याय का नाम "मौलवी साहब" के अतिरिक्त मुझे और

कुछ याद नहीं और उस समय भी उनके सब शागिर्द उन्हें मौलवी साहब कहके ही जानते थे। मौलवी साहब ने अपने किसी शिष्य को भी सम्बोधन करते हुए सिवाय "बरखुरदार" (चिरंजीव) के और किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया। यों तो मौलवी साहब के क्लास में बैठे हुए भी लड़के निचल्ले न बैठते थे, परन्तु जब मौलवी साहब किसी काम के लिए कमरे से जायँ तो कोलाहल का वारापार न रहता था। मौलवी साहब ने लौटकर बाँह पसारकर घुमाई और कहा—"हश्··· श्···श !" और शागिर्द अपनी-अपनी जगह बैठ गये, फिर भी कोई शरारत करता रहता तो हुकुम हुआ—"कामता प्रसाद, बिंच पर खड़े हो जाओ !" कामता मुस्कराता हुआ खड़ा हुआ, एक पैर बेंच पर और एक अभी भूमि पर ही था कि बोला—"मौलवी साहब ! अज खुर्दां खता अज बुज़ुर्गां अता" अर्थात् छोटे से अपराध और बड़ों से क्षमा। बुजुर्ग, प्रेम की मूर्ति मौलवी साहब बोले—"अच्छा बरखुरदार ! बैठ जाओ।" एक नटखट लड़के ने भी, जो कई बार बख्शा जा चुका था, ऐसा ही अमल किया। मौलवी साहब बोले—"हर रोज ईद नेस्त कि हलवा खुरद कसे।"[१] लड़का था हाजिरजवाब, हाथ बाँधकर बोला, "मेरे बुजुर्गवार मौलवी साहब ! करमहाये तो मारा कर्द गुस्ताख।"[२] मौलवी साहब की आँखें डब-डबा आईं, बोलने का साहस न हुआ और इशारे से उसे बैठने की आज्ञा दी। पढ़ाने के समय भी शोर मचता रहता था, परन्तु जब कोई आवश्यक नोट देना होता तो मौलवी साहब कहते—"बरखुरदारान् ! अब मतलब की बात आई। जरा गोशे-होश से सुनो !" बस, सन्नाटा हो जाता। उस समय रुमाल गिरने का शब्द भी सुनाई देता। मौलवी साहब ने नोट लिखा दिया और चहल-पहल वैसी ही फिर हो गयी। अपने मौलवी साहब के पैतृक प्रेम का जब स्मरण आता है तो अब भी दिल भर आता है और हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों को देखकर बड़ा कष्ट होता है। जिस पवित्र भूमि ने दोनों को जन्म दिया, जिसके अन्न-जल ने उन्हें पाला, जिस गंगा के शीतल जल ने शान्ति देने में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई में कोई भेद नहीं किया, उस मातृभूमि के पुत्र आपस में लड़-झगड़कर माता को सताते हैं, यह कैसे कष्ट की बात है ! परन्तु जिस समय का मैं जिक्र कर रहा हूँ उससे पहले भी संवत् १९२३ में चन्द्रनगर में फ्रांसिसी चीफ जस्टिस 'लुइस जकालियट'[३] ने काशीपुरी में पहुँचकर लिखा था—"ज्यों ही मैंने माँझी को अपना बजरा शिवजी के घाट पर बाँधने का हुकुम दिया त्यों ही एक घटना ने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों बनारस के घाटों की सीढ़ियों पर बिना भेद-भाव के इकट्ठे नहा रहे थे। यद्यपि पैगम्बर (मुहम्मद साहब) के अनुयायी सदा मूर्तिपूजा के विरुद्ध

१. प्रतिदिन ईद नहीं है कि मनुष्य को हलवा खाने को मिले।
२. आपकी कृपाओं ने हमें ढीठ बना दिया है।
३. फ्रान्सीसी उच्चारण में—जाकोल्यो

और तलवार के साथ युद्ध करते रहे हैं, परन्तु औरंगजेब के शासनकाल से पहले वे अपने पराजित शत्रु के पवित्र तीर्थ का मान करते रहे थे।" मेरे सामने काशी में सर सय्यद अहमद की बदौलत हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर के विद्वेष की बुनियाद पड़ने लग गयी थी, परन्तु मेरे पूज्य मौलवी साहब के ढर्रे के मुसलमान उस विरोध को देखकर दुःखी होते थे।

स्कूल-(विद्यालय)-विभाग के अध्यापक भी अन्य स्कूलों के अध्यापक की अपेक्षा अधिक योग्य थे, परन्तु मेरे शिक्षकों का वर्णन बिना उस समय के हेड-मास्टर की संक्षिप्त जीवनी के अधूरा रहेगा। जहाँ प्रिन्सिपल असाधारण पुरुष थे वहाँ हेडमास्टर भी एक विशेष व्यक्तित्व के स्वामी थे।

मथुराप्रसाद मिश्र, जो अंग्रेजी में हस्ताक्षर करते एम० पी० एम० लिखा करते थे, बनारस कॉलिज की विशेषताओं की जान थे। सर्वसाधारण में उनका नाम था मथुरा मास्टर। उनकी आकृति विचित्र थी। लम्बाई छह फीट से भी कुछ सिर निकाले हुए, रंग साँवले से भी एक-आध पानी चढ़ा हुआ, शरीर के अंजर-पंजर गिन लो, सिर पर पण्डिताऊ पगड़ी, पैर में सफेद पायताबे पर हिन्दोस्तानी जूते, चढ़ी हुई धोती लम्बी छोड़े और अंगरखा के ऊपर मान्धाता के समय का लम्बा चोग़ा फैलाये, उसके भी ऊपर बिना तह खोले दुपट्टा लटकाये डग बढ़ाते जाते देखकर किसे विश्वास आ सकता था कि डॉक्टर वैलेण्टाइन-से प्रसिद्ध भाषाशास्त्री, अपूर्व विद्वान् के अपूर्व शिष्य बनारस कॉलिजिएट स्कूल के हेडमास्टर जा रहे हैं! परन्तु जब उनको मिलते ही उनकी आँखों पर दृष्टि पड़ती थी और उनकी धाराप्रवाह वाणी की लहरें चल पड़ती थीं, तब समझ में आ जाता था कि न केवल अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य का कोष ही उनके अन्दर सुरक्षित है प्रत्युत प्रबन्ध की निपुणता उनके आगे हाथ बाँधे खड़ी रहती है। अध्यापकों और विद्यार्थियों—दोनों पर उनका तेज छा जाता था और जब कभी वह अपने कमरे से हॉल में निकलते तो स्कूल-क्लासें तो क्या कॉलिज के कमरों में भी सन्नाटा छा जाता था। वे पढ़ाने के समय सदा खड़े रहते, प्रत्येक विद्यार्थी को उनकी आँखें अपने ऊपर ही गड़ी हुई प्रतीत होती थीं। मथुरा मास्टर न बी० ए० थे और न एम० ए०, परन्तु जब कभी अंग्रेजी साहित्यसेवी तथा बड़े अफसर भी आ जाते तो इनका शुद्ध उच्चारण और ललित भाषा का प्रभाव देखकर आश्चर्य में रह जाते और सारी बातचीत का ठेका मथुरा मास्टर ही ले लेते। इनका बनाया त्रैभाषिक कोष देर तक स्कूलों में काम देता रहा। मैंने एक वर्ष मथुरा मास्टर से पढ़ा है। उन्हीं के कारण बनारस कॉलिज के विद्यार्थी शुद्धोच्चारण और शुद्ध आंग्ल भाषा बोलने के लिए प्रसिद्ध थे।

यह था विद्वन्मण्डल जिसकी छत्र-छाया में मैंने काशी के अन्दर साढ़े तीन वर्ष से अधिक व्यतीत किये, परन्तु शुष्क पुस्तक-पाठ के अतिरिक्त मुझे, उन छह घण्टों

में भी जो मैं विद्यालय में नित्य बिताता था, इन विद्वानों से एक भी शिक्षा, जीवन-सुधार के लिए न मिली। वही शिक्षा की विधि अबतक भारत-सन्तान के जीवन को खोखला कर रही है, और जो कहीं-कहीं उसके विषधर प्रभाव को दूर करने का यत्न होता है वह भी पूर्णतया फलदायक नहीं होता।

व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन

मेरे एक स्वभाव का ज्ञान मुझे काशी में "गंगा गये गंगादास यमुना गये यमुनादास" हुआ। बनारस पहुँचते ही मैंने अपने जीवन की सारी गति बदल डाली। बलिया में तीन महीने के अन्दर ही मैं भोजपुरी बोली और हुकूमत के झकोलों से मस्त होकर ठाठ-बाट से सिंह-सर्दारों की पोशाक पहिरने लग गया था। बनारस पहुँचकर एक महीने के अन्दर बनारस की खड़ी बोली बोलने लग गया। स्कूल में प्रवेश के पन्द्रह दिनों पीछे ही हुकूमत का सारा नशा हिरन हो गया और विद्वानों के विद्यार्थी जीवन की कहानियाँ पढ़-पढ़कर उनके अनुकरण की चेष्टा करने लगा। बाँके दस्तारे का स्थान बनारसी दुपल्लिया टोपी ने लिया, शानदार लबादे के स्थान में अंगरखा पहिर लिया, दुपट्टा बाँकेपन का तिर्छापन छोड़कर गले का हार बना, चुस्त चूड़ीदार पाजामे का स्थान सीधे-सादे घुटन्ने ने लिया और चमकते हुए सल्मे-सितारों की जूती को ठोकर लगाकर लक्कड़तोड़ बूट पैरों का शृंगार बना।

अन्तरीय परिवर्तन

बाह्य परिवर्तन के अतिरिक्त अन्तरीय संकल्पों तथा आशाओं का सारा चित्र ही बदल गया। छह बजे के स्थान में ब्राह्ममुहूर्त में चार बजे उठकर गंगातीर स्नान के लिए जाता। वहाँ से डलिया-झारी लिये विश्वनाथ की सारी परिक्रमा में देव-पूजन कर घर लौट आध घण्टे तक शारीरिक व्यायाम कर भीगे चने खाकर दूध पीता और नैत्यिक पाठ की आवृत्ति होती। ढाई घण्टे बराबर स्कूल की तैयारी में लगते। फिर भोजन-पीछे स्कूल और वहाँ से साढ़े चार बजे लौटकर आवश्यकताओं से निवृत्त हो एक घण्टा अन्य स्वाध्याय में व्यतीत होता। साँझ होते ही कुर्ता-दुपट्टा ओढ़ हाथ में छाता घुमाता हुआ शहर से बाहर वायु-सेवनार्थ भ्रमण के लिए चल देता। वह भ्रमण भी एक प्रकार की कसरत ही थी। एक घण्टे में साढ़े चार मील का भ्रमण खासी दौड़ के बराबर ही है। उन दिनों और उसके पश्चात् चिरकाल तक मैं शीघ्रगामी आँधी की तरह इतना तेज़ चलता था कि मार्ग में मिले मित्रों को देख तक न सकता था। साढ़े सात बजे घर लौटकर विश्वनाथ बाबा के मन्दिर की ओर चल देता और उनके द्वार पर हाथ-पैर धो फिर सब देवमूर्तियों के दर्शनमात्र करके लौटता। इस क्रिया को पूरी किये बिना भोजन नहीं करता था। फिर कुछ टहलते, गप्प-शप्प उड़ती और नौ बजे से पहले ही सो जाता। मुझे भली प्रकार

स्मरण है कि सन् १८७३ ई० भर एक दिन भी रात को दीये के सामने पढ़ने के लिए मैं नहीं बैठा। यदि शिक्षा-प्राप्ति के सारे समय में मैं इस नियम का पालन कर सकता तो आज मैं ऐनकों का गुलाम न बन जाता। गुरुकुल खोलकर कुछ काल मैंने इस नियम को चलाया परन्तु जब शिक्षा के कार्य में अंग्रेजी कॉलिजों के ग्रेजुएटों से काम लेना पड़ा तो न केवल रात की पढ़ाई पर ही उन्होंने बल दिया, प्रत्युत अंग्रेजों की विलायत से पास हुए डॉक्टरों की सहायता से देशी सरसों के तेल के स्थान में बदबूदार मिट्टी का तेल जलवाना आरम्भ कर दिया। मेरी पहली अनुपस्थिति में यह रिवाज बदला गया और जब लौटकर मैंने नियम चलाना चाहा तो इन नई रोशनीवालों ने लोटे में नमक डालकर कह दिया कि बिना रात की पढ़ाई के पाठ तैयार नहीं हो सकते। यदि मैंने स्वयं अपनी आँखें मिट्टी के तेल और अन्धी टाइपवाले अंग्रेजी उपन्यासों के अर्पण न कर दी होतीं तो शायद अपने ब्रह्मचारी पुत्रों को इस आपत्ति से बचा सकता।

पहले वर्ष के नियमपूर्वक जीवन का वर्णन करने से मेरा यह मतलब नहीं है कि इन बारह महीनों के अन्दर कोई भी नई लहर मेरे अन्दर नहीं उठी। पहला काम मैंने यह किया कि बनारसी गुण्डों का अनुकरण करते हुए शाम को अपनी कमर में छुरी लगाकर बाहर जाता। माता-पिता से शरीर मुझे सुडौल और हाथ-पैर खुले प्राप्त हुए थे। इसके साथ व्यायाम ने शरीर को गठित कर दिया था, परन्तु यह सब होते हुए भी मैं ऐंठने और बिना कारण किसी से उलझने का अभ्यासी न था, बल्कि लज्जा का नमूना बना हुआ था। इस लज्जा का परिणाम ही मेरी दो निर्बलताएँ थीं जिनका परिचय मेरी आगे की कहानी में मिलेगा।

प्रथम तो यह कि—दूसरे के अत्याचारों को बार-बार सहन करता चला जाता हूँ और जब सहनशीलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है तब निवृत्ति की ओर ध्यान देता हूँ। इससे जहाँ पापी को पाप में बह जाने का अवसर मिलता है, क्योंकि वह मेरी क्षमा को निर्बलता समझता है, वहाँ मेरे व्यवहार में अचानक परिवर्तन देखकर मेरे शत्रुओं की संख्या बढ़ जाती है।

दूसरी निर्बलता यह थी (जो बहुत-कुछ दूर हो चुकी है) कि जहाँ पहले से जानी हुई आपत्ति का सामना मैं बड़े कठिन समय में भी शान्ति और बल से कर सकता, वहाँ अकस्मात् किसी आपत्ति के सामने आने पर मुझे उसका हल न सूझता था।

आँखें खुलने लगीं

अबतक आवारगी का जीवन तो अधिक रहा किन्तु उसमें पाप का प्रत्यक्ष प्रवेश कभी नहीं हुआ। संसार को शुद्ध-पवित्र ही मैं समझता रहा, परन्तु अब कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं जिन्होंने हृदय के उस शुद्ध भाव पर ठेस लगानी शुरू कर दी।

पिता जी का मुझ, सबसे छोटे पुत्र के साथ जितना प्रेम था उतना ही विश्वास भी था। जिस कोठी में उनका रुपया जमा था उसके मालिक को आज्ञा दे दी कि मेरे हस्ताक्षर पर जितना धन मैं माँगूँ, दे दिया जाए। खर्च की कमी थी नहीं, इसलिए वसन्त पंचमी की छुट्टी होते ही मैं बलिया चला गया। वहाँ श्यामसिंह और अजीतसिंह तो थे ही, मुहल्ले के सिक्ख, खत्रियों ने हमारे मकान के पास ही एक बैठक में मुजरा कराने की ठानी। मुजरे में वेश्या बैठकर गाती है, नाचती नहीं। इन सबने मुझे निमन्त्रण दिया। मैंने उत्तर में कहा कि पिता जी सदा नाच-तमाशों से जुदा रहते हैं, मैं उनसे आज्ञा नहीं ले सकता। मुझे उन लोगों ने मुजरे में शामिल होने की विधि बतलाई और मैं पिता जी के सो जाने पर चुपके से उठकर बाहर बैठक में आया और केसरी बाना पहनकर मुजरे में शरीक हो गया। पहले तो शंका और लज्जा ने आ घेरा परन्तु लौंग-समेत पान-पर-पान खाते हुए शंका दूर हो गई। चार घण्टों में मैंने ५० से कम पान न खाये होंगे। तीन बजे चुपके से फिर चारपाई पर लेट रहा। यह पहला अविश्वास का पर्दा था जो मेरे और पिता जी के बीच में पड़ गया। प्रातःकाल गला सूखकर काँटा हो गया। अपने किये पर पश्चात्ताप भी हुआ परन्तु प्रायश्चित्त करके पिता जी से क्षमा माँगने का साहस न हुआ।

बनारस लौटने पर एक और अनुभव हुआ। मेरे एक मामू ने पिता जी के साथ काशी में आकर दुकान खोल ली थी। मैं आदित्यवार की छुट्टी के दिन उनसे मिलने जाया करता था। मार्ग ठठेरी बाजार में से था, जहाँ एक गुण्डों का गोल बैठता था। वे कुछ आवाजें कसते थे जिनकी ओर मैं ध्यान न देता और नीची आँखें किये चला जाता। एक बार एक गुण्डा मेरे पीछे कुछ दूर तक बोलता गया, तब मेरे कान खड़े हुए। लौटते हुए उसने मेरे मोढ़े पर हाथ रखा ही था कि मैंने पैर घुमाकर उसके मुँह पर बड़े जोर से थप्पड़ मारा। उसका सिर भिन्ना गया। यह कुछ टिर्राने को तैयार हुआ और मैंने उसे बलपूर्वक धक्का दिया तो वह पत्थर के फर्श पर चित्त गिर पड़ा। मैंने तो समझा था कि बदमाश-दल मुझपर टूट पड़ेगा, परन्तु उसी दुष्ट पर सब हँस दिये। भले मनुष्यों का तब हौसला हुआ कि उसे फटकारें। फिर मार्ग में किसी ने भी मेरी ओर आँख उठाकर नहीं देखा।

बनारस के गिरे हुए आचार का एक दूसरी घटना से मुझे प्रत्यक्ष होने लगा। संवत् १९३० की गर्मियाँ आ पहुँचीं। मई का महीना था। मेरे घर से कॉलिज-भवन डेढ़-दो मील दूर था। अन्य स्कूलों का समय बदलकर प्रातःकाल हो गया, परन्तु क्वीन्स कॉलिज और स्कूल दस बजे से चार बजे तक ही लगते रहे। कारण यह कि प्रत्येक कमरे तथा हॉल के दोनों ओर खस की टट्टियों पर पानी छिड़कवाया जाता था। प्रोफेसर और अध्यापक तो बग्घियों और पालकियों में आते, परन्तु विद्यार्थी स्कूल पहुँचते हुए पसीना-पसीना हो जाते। तिसपर भी अध्यापक पढ़ाते समय ऊँघते ही रहते। मैंने गर्मियों के लिए इक्का किराये पर कर लिया जो मुझे

दस बजे पहुँचा देता और चार बजे स्कूल से लौटा लाता। एक दिन मैं स्कूल की ओर जा रहा था कि मैंने एक विद्यार्थी के पीछे लगे बदमाश देखे। विद्यार्थी के साथ एक नौकर भी उसका बस्ता उठाये जा रहा था, परन्तु उसका हौसला कहाँ जो पाँच-छह गुण्डों का सामना कर सके! मैंने लड़के को इक्के पर बैठा लिया और गुण्डे मुँह ताकते रह गये। शाम को भी उसे इक्के में ले-जाकर उसके घर पहुँचा दिया। तब मालूम हुआ कि उसकी माता के साथ गंगा में संकल्प पढ़कर मेरी माता ने उसे धर्म की बहन बनाया हुआ है। भाई मेरे पास पढ़ने आने लगा। मैंने उसे कसरत करना सिखाया, तब उसका शरीर दृढ़ होना शुरू हुआ और उसकी अनुचित लज्जा भी दूर होने लगी। स्कूल भी वह मेरे साथ जाने लगा। मेरी मौसी ने समझा कि बच्चे का बदमाशों से छुटकारा हो गया, परन्तु फिर मेरे घर पर ऐसे आदमियों का आना आरम्भ हुआ जिनके आने की आशा न थी। उनमें एक वेदपाठी पण्डित थे जिनकी लम्बी कहानी देकर पुस्तक को बढाना अभीष्ट नहीं। सारांश यह कि जब उस भाई के विषय में उस पतित पण्डित के घृणित भाव का पता लगा तो मैंने उसे अपने घर आने से रोक दिया और मैं गर्मी की छुट्टी में बलिया चला गया, तब वेदपाठी ने लड़के को उसके सगे भाई के साथ इक्के पर जाते हुए गुण्डों द्वारा उठवा मँगवाना चाहा। गुण्डों ने उसे उठा भी लिया, परन्तु पास ही एक सदाचारी थानेदार कुछ आन्दोलन कर रहे थे। उन्होंने लड़के को उन दुष्टों के पंजे से छुड़वाकर घर पहुँचवाया और उसकी माता ने सदा के लिए उसकी पढ़ाई बन्द कर दी। इस पिशाच वेदपाठी ने अपनी मनोरथसिद्धि में मुझे बाधक देखकर मुझपर ही मेरे धर्म-भाई के सम्बन्ध में लांछन लगाना चाहा, जिसपर उसे उचित दण्ड भी मिला, परन्तु मुझे इस घटना से बड़ा सदमा पहुँचा।

तीसरी घटना एक एण्ट्रेंस के विद्यार्थी के सम्बन्ध में थी। इसका नाम रामलगन मिश्र था। मथुरा मास्टर की तरह यह लम्बा, दुबला और काला था और उन्हीं के अनुकरण में वैसे ही कपड़े पहरता था। आयु बाइस वर्ष की थी, तीन बार एण्ट्रेंस में अनुत्तीर्ण हुआ और दो बार परीक्षा में न बैठा परन्तु स्कूल में बराबर भरती रहा। इसके मारे भी विद्यार्थियों का नाक में दम था। इसने मेरे स्थान पर पहुँचकर कुछ कुचेष्टा का यत्न करना चाहा। मैंने उसे फटकारकर बरामदे के नीचे ढकेल दिया। उसने गिड़गिड़ाकर मिन्नत की कि मैं उसकी पोल स्कूल में न खोलूँ। मैंने उसे फिर फटकार दिया और दूसरे दिन उसकी दुर्गति की सारी कहानी विद्यार्थियों को सुना दी। मिश्र जी तीसरे दिन ही नाम कटाकर घर को चल दिये। इन घटनाओं ने मेरी आँखें खोल दीं और तब मुझे मालूम हुआ कि काशीपुरी सब प्रकार के व्यभिचार का नरककुण्ड बनी हुई है। साथ ही वेदपाठी पण्डित के जीवन को देखकर संस्कृत-भाषा तथा विद्या से ही घृणा हो गयी। छमाही परीक्षा में सब-कुछ भूलकर मैं फिर नियमपूर्वक ही काम करता रहा।

सन् १८७३ का शेष भाग और

परीक्षा में असफलता

वर्ष के मध्य भाग की छुट्टियों में पिता जी को पत्र द्वारा सूचना देकर मैं बलिया चल दिया। डुमराँव स्टेशन का टिकेट लिया, जहाँ से इक्के बलिया को जाते थे। 'बक्सर' के स्टेशन पर खड़ी होकर जब ट्रेन चल दी तो मेरे कान में शब्द पड़े। कोई पुकार रहा था—"बबुआ मुंशीराम! बबुआ मुंशीराम!!" यह आदमी पिता जी ने भेजा था। उस प्रान्त में वर्षा बहुत हुई थी और बलिया से डुमराँव १८ वा २० मील तक पानी-ही-पानी फैला हुआ था। आदमी इसलिए भेजा था कि बक्सर में मुझे नाव पर बैठाकर ले आए। परन्तु रेल चल दी। डुमराँव पहुँचकर मालूम हुआ कि इक्का डेढ़ मील जाकर रुक जाएगा और शेष मार्ग में घुटनों से लेकर कमर तक पानी में चलना पड़ेगा। मैंने एक मजदूर को अपना बैग दिया और छोटी दरी भी उसी में डाल दी। फिर पैदल चल दिया। छह बजे प्रातःकाल डुमराँव से प्रस्थान करके एक बजे दिन के गंगा के किनारे पहुँचा जहाँ एक वा डेढ़ मील का पाट था और सामने के किनारे पर बलिया। मजदूर नाटा था इसलिए जहाँ जल अधिक आता वहाँ उसके सिर पर थैला रखकर मैं आश्रय दे, उसे चलाता आया। मजदूर को आठ आने पर ठीक किया था। मजदूर को मजदूरी देने के लिए जब जेब में हाथ डाला तो जेब कटा हुआ पाया। जेब कतरनेवाले ने छह पैसे ही छोड़े थे। बलिया प्रान्त के दो कृषक दिखाई दिये। इन्स्पेक्टर साहब का पुत्र जानते ही उन्होंने मुझे चार रुपये उधार दिये। मजदूर ने काम बहुत किया था, उसे बारह आना देकर विदा किया और स्नान करके मानसिक पूजा की। फिर पेटपूजा की फिक्र हुई। मार्ग में एक भड़भूजे की ही दुकान थी जिसमें केवल आठ लड्डू मिले। रुपया दिखाया तो दूकानदार ने उत्तर दिया कि बाकी देने को उसके पास नहीं है। लड्डू पैसे का एक देता था। छह पैसे देकर उतने ही लड्डू खरीद लिये। लड्डू ऐसे दृढ़ थे कि दाँत उन्हें काट न सके। पत्थर पर तोड़कर मुँह में रक्खे तो गले के नीचे नहीं उतरते थे। अस्तु, केवल थोड़ा पानी ही पी लिया। फिर बकरियाँ चरती दिखाई दीं। चरवाहे से दुहाया तो मुश्किल से आधा सेर दूध निकला। कुछ गुड़ भी मिल गया। गुड़ खाकर दूध पिया। उस समय जो आनन्द आया वह कभी बड़े महलों और बनारस के गोपाल मन्दिरवाले छप्पन प्रकार के भोजन में भी नहीं आया था।

कुछ देर पुस्तक पढ़ने में व्यतीत की, क्योंकि कृषक अपने सत्तू डाटकर सो गये थे। उनके जागने पर पार जाने की चिन्ता हुई। घाट पर तीन बड़ी किश्तियाँ लंगर डाले पड़ी थीं, परन्तु एक के साथ ही छोटी डोंगी थी। मैं दस रुपये तक किराया देने को राजी हुआ परन्तु किसी मल्लाह ने भी 'हाँ' न की। मैं निराश होकर उस रेतीले मैदान में ही रात काटने की तैयारी कर रहा था कि छनछन करता हुआ

डाकवाला आ पहुँचा। उसकी छोटी-सी डोंगी और खेनेवाला वह अकेला ही रह गया, क्योंकि चलानेवाले मल्लाह को पीछे छोड़ मैंने अपने साथ दोनों जमींदार भी बैठा लिये और उनमें से एक को चप्पे पर लगा दिया। मैं ऊपर के तख्ते पर डाक के थैले के साथ बैठ गया और शेष कृषकों को नीचे बिठा लिया। जब तक डोंगी उथले खड़े पानी पर चलती रही तबतक सबको आनन्द आता रहा, परन्तु तेज धारा में जाते ही डोंगी डगमगाने लगी तो जमींदारों के होश उड़ गये। चप्पेवाला चक्कर खाकर गिरा। मैंने चप्पा सँभालकर डोंगी ठीक की और डाकिये को कहा कि पतवार मेरे हवाले कर दे, क्योंकि चप्पे पर शायद मैं थक जाऊँ। उसको कुछ सन्देह था परन्तु मैंने उसे जबरदस्ती चप्पे की ओर ढकेलकर पतवार अपने हाथ में ली। अब माँझी ने समझ लिया था कि डोंगी डूबी, परन्तु उसे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मैं तीस व चालीस फीट ऊँची लहरों में से भी उस छोटी डोंगी को साफ निकाल ले गया, क्योंकि मैं छोटी नावों में सैर करते हुए बनारस के निपुण माँझियों से पतवार का सँभालना सीखे हुए था। आठ बजे रात को हम पार किनारे पर लगे। मेरे कृपालु कृषकों के भी होश ठिकाने हुए और मैंने पिता जी की सेवा में पहुँचकर प्रणाम किया।

इस बार की छुट्टियों में शाम को नित्य घोड़े की सवारी होती और हर तीसरा-चौथा दिन शिकार की भेंट होता। इसीमें मैंने क्षत्रियत्व समझ रक्खा था, क्योंकि दशहरे पर पिता जी हथियारों की पूजा श्रद्धा से किया करते थे। यह नहीं कि मैं सिंह या बाघ व जंगली सूअर को मारकर मनुष्य की जान और उनकी खेती की रक्षा करता। मैं केवल निरपराध पक्षियों को धोखे से गोली-छर्रे का शिकार बना-बनाकर ही तीसमारखाओं में नाम लिखवाना चाहता था।

छुट्टियों की समाप्ति पर मैं काशी लौटा और परीक्षा की तैयारी में लग गया। उस समय यह शिक्षा-विभाग की ही परीक्षा थी और इसमें अनुत्तीर्ण होनेवाला एण्ट्रेंस की श्रेणी में उन्नत नहीं किया जा सकता था।

परीक्षा के लिए मेरी तैयारी पूरी थी। नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में सोमवार को परीक्षा का आरम्भ होकर बृहस्पतिवार को समाप्त होनेवाला था और शुक्रवार को मैं अपनी जन्मभूमि (तलवन, जिला जालन्धर) के लिए प्रस्थान करनेवाला था। पिता जी की ऐसी ही आज्ञा आयी थी। लिखा था कि मेरे नाते का शकुन पल्ले डाला जाएगा, इसलिए मुझे माता जी के पास पहुँच जाना चाहिए। मुझसे दो वर्ष बड़े भाई का विवाह, द्विरागमन, त्रिरागमन सब-कुछ हो चुका था और मैं अभी कुमार ही था। क्या मेरे पिता ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करने लग गये थे? नहीं, कारण यह था कि जिस देवी कन्या के साथ बिना देखे-भाले मेरा नाता किया गया था उसका दैवयोग से देहान्त हो गया। यह समाचार सुनते ही तीन वर्ष पहले जालन्धर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्राम ने अपनी लड़की के लिए मुझे

रुकवा लिया था। रुकवाने से मतलब था कि और कहीं नाता न हो। और तो शायद ब्रह्मचर्य के नियमों का उन्हें पता न था परन्तु राय शालिग्राम वर-वधू की आयु में पाँच-सात वर्ष का अन्तर आवश्यक समझते थे, क्योंकि ऐसा न होने की अवस्था का बुरा परिणाम वह कई परिवारों में देख चुके थे। अस्तु, मैं न विवाह का असली उद्देश्य जानता और न नाते के अर्थ समझता था, मुझे यदि उत्सुकता थी तो माता जी से मिलने की।

सोमवार को अंग्रेजी, मंगल को गणित, बुधवार को इतिहास-भूगोल के प्रश्न-पत्रों के उत्तर उत्तम रीति से लिख आया था। बृहस्पतिवार को फारसी का पहला पर्चा ही ऐसा किया था कि वही मेरे अनुत्तीर्ण होने के लिए पर्याप्त था, परन्तु दूसरा पर्चा हाथ में आते ही सुपरिण्टेडेण्ट ने सुना दिया कि अंग्रेजी के प्रश्नपत्र पहले निकल चुके हैं इसलिए उस विषय की परीक्षा फिर आगामी सोमवार को होगी। फारसी का दूसरा पर्चा फिर बहुत अच्छा किया और घर आकर विचार किया कि देश को तार देकर परीक्षा के लिए ठहर जाऊँ। परन्तु तलवन में तारघर था नहीं और माता जी का प्रेम मुझे खींच रहा था। मैं शुक्रवार की शाम को ही चल दिया और आदित्यवार को प्रातः फिल्लौर रेलवे स्टेशन से उतर उसी दिन मध्याह्नोत्तर तलवन पहुँचकर माता जी से आशीर्वाद प्राप्त किया।

पहली स्वतन्त्र यात्रा

मार्ग में यूँ तो बहुत घटनाएँ देखीं, परन्तु उनमें से दो का वर्णन आवश्यक है। अनुभवशून्य होने के कारण गाजियाबाद के स्थान में मैंने इलाहाबाद का टिकेट लिया। न जाने कैसे यह खयाल दिल में बैठ गया कि वहाँ पहुँचकर गाड़ी बदलेगी। इलाहाबाद ट्रेन से उतरकर मुसाफिरखाने में आया। बहुतेरा यत्न किया परन्तु उस गाड़ी का टिकेट न मिला। सिपाही ने अवश्य कहा कि अठन्नी दो तो टिकेट ला दूँ, परन्तु उन दिनों उच्च कोटि की अंग्रेजी पुस्तकें पढ़कर रिश्वत देना अधर्म जँचता था। दो घण्टे पीछे दूसरी गाड़ी आती थी। टिकेट बँटने लगा। मुझे समझाया गया था कि यात्रा में किसी का विश्वास न करना। मैंने दरी कन्धे पर डाली, थैला बाएँ हाथ में लिया और दाहिने हाथ में रुपये लेकर टिकेट लेने को बढ़ा। आध घण्टे की धक्कम-धक्की के पीछे टिकेट मिला और मैं दौड़कर गाड़ी में बैठ गया। डब्बा खचाखच भरा हुए था, इसलिए किसी कपड़े की जरूरत न पड़ी। कानपुर पहुँचते ही सूर्य भगवान् के दर्शन हुए, डब्बा भी खाली हो गया। तब पता लगा कि दरी उड़ गई। मैंने बैग खोलकर नई फर्रुखाबादी फर्द निकाली, जिसमें अभी रुई न पड़ी थी, और उसे बिछाकर आराम से बैठ गया। शाम को गाजियाबाद पहुँचा। वहाँ से फिर नया टिकेट लेकर एक लम्बे डब्बे में बैठ गया। कुछ दूर तक भीड़भाड़ के कारण जाड़ा न लगा, परन्तु जब सहारनपुर सब सवारियाँ उतर गईं और मेरे सिवा

एक ही अन्य यात्री रह गया तो गुलाबी जाड़ा विदा हुआ और ठण्डक जोर से लगी। अब भला फर्रुखाबादी फर्द से क्या काम चलता ? जो नया गवर्नेट का रुईदार अंगरखा शकुन के समय पहरने को दिया गया था उसे पहनकर रात काटी। इससे भविष्य की यात्राओं के लिए मुझे बड़ा अनुभव मिला।

दूसरी घटना ने मुझे आगे के लिए अधिक सावधान होना सिखलाया। मुझे लिखा गया था कि फिल्लौर पहुँचने पर बाबा पंजाबदास के यहाँ उतरूँ, क्योंकि सवारी आदमी-समेत वहाँ मौजूद होगी। उनकी धर्मशाला स्टेशन के पास ही थी। मैं पंजाबदास का नाम तो भूल गया, कुली को कहा कि पंजाबी बाबा के यहाँ ले चलो। वह मुझे एक दूसरे बुर्जवाले बाबा के पास गया। वह तलवन के किसी और धनाढ्य के लड़के की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक-दूसरे ने पूछा भी कुछ नहीं, इसलिए भेद न खुला। विवाहों का जोर था, इसलिए बैल-गाड़ी, टट्टू आदि तो क्या, गदहा भी सवारी के लिए न मिला। मजदूर भी कहीं आस-पास थे नहीं। मक्की की रोटी और सरसों के साग के साथ मक्खन ने आनन्दित कर दिया और छाछ ने उसपर और भी सुहागा फेर दिया। मेरी प्रेरणा पर बाबा जी साथ जाने को तैयार हो गये, क्योंकि अपने जिस यजमान का लड़का मुझे समझे थे उससे बड़ी भेंट की आशा थी। हम दोनों ने अपनी-अपनी बारी ठहरा ली। दस मिनट थैला बाबा जी के कन्धे पर रहता और दस मिनट मेरे हाथ में। कुछ दूर जाकर बाबा जी थक गये तब उन्हें दम दिलाने के लिए कुछ दूर मैं ही ले गया। फिर मेरे डण्डे में थैला लटकाया गया और दोनों ओर हम दोनों लगे। गाँव समीप आते ही लड़कों ने "राम नाम सत्य है" की फब्ती सुनानी शुरू की। अन्त को तलवन समीप आया। मैंने एक कुएँ पर अपनी बिगड़ी हुई शान सुधारी और बैग बाबा जी के सुपुर्द करके सीधा अपने घर जा पहुँचा। माता जी ने मुँह चूमकर बलाएँ लीं। बाबा जी बैग अपने यजमान के घर ले गये जहाँ से बैग-समेत उनको हमारे यहाँ लाया गया और दूसरे दिन शकुन के समय जहाँ बाबा पंजाबदास को चार रुपये और मिठाई मिली वहाँ इन बाबा जी को भी भेंट में उतना ही सामान दिया गया। 'अन्त भला सो ही भला' यह ठीक है परन्तु यदि भूलभुलइया में दोनों न फँस जाते तो मुझे उस दिन तलवन पहुँचना कठिन हो जाता।

शकुन पल्ले डाला गया। माता जी के पास पन्द्रह दिन रहकर मैं पिता जी के पास चला गया और वहाँ से बनारस पहुँचा।

बनारस स्कूल में दूसरा वर्ष और
आवारगी की दूसरी चढ़ाई

अंग्रेजी की संशोधित परीक्षा में मैं शामिल ही नहीं हुआ। उस विषय में शून्य मिलना ही था, इसलिए उन्नति न मिली और मुझे दूसरी श्रेणी में ही रहना पड़ा।

मेरे बड़े भाई कहीं अब चौथी जमात से निकले थे। उन्हें भी पिता जी ने बनारस भेज दिया। मुझसे दो वर्ष बड़े होते हुए वह मुझसे निचले दर्जे में कैसे प्रविष्ट होते? पाँच-छह दिन तो उन्होंने सैर में व्यतीत किये। एक दिन आकर उन्होंने बतलाया कि वह लण्डन मिशन स्कूल में दाखिल हो गये हैं। वह स्कूल प्रातःकाल लगता था। जब मेरे स्कूल जाने का समय होता, उस समय भाई साहब लौट आते। दस-बारह दिन मैं नियमपूर्वक स्कूल गया। फिर पुराने लगभग सब सहपाठियों के ऊँचे दर्जे में चले जाने के कारण उदासी छा गयी। जिन पुस्तकों को पढ़ चुका था उनकी घर में तैयारी की आवश्यकता न थी। नये, नीचे दर्जे से आये लड़कों के साथ बैठने में भी कुछ लज्जा प्रतीत होने लगी। तब मैंने कबाड़ियों की दुकानों पर चक्कर काटने शुरू किये। वहाँ पुराने अंग्रेजी उपन्यासों की भरमार थी। उपन्यास पढ़कर और भी मन डाँवाडोल हुआ। भाई साहब ने मुझे गपशप में फँसाना शुरू किया। एक दिन स्कूल जाने में देर हो गयी। जुर्माना लिखा गया। दूसरे और तीसरे दिन सर्वथा अनुपस्थित रहा। चौथे दिन गया तो सारा पिछला जुर्माना दाखिल करने का हुकुम हुआ। मैंने स्कूल जाना ही बन्द कर दिया और मेरा नाम कट गया, परन्तु न तो इस घटना की पिता जी को सूचना दी और न फिर स्कूल में दाखिल होने का यत्न किया। मई मास में पिता जी को मालूम हुआ कि भाई साहब किसी स्कूल में दाखिल नहीं हुए, केवल सैर-सपाटे में ही समय और धन का व्यर्थ व्यय कर रहे हैं। उनकी भविष्य की पढ़ाई से निराश होकर पिता जी ने उन्हें आज्ञा भेजी कि अपनी धर्मपत्नी को विदा करा लावें। भला जिनके द्विरागमन क्या त्रिरागमन को भी तीन वर्ष से अधिक हो चुके हों उनसे स्कूली पढ़ाई में लगने की आशा कैसे सार्थक हो सकती है? मैंने बहुत-से उपन्यास, जीवन-चरित्र और यात्रा के इतिहास खरीदे और छुट्टी के दिन समीप आने पर पिता जी के पास चला गया। वहाँ मैं तो अपने-आपको उपन्यासों का नायक कल्पना करके हवाई किले बनाता रहा, परन्तु पिता जी ने यह समझा कि बरखुरदार परीक्षा की तैयारी में दृढ़ता से लगा हुआ है। अपनी असाधारण आँखों की ज्योति पर अभिमान करके मैंने पूर्णिमा के दो-तीन दिन पहले और दो-तीन दिन पीछे चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में अन्धी टाइप[1] के उपन्यास पढ़ने का लग्गा लगाया। गर्मियों के दिनों में रात को दीये के प्रकाश पर पतंग बलि चढ़ते हैं और गर्मी भी सताती है। दोनों से बचने का यह इलाज था। यह अभ्यास १० वर्ष तक जारी रहा जिससे दर्शनशक्ति को हानि पहुँची।

स्कूल खुलने के दिनों में मैं फिर बनारस पहुँचा। लौटते ही विचार किया कि दूसरे स्कूल में प्रविष्ट होकर द्वितीय कक्षा की परीक्षा दे दूँ। इसी उधेड़-बुन में अक्तूबर व्यतीत हुआ और दशहरा-दिवाली भी मनाई गयी। इतने में पिता जी कमिश्नर को मिलने आये और मेरे पास उतरे। दूसरे दिन एक बजे कमिश्नर

१. बहुत छोटा टाइप

की कोठी पर मिलने जानेवाले थे। भोजन के पश्चात् पिता जी ने पूछा कि स्कूल कब जाओगे? आज तक झूठे अमल करते हुए भी पिता जी से असत्य भाषण नहीं किया था। उस समय भी सारी सच्ची कहानी सुनाने का विचार हुआ, परन्तु लज्जा ने रोक दिया और मैंने कह दिया कि स्कूल में छुट्टी है। पिता जी एक बजे चले गये। लौटते हुए उनको मेरी कक्षा के लड़के मिले, जिन्होंने मेरे नाम कट जाने का समाचार उन्हें सुना दिया। पिता जी को कितना शोक हुआ होगा, उसका समझना मेरे लिए मुश्किल न रहा जब उन्होंने ठण्डी साँस भरके कहा—"बेटा! मैं तुमपर इतना विश्वास करूँ और तुम ऐसा अविश्वास करो? यदि दिल नहीं लगता था तो मुझे क्यों न लिख दिया?" यदि मुझे कोई दण्ड मिलता तो शायद मेरा दिल पत्थर हो जाता, परन्तु पिता जी का प्रेम एक तरफ और मेरी अयोग्यता और विश्वासघात दूसरी ओर। दोनों की तुलना ने मुझे आठ-आठ आँसू रुलाया। पिता जी ने मुझे दिलासा देकर अलग तो कर दिया, परन्तु मुझे शान्ति कहाँ थी? मुझे संसार अन्धकारमय दीखने लगा। आँसू तो बन्द हो गये परन्तु आँखें पथरा गयीं; न भूख थी और न प्यास। पिता जी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया और मुझे बिल्कुल न छेड़ा। मेरे मन में विचित्र उतराव-चढ़ाव हो रहे थे—'क्या मुझ पापी के लिए अब परमेश्वर की ठण्डी पवन चलेगी? क्या जल मुझे शीतलता प्रदान करेगा? क्या प्रकाश मुझे मार्ग दिखाएगा?' इसी उधेड़बुन में था कि परमात्मा की अपार दयारूपी नियम ने मुझे सुला दिया। प्रातःकाल जब नींद खुली तो चिड़ियों को उसी तरह चहचहाते सुना, गंगा में गोता लगाने पर मन शान्त हुआ और जब झारी-डलिया लेकर देवपूजा के लिए चला तो शीतल वायु के झकोलों ने हृदय फिर प्रफुल्लित कर दिया। विश्वनाथ की परिक्रमा से लौट पिता जी को प्रणाम किया। वह मुझे मथुरा मास्टर के पास ले गये। उन्होंने नाम-मात्र परीक्षा लेकर फिर मुझे दूसरे दर्जे में दाखिल कर लिया।

परीक्षा में केवल एक महीना बाकी था। मैंने गणित, भूगोल, इतिहास भुला दिया था। मेरे कृपालु मौलवी साहब ने गले पड़कर फारसी की तैयारी तो करा दी परन्तु चित्त जो चंचल हो चुका था, उसने शेष विषयों की तैयारी न करने दी। केवल अंग्रेजी और फारसी की तैयारी से कुछ हो भी न सकता था। ऐसी अवस्था में अनुत्तीर्ण होना निश्चित था, इसलिए परीक्षा में बैठा ही नहीं और बनारस कॉलिजिएट स्कूल से नाम कटवाकर अलग हो गया।

रेवड़ी तालाब के स्कूल में

एक वर्ष का स्वतन्त्र जीवन (संवत् १९३२)

अब भरती होने के लिए नये स्कूल की तलाश हुई। मेरी ही कोटि के तीन

और विद्यार्थी या यों कहो कि सुखार्थी—भी इस ढूँढ में लगे हुए थे। लण्डन मिशन (ईसाई) स्कूल तो न जाने क्यों, हमारी नजरों में जँचा ही नहीं। जयनारायण कॉलिज पहुँचकर हमारी मनोकामना सिद्ध होती प्रतीत हुई। इन चारों बिगड़े दिलों का मैं ही नेता था और मुझ—उपन्यासों के कल्पित नायक—को आकर्षण करने के लिए वहाँ सब सामान मौजूद थे। इस कॉलिज की बेतरतीब खुली इमारत, इसके पास ही जंगल का रास्ता और सड़क की दूसरी ओर पुरानी इमारतें मुझे स्वभावतः अपनी ओर खींच रही थीं। सबसे बढ़कर यह कि कॉलिजी कहलाते हुए भी हम सबसे उच्चश्रेणी के विद्यार्थी समझे जा सकते थे। इस संस्था का नाम तो कॉलिज था, परन्तु कॉलिज की सब श्रेणियाँ टूट चुकी थीं और सबसे ऊँची कक्षा एण्ट्रेंस की थी। पादरी हबर्ड इसके प्रिन्सिपल थे जो केवल एण्ट्रेंस को ही इंगलिश साहित्य पढ़ाया करते थे। यह संस्था थी तो ईसाइयों के अधिकार में, परन्तु कॉलिज की कोठी अहातेसहित बंगाली राजा जयनारायण घोषाल ने दान में दी थी इसलिए कॉलिज के साथ उनका नाम चला आता था। स्कूल के चालक तो लकीर पीटते हुए इसे कॉलिज ही कहते चले जा रहे थे, परन्तु सर्वसाधारण ने इसका गुण-कर्मानुसार नामकरण-संस्कार कर छोड़ा था। इमारत के समीप जंगल की ओर एक तालाब था जिसका नाम था "रेवड़ी तालाब"। जनसाधारण ने इसलिए इसका नाम रक्खा था "रेवड़ी तालाब का स्कूल" और कोई-कोई संक्षेप से "रेवड़ी स्कूल" कहते थे। न तो स्कूल में ही रेवड़ी बँटती थी और न तालाब से ही निकलती थी परन्तु नाम यही था।

अच्छा, तो हम पौष संवत् १९३२ के आरम्भ में 'रेवड़ी स्कूल' में प्रविष्ट हो गये। एण्ट्रेंस की कक्षा में लगभग तीस विद्यार्थी थे। प्रिन्सिपल हबर्ड ने दो-तीन दिन पीछे हम सबकी अंग्रेजी भाषा में परीक्षा ली। हम चारों बिगड़े दिलों की अंग्रेजी में योग्यता सबसे बढ़कर निकली। यदि गणितादि में भी परीक्षा होती तो शायद हममें से एक भी इस कक्षा में न रहता। परन्तु प्रिन्सिपल हबर्ड का सम्बन्ध अंग्रेजी के साथ ही था। हमारे लगे के पाँच विद्यार्थी ही और निकले। इसलिए एण्ट्रेंस की कक्षा के दो विभाग किये गये। 'क' विभाग में हबर्ड साहब के चुने हुए नौ और शेष सब 'ख' विभाग में।

अब हम चारों को एक वर्ष के लिए रेवड़ी स्कूल की मशीन के पुर्जे समझ लीजिये। इससे बढ़कर विश्रामघाट मुझ आवारागर्द को इन दिनों कहाँ मिल सकता था! प्रिन्सिपल साहब हमें नित्य अंग्रेजी पढ़ाते थे जिसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता था। एक मास पीछे इनके स्थानापन्न होकर पादरी ल्यूपोल्ट आये अर्थात् बूढ़े शान्त पादरी हबर्ड का स्थान जवान कट्टर पादरी ने लिया। वह अधिकतर अपने सम्प्रदाय के प्रचार में लगे रहते और हमारी कक्षा को सप्ताह में केवल दो बार पाठ पढ़ाते और शेष दिन के लिए उस अन्तर में स्वतन्त्र छोड़ देते।

मुझसे वह अधिक प्रसन्न थे, क्योंकि मैं उनके बतलाये प्रमाणों को अपने विस्तृत स्वाध्याय के कारण शीघ्र समझ लेता था। हमारे गणित के अध्यापक काली बाबू अपने विषय के योग्य ग्रेजुएट थे, परन्तु इनकी आँखें लज्जा से नीचे रहतीं। अपने शिष्यों से कभी लज्जा के मारे कुछ न पूछते और इसलिए हमारी उन्नति वा अवनति का उन्हें कुछ भी पता न लगता। क्लास में से कौन उठ गया, कौन आया और कितने उपस्थित हैं—इसका काली काबू को ज्ञान न होता। इतिहास और भूगोल की तैयारी प्रिन्सिपल साहब ने हमपर छोड़ दी थी। कुछ परिश्रम की आवश्यकता तब होती यदि द्वितीय भाषा फारसी लेता। मैंने इसका भी झगड़ा मिटा दिया और उर्दू को द्वितीय भाषा स्थिर किया। उर्दू के उस्ताद एक शौकीन हकीम साहब थे जिनकी वज़ादारी[1] की एक दुनिया में धूम थी। इलाज न जाने कोई उनसे कराता था या नहीं और उससे उनको क्या मासिक आय होती थी—इसका किसी को ज्ञान न था, स्कूल से अलबत्ता उनको चालीस रुपये मासिक मिलते थे। आप हँसोड़ तो थे ही, कुछ शे'रो-शायरी की टाँग भी तोड़ा करते थे। हकीम साहब थे आदमी को समझनेवाले, इसलिए मुझसे पढ़ने-पढ़ाने की बात तो छेड़ते न थे, सारा घण्टा मनोरंजक बातचीत में ही व्यतीत होता। यदि मैं किसी अन्तर में कभी अनुपस्थित न हुआ तो वह हकीम साहब का घण्टा था।

इतना स्वतन्त्र समय जो हमारे पास था उसका व्यय हम कैसे करते थे? प्रथम तो सारी इमारत का दो-तीन बार चक्कर काटकर किसी-न-किसी अध्यापक को तंग करते और अधिक समय मिलता तो पास के जंगल का पत्ता-पत्ता छान मारते। जब हम जंगल की सैर को जाते तो मास्टरों को बड़ी प्रसन्नता होती, क्योंकि हम लोगों की अनुपस्थिति के समय उनके पढ़ाई के काम में विघ्न न पड़ता। ऐसी अवस्था में स्कूल में उपस्थित होने की जरूरत ही क्या थी? स्वतन्त्रता सीमा का उल्लंघन कर चुकी थी, परन्तु एक और घटना इस समय हुई जिसने स्वच्छन्दता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

अन्धविश्वास के जीवन की समाप्ति

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥[2]

जहाँ प्रातःकाल गंगास्नान से पहले कुश्ती का फिर प्रारम्भ हो गया था और डलिया-झारी लेकर विश्वनाथादि की पूजा-अर्चन करके जलपान करना नित्यकर्म-विधि का एक अंग बनाया गया था, वहाँ सायंकाल-भ्रमण के पीछे सात बजे

१. व्यवहार-शैली।
२. मुण्डकोपनिषद् १। २। ८

विश्वनाथादि के दर्शन नित्य करने के पीछे मैं रात्रि का ब्यालू करता था। पौष १९३२ के अन्त में एक दिन भ्रमण करने ऐसी ओर गया जहाँ से मेरा निवास-स्थान समीप न था। दूर चले जाने से लौटना साढ़े सात बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनों के लिए चला। विश्वनाथ का मन्दिर एक गली में है जिसके दोनों ओर पुलिस का पहरा रहता था। मैं विश्वनाथ की ओर के फाटक पर पहुँचा तो पहरे-वालों ने मुझे रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि रीवाँ की रानी दर्शन कर रही हैं, उनके चले जाने पर द्वार खुलेगा। मुझे कुछ खिसियाना-सा देख पुलिसमैन ने, जो मेरे पिता की अर्दली में रह चुका था, मोढ़ा बैठने को रख दिया। मैं एक पल के लिए बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गये। इस रुकावट से मेरे दिल पर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती। जी घबड़ा उठा, मैं उठा और उलटा चल दिया। पहरेवाले ने बहुत पुकारा, परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मैं कपड़े पहरे ही बिस्तरे पर लेट रहा हूँ। कह दिया कि भोजन नहीं करूँगा। नौकर मेरे आग्रह करने पर स्वयं खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्न-पर-प्रश्न उठते थे—'क्या सचमुच वह जगत्स्वामी का दरबार है जिससे एक रानी उसके भक्तों को रोक सकती है ? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है या वे देवता कहला सकते हैं जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो ? परन्तु मूर्ति को देवता किसने बनाया ? नित्य मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तियाँ बनाते हैं···" कभी व्याकुल होकर दस-बीस मिनट टहलता, फिर बैठ जाता। फिर दूसरी ओर प्रश्नावली की लहर-पर-लहर उठती— "जब सांसारिक व्यवहारों में पक्षपात है तो देवताओं के दरबार में उसका दखल क्यों न हो ? क्या मनुष्यों ने भी पक्षपात देवताओं से ही सीखा ? क्या मेरे स्वच्छन्द जीवन ने तो मुझे अविश्वासी नहीं बना दिया ?" गोस्वामी तुलसीदास के दोहे और चौपाइयाँ याद आने लगीं। जब नीचे लिखे दोहे का स्मरण हुआ तो अश्रुधारा बह निकली—

बार बार बर माँगऊँ, हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग॥

एक घण्टे तक आँसुओं का तार बँधा रहा। अपने इष्टदेव महावीर से प्रकाश के लिए प्रार्थना की। परन्तु उस समय बाल-यति[1] के ध्यान से भी कुछ न हुआ। अन्त को रोना-धोना बन्द हुआ और प्राचीन यूनान, रोम की मूर्तिपूजा के इतिहास पर मानसिक दृष्टि दौड़ गयी। पहले जो लेख मूर्तिपूजा में रुचि दिलाते थे, उनपर नया प्रकाश पड़ने लगा। हिन्दू मूर्तिपूजा के विरुद्ध ईसाइयों की जो दलीलें पढ़ी थीं

१. हनुमान

उन्होंने मुझे हिन्दू देवमाला से बेगाना बना दिया और आधी रात पीछे यह निश्चय करके सो गया कि अपने प्रिन्सिपल पादरी ल्यूपोल्ट से संशय निवृत्त करूँगा।

दूसरे दिन पादरी ल्यूपोल्ट को मैंने जा घेरा। वह बहुत प्रसन्न हुए और मुझे अपनी कलीसिया[1] में लाने के लिए बहुत मगजपच्ची की। मेरे तीन दिनों के प्रश्नों से ही पादरी साहब घबरा गये और मुझे Hopeloss Case (निराशाजनक मामला) समझकर उन्होंने छोड़ दिया। नास्तिकपन से मेरा चित्त अभी तक घबराता था। मुझसे अंग्रेजी पढ़ने बनारस संस्कृत कॉलेज के एक विद्यार्थी आया करते थे। वह दर्शनों का अभ्यास करते और योग्य विद्वान् थे, अंग्रेजी इसलिए पढ़ते थे कि उसके कारण उनकी छात्रवृत्ति तिगुनी हो सकती थी। इन्होंने मुझे लघुकौमुदी पढ़ानी आरम्भ कर दी। व्याकरण में भी इनकी अच्छी गति थी। उनसे भी एक दिन स्वभावत: बातचीत हुई। उनकी युक्तियों ने मुझे शान्त तो न किया, उलटी संस्कृत से ही मुझे घृणा हो गयी। मैंने पण्डित विद्याधर से कह दिया कि संस्कृत में कोई अक्ल की बात ही नहीं और इसलिए अब मैं कौमुदी न पढ़ूँगा परन्तु, पण्डित जी मुझसे सरेस की तरह चिपट गये और थोड़ा-बहुत व्याकरण का बोध कराके ही मुझे छोड़ा। अस्तु !

यह तो आगे की बात है। सारांश यह कि हिन्दू मूर्तिपूजा से मुझे घृणा हो गयी; प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों की दलीलें पोच मालूम हुईं; हिन्दू शास्त्रज्ञ मेरी शान्ति न कर सके, इसलिए कुश्ती और गंगास्नान का नियम स्थिर रखते हुए भी दर्श-स्पर्श से मुक्ति मिल गयी, परन्तु अश्रद्धा की ओर सर्वथा जाने में झिझक बाकी थी।

एक दिन सिकरौर छावनी की ओर घूमने जाते हुए एक रोमन कैथोलिक पादरी मिल गये। बातचीत करते हुए उन्हें प्रोटेस्टेण्ट पादरी ल्यूपोल्ट की अपेक्षा अधिक विनयशील, शान्त और सहिष्णु पाया। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि ख्रीष्टीय मत का तत्त्व जानना हो तो कैथोलिक कलीसिया के सिद्धान्तों को समझना चाहिए। उनके चर्च में मेरा आना-जाना शुरू हुआ। उनकी धार्मिक संस्थाओं तथा प्रार्थनासभाओं का मुझपर विशेष प्रभाव पड़ा। मेरे श्रद्धासम्पन्न चित्त पर फादर लीफूँ के आचार-व्यवहार का भी असर हुआ। मैं यहाँ तक उनपर मोहित हुआ कि रोमन कैथोलिक विधि से बप्तिस्मा लेने को तैयार हो गया। मेरे एक ही मित्र को मेरे निश्चय का पता था परन्तु उन्होंने मुझे रोकने की कोशिश ही न की। फाल्गुन १९३२ संवत् में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बप्तिस्मा लेने की तिथि नियत करने के लिए मैं एक शाम को फादर लीफूँ की ओर गया। स्वाध्याय के कमरे में वह थे नहीं; मैंने अन्दर के कमरे का पर्दा उठाया। पादरी साहब तो वहाँ थे नहीं परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्यव्रतधारिणी (Nun) को ऐसी घृणित दशा में पाया कि मैं उलटे पाँव लौट गया और फिर उधर जाने का नाम न लिया।

---

१. ईसाइयत

मुसलमानी मत की ओर से पहले ही उदासीन था, क्योंकि पिता जी से जो उन लोगों के मुकद्दमे हुए उनमें उनके आचार-व्यवहार कुछ उच्च न देखे गये। मुझे माला और तस्बीह[1] दोनों से ही और 'ईसाई तस्बीह' (Rosary) तीनों से ही घृणा हो गयी और भक्त कबीर का गीत कण्ठ हो गया जिसे मैं स्वरसहित गाया करता—

आउँगा न जाउँगा मरूँगा न जीउँगा
गुरु के सबद प्याला हरि-रस पिउँगा ॥
कोई जावे मक्के लै कोई जावे कासी ।
देखो रे लोगो दोहूँ गल-फाँसी ॥
कोई फेरे माला लै कोई फेरे तसबी ।
देखो रे लोगो ये दोनों ही कसबी ॥
यह पूजें मढ़ियाँ लै यह पूजें गौराँ ।
देखो रे लोगो ये लुट लई चोराँ ॥
कहत कबीर सुनो री लोई ।
हम नाहिं किसी के हमरा न कोई ॥

मज़हब, सम्प्रदाय तथा Religion से मेरा विश्वास उठ गया। मेरा मत यह हुआ कि मज़हब एक ढकोसला है जो चालाक बुद्धिमानों ने आँख के अन्धों और गाँठ के पूरों को फाँसने के लिए गढ़ छोड़ा है। मैं अपने-आपको पक्का नास्तिक समझकर अपने स्वभाव के अनुसार उसपर भी वेग से बह निकला।

पूजा-दर्शन का अंकुश दूर हो ही चुका था, अब श्रद्धाहीन होने के कारण गंगा-स्नान पर क्यों निष्ठा रहनी चाहिए थी? परन्तु नहीं, जो स्वभाव बन चुका था उसका प्रभाव कैसे दूर होता? प्रातःकाल का उठना, कसरत, कुश्ती और गंगा-स्नान बराबर जारी रहे।

माता जी की प्रेमभरी गोद से सदा का बिछोड़ा

शायद वैशाख मास में माता जी तलवन से बलिया जाती हुई मेरे पास ठहरी थीं। उस समय उनके सिर में एक भयंकर फोड़ा था; ज्येष्ठ के मध्य में छुट्टी होते ही मैं बलिया पहुँचा और माता जी के दर्शन किये। बलिया उपनगर को गंगा काट रही थी। हमारा पुराना मकान गंगा जी की भेंट हो चुका था और जो नया मकान नगर के अन्तिम सिरे पर किराये पर लिया था उसके साथ टकराकर गंगा बह रही थी। इन दिनों माता जी ने मेरे साथ अत्यन्त प्रेम का परिचय दिया। अधिक समय मुझे उन्हीं के पास रहना पड़ता था। फोड़े में फिर से पीप भर आयी थी और उन्हें अपने बचने की आशा नहीं रही थी। चलते समय मुझे उस निर्बल अवस्था में ही, गोद में बिठाकर चूम लिया, आशीर्वादपूर्वक शकुन पल्ले में डाल मुझे विदा किया।

१. माला (इस्लामी प्रयोग)

मेरे आँसू निकल पड़े और मैं बड़ा उदास बनारस लौटा।

परन्तु युवकों को उदासी देर तक नहीं सताती। मैं माता जी की बीमारी को भूल गया और 'रेवड़ी स्कूल' के कमरे और आँगन फिर हमारी खिलखिलाहट से गूँजने लगे। मास्टरों का फिर नाक में दम होने लगा। अब तुलसीकृत 'रामचरित-मानस' तो तह करके रख दी गयी और उर्दू साहित्य में प्रवेश होने लगा। उर्दू शाहनामा कई बार समाप्त किया। फसाना-ए-अजायब की भी सैर की, हातिमताई की कहानी और उर्दू शायरों के कलामों में गोते लगने लगे। कविता-सम्मेलनों (मुशायरों) में भी जाने लगे।

श्रावण मास के अन्तिम सप्ताह में प्रसिद्ध भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के यहाँ एक दक्षिणी मार्तण्ड नामी पण्डित आये। वह शतावधानी थे। एक ओर दस-बारह लम्बे-चौड़े हिसाब, दूसरी ओर बीजगणित और त्रिकोणमिति के कठिन प्रश्न, तीसरी ओर विविध प्रश्न और साथ-साथ बातचीत। यह सब-कुछ करते हुए क्रमानुसार सबके ठीक उत्तर देना। बाबू हरिश्चन्द्र कवि भी अद्वितीय समझे जाते थे। सारस्वत ब्राह्मण कक्कू जी के पुत्र ने मेरा उनसे परिचय कराया और उनके यहाँ मेरा आना-जाना आरम्भ हुआ। उर्दू शायरी से प्रेम हो चुका था, हिन्दी कविता का भी रस मिलने लगा। परन्तु इन दोनों का मेरे जीवन पर अच्छा असर नहीं पड़ा। रामचरितमानस के स्वाध्याय ने मेरे आचार-व्यवहार की आवारगी के दिनों में भी रक्षा की थी, परन्तु उर्दू कवियों और भारतेन्दु की संगति में मानसिक पवित्रता का भाव ढीला पड़ने लगा। सामने से कोई सुन्दरी आ रही है। उसको देखते ही उसके शरीर, वस्त्र, चाल-ढाल पर भारतेन्दु जी ने कविता कहना आरम्भ किया और उसके सामने पहुँचने तक पूरा हो गया। कविता का तो यह आदर्श समझा जाता जाता था परन्तु ब्रह्मचर्य्य, सदाचार और मानसिक पवित्रता पर कुल्हाड़े की चोट लगायी जाती थी। आश्विन के आरम्भ में मेरी अवस्था कुछ डाँवाडोल हो चुकी थी। हाँ, सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों का पढ़ना मैंने आरम्भ कर दिया था। रात को न पढ़ने के नियम को मैं तोड़ चुका था और सचमुच इन उपन्यासों को आधी रात तक चिराग जलाकर पढ़ता रहता। स्कॉट के आचार-सम्बन्धी विचारों ने उस अपेक्षया अन्धकार के समय में भी मेरी रक्षा की। ऐसी अवस्था में एक और घटना हुई जिसने मुझे बचाया।

आश्विन का दूसरा सप्ताह आ पहुँचा और मैं एण्ट्रेंस परीक्षा की तैयारी के लिए हिला तक नहीं। ऐसी अवस्था में मेरे भाई मूलराज, जो मिर्जापुर में नायब कोतवाल थे, माता जी की बीमारी का तार लेकर मेरे पास आये। उसी दिन चार बजे मेरे नाम तार आया जिससे ज्ञात हुआ कि माता जी का देहान्त हो गया है। मैं ऐसा ज्ञानविमूढ़ हो गया कि न मुँह से आह निकली और न कुछ बोला। आँखें पथरा-

—१

सी गयीं। आँसुओं ने भी मस्तिष्क हल्का न किया। इष्टमित्र गंगास्नान के लिए ले गये। मेरे मित्र सिंह जी ने १५ दिन की छुट्टी के लिए प्रार्थना-पत्र लिखकर मेरे हस्ताक्षर करा लिये। मुझे गंगा-पार रेलवे स्टेशन पर ले गये। भ्राता जी ने हाथ पकड़कर गाड़ी में बिठा लिया; मुझे कुछ भी सुध-बुध न थी। भाई साहब रो-धो चुके थे, इसलिए सो गये। मैं बराबर जागता बैठा रहा। प्रातः डुमराँव उतरे; इक्के पर बैठाया गया, चुपचाप बैठ गया। भाई साहब ने मेरी समाधि को हिलाने का यत्न किया परन्तु उनको सफलता न हुई। मार्ग में इक्के का कुछ बिगड़ा और डेढ़ घण्टा अधिक लग गया। दो बजे भाई मूलराज-समेत भूख-प्यास में बेसुध बलिया उप-नगर से बाहर छप्परों में पहुँचा जहाँ अन्तिम घर गंगा मैया की भेंट होने पर पिता जी जा बसे थे। इन्हीं छप्परों में माता जी का देहान्त हुआ। पिता जी को अन्य दो भाइयों और मित्रोंसहित शोकगृह में बैठे देखकर एक आह निकली और रोता हुआ मैं उनके चरणों में गिर पड़ा। आँसुओं का समुद्र उमड़ आया। दो घण्टे पीछे होश आया और शरीर की असाधारण खैंच दूर होकर हल्का हो गया।

माता जी की अन्तिम इच्छा का ज्ञान होते ही मुझमें गम्भीरता आ गयी। अन्तिम श्वास के दो घण्टे पहले पिता जी का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा था—"एक ही इच्छा मन में रह गयी—अपने मुंशी का विवाह मैं अपने हाथों से करती। आप भूलना मत, मेरे बच्चे का विवाह उसी हौसले से करना जैसे मैं करना चाहती थी। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मैं अपनी पुत्रवधूसहित उसका ऐश्वर्य देखूंगी। अच्छा, भगवान् की यही इच्छा है तो यही सही!" इसके पश्चात् पिता जी गीता का पाठ करते रहे थे और माता जी ने बिना कोई और बात किये प्राण त्याग दिये थे।

जब क्रियाकर्म से निवृत्त होकर माता जी की इच्छानुसार ब्रह्मभोज और कंगालों को अन्नदान भी दिया जा चुका तो मैं काशी लौटने को तैयार हुआ कि १० अक्तूबर के पीछे परीक्षा की फीस न ली जाएगी तो दुघड़िया मुहूर्त शोधकर मुझे आशीर्वादपूर्वक विदा किया।

परीक्षा की सरतोड़ तैयारी

बनारस लौटते ही मैं स्कूल में गया और प्रिन्सिपल साहब के कमरे के साथ लगता जो पुस्तकालय का कमरा था वह हम चार कॉलिजिएट स्कूल से आये हुओं ने परीक्षा की तैयारी के लिए माँग लिया। जिन मास्टर साहब के पास पुस्तकालय की ताली थी वह खिसियाने होकर बोले—'सालभर तो नाक में दम कर दिया, अब भी नहीं मानते। फेल होकर मुँह काला होगा तो हम तमाशा देखेंगे।' हम चारों ने यह सुनते ही दृढ़ निश्चय कर लिया कि परीक्षा में उत्तीर्ण अवश्य होना चाहिए।

हमारी तैयारी कुछ भी न थी और घरू परीक्षा की आज्ञा हो गई। हमें भय हुआ, परन्तु प्रिन्सिपल महोदय को हमारी योग्यता पर इतना विश्वास था कि परीक्षा ही न ली और हमारी फीस रजिस्ट्रार को भिजवा दी। तब तो हम दृढ़ता से तैयारी में लग गये। इस तैयारी में मेरे केवल १९ दिन लगे। मेरा उन दिनों का समय-विभाग यह था—साँझ को एक घण्टा घूमकर ब्यालू (शाम का भोजन) करना। पूरे सात बजे पढ़ने के लिए बैठकर दो बजे तक बराबर इतिहास के घोटने और रेखागणित के प्रश्न हल करने में लगते चे। फिर सोकर छह बजे उठना, कसरत करके घर में ही स्नान करना और डेढ़-दो घण्टे तक रात के याद किये इतिहास पर एक दृष्टि घुमा जाना—इतने नित्यनियम के पीछे भोजन करके स्कूल ठीक दस बजे पहुँच जाया करता था। दस बजे से पुस्तकालय के कमरे में अंक तथा बीजगणित के प्रश्न चारों मिलकर हल करते। जहाँ कहीं कठिनाई होती कृपालु काली बाबू उसे हल कर देते। अंग्रेजी तो सारा साल ही करते रहे थे, आवश्यकता से बढ़कर उसकी तैयारी थी। उर्दू के दोहराने की कुछ जरूरत ही न थी। भूगोल तो नक्शे के सामने आधा घण्टा नित्य परिश्रम करने से अपना बन गया। पुरानी परीक्षाओं के प्रश्न भी हमने हल किये बिना न छोड़े।

जब परीक्षा में चार दिन शेष रह गये तो हमारे प्रिन्सिपल महोदय ने एक व्याख्यान दिया जिसमें परीक्षा के सब नियम बतलाकर कहा कि परीक्षा से एक-दो दिन पहले परिश्रम छोड़कर आराम लेना चाहिए जिससे उत्तर लिखते समय शरीर स्वस्थ रहे। मैंने अपने प्रिन्सिपल की शुभ सम्मति का इतना आदर किया कि परीक्षा से तीन दिन पहले ही पढ़ना-लिखना छोड़ व्यायाम, मटरगश्त, भोजन और आराम में सारा समय व्यतीत किया। मेरे साथियों ने अन्तिम घण्टे तक पढ़ना न छोड़ा। फल यह हुआ कि जहाँ मैं सेकण्ड डिविजन में प्रथम रहा, वहाँ मेरे साथी अनुत्तीर्ण रहे। जब हम दोनों 'रेवड़ी स्कूल' के अध्यापकों से मिलकर विदा हुए तो दोनों ओर से बड़े उत्तम भावों का प्रकाशन हुआ था।

क्वीन्स कॉलिज में पहले छह महीने

(माघ से आषाढ़ संवत् १९३३ तक)

कॉलिज की प्रथम वर्षीय कक्षा में प्रवेश से पहले ही कुछ परिवर्तन आ चुके थे, जिन्होंने मुझे उन दिनों के खयाल के अनुसार कॉलिज-जीवन के योग्य बना दिया था। परीक्षा के पीछे जब बड़े दिन की छुट्टियों में बलिया गया तो तलवन के नत्थू-मल रोजगार की तलाश में पिता जी के पास आये हुए थे। उन्होंने मुझे हुक्का पीना सिखलाकर पिता जी की कृपा का प्रत्युपकार किया। पन्द्रह दिनों में ही सारी घृणा दूर हो गयी जो पहला कश खींचते हुई थी और कॉलिज में दाखिल होने से पहले

ही मैंने फर्श पर एक शानदार पेचवान लगवाकर अकेले ही महफिल गरमाना शुरू कर दिया था। मित्रमण्डल के लिए भी गोरैए (मिट्टी के हुक्के) अलग-अलग नाम लिखे रक्खे रहने लगे। धीरे-धीरे मेरी बैठक का कमरा हुक्काइयों का अड्डा बन गया और शाम को दरबार होने लगा।

इन्हीं दिनों एक रात किसी मित्र के यहाँ सहभोज था। भोजन और 'हाहू' करते रात अधिक व्यतीत हो गयी। दस बजे घर की ओर लौटा जो आध मील पर था। तेज चलते हुए भी पाव घण्टा और लग ही जाना था। मैं अपने मकान की ओर जब अन्तिम गली के मोड़ से निकला तो आगे एक छती हुई गली थी। उसके नीचे एक गुण्डा छुरी लिये किसी पर वार करने की घात में खड़ा था। मुझपर शायद उसी व्यक्ति का उसे सन्देह हुआ। बढ़कर उसने एक हाथ मेरे सिर के पीछे रक्खा और दूसरे हाथ से माथे की बायीं ओर छुरी भोंक दी। गुण्डे का हाथ गर्दन पर जाने की देर थी कि मेरा हाथ भी अपनी कमर की छुरी पर पड़ा और अभी उसकी छुरी मेरे माथे पर आधा काम ही कर सकी थी कि मेरी छुरी उसकी छाती पर जोर से पड़ी। गुण्डा मुझे छोड़कर भाग खड़ा हुआ। मेरे माथे से लहू बहने लगा। मकान समीप था। पहुँचते ही पण्डित जी ने रेशम जलाकर मेरे घाव में ठोंसा और मुझे गरम दूध पिलाकर सुला दिया।

यह पण्डित जी कौन थे? यह बतलाना आवश्यक है। मेरे मकान की मालकिन एक धनाढ्य खत्री साहूकार की विधवा थी। पति मर चुका था, सन्तान कोई थी नहीं और भरपूर युवावस्था। जायदाद सम्बन्धियों की आर्थिक सहायता और गुप्त भोग-विलास में बेचकर समाप्त की। अब भी बुढ़ापे में अपने रहने का बड़ा और मेरे पास किराये पर छोटा—दो मकान शेष थे और बहुमूल्य आभूषण थे जिनको बेच-बेचकर गुजारा करती थी। मेरी मरहमपट्टी करनेवाले इसी विधवा के कारिन्दे थे—पण्डित रामाधीन; मैथिल ब्राह्मण थे और कुछ चिकित्सक होने के अतिरिक्त जादूगर भी प्रसिद्ध थे। आगे इनका भी प्रसंग आएगा।

कुछ तो ऊपर लिखित कारणों और कुछ रेवड़ी स्कूल में एक गुण्डे (Bully) लड़के से कुछ बंगाली विद्यार्थियों की रक्षा करने के कारण, मैं कॉलिज में प्रविष्ट होते ही एक विशेष दल का नेता बन गया। इस समय तक अंग्रेजी के स्थानापन्न प्रोफेसर डाड ने नियमपूर्वक डिग्री न ली थी। वह लेभज्ज ही थे। एक समय पाठ में एक ऐतिहासिक घटना का जिक्र आया जो साधारण ऐतिहासिक पुस्तकों में न मिलता था। डाड साहब ने उस संकेत की व्याख्या दूसरे दिन पर छोड़ी। मैंने उसी समय एक ऐतिहासिक उपन्यास लाकर वह घटना दिखला दी। कॉलिज में मुझे अंग्रेजी में कुछ परिश्रम नहीं करना था। शेष इतिहास, न्याय (लॉजिक) और फारसी मेरे लिए कठिन न थे। गणित में विशेष परिश्रम करने लगा। बीज और रेखागणित का तो ऊपर से भी पर्याप्त अभ्यास करता रहा परन्तु त्रिकोणमिति से

मेरी आरम्भ में ही अनबन हो गयी। मैंने अंक, बीज और रेखागणित के द्वारा ही एफ० ए० पास करने का निश्चय कर लिया।

मेरे कॉलिज के मित्र

पहली छमाही के अन्दर ही 'गाढ़ी कम्पनी' की बुनियाद पड़ गयी थी। उसके सभासदों का परिचय यहाँ ही करा देता हूँ। पशुपतिशरणसिंह तो 'रेवड़ी स्कूल' से ही मेरे साथ आये थे। उनके पिता नेपाल रेजिडेंसी के हैडक्लर्क थे। वह पीछे स्वयं पिता के स्थान में नियत हुए। उन्नति करके अलवर के नायब रेजिडेंट और राय-बहादुर तथा सी० आई० ई० बनकर उनका देहान्त हुआ। जब संवत् १९५१ में मैं अलवर गया था, तो वह मुझे मिले थे और अपने बंगले पर ले-जाकर पुरानी मित्रता को ताजा किया था। इनका नाम 'सिंह जी' रक्खा हुआ था। दूसरे पक्के सभासद् दयाशंकर जी थे। सिंह जी राजपूत और दयाशंकर जी कायस्थ कुलभूषण थे। इनके पितामह तथा पिता महाराजा बनारस के यहाँ नौकर थे, इसलिए उनको 'दीवान जी' की उपाधि दे छोड़ी थी। सिंह जी साँवले और लम्बे थे, दीवान जी नाटे और गोरे। सिंह जी की दाढ़ी लम्बी, काली, दीवान जी की चौगिर्द भूरी; सिंह जी का मुख गम्भीर, दीवान जी का शरीर सुडौल, दृढ़, बड़े हँसमुख, धार्मिक और दिल्लगी-बाज। उनके मजाक में कभी अश्लील विचार व शब्द की गन्ध नहीं होती थी। बी० ए० पास करके यहाँ तक बढ़े कि महाराज बनारस के यहाँ सचमुच के दीवान हो गये और फिर बनारस के स्पेशल मजिस्ट्रेट। बिछुड़ने के पीछे सन् १९१२ में भागलपुर जाते हुए मैं उन्हें मिला था। हमारा तीसरा सभासद् हरिपद मुकर्जी था। रेवड़ी स्कूल में एक अक्खड़ विद्यार्थी के अत्याचारों से मैंने कुछ बंगाली लड़कों को बचाया था, उनमें हरि मुख्य था। वह मेरा मित्र बन गया और एक दिन मकान पर ले गया। उसके पिता कलकत्ता में कारबार करते थे और पितामह काशी-निवास के लिए बंगाली टोला में टिके हुए थे। उन्हीं के कारण हरि काशी में रहता था। जैसा लाहौरी टोला पंजाबियों का मुहल्ला था, वैसे ही बंगाली टोला बंगा-लियों का मुहल्ला था। हरि के वृद्ध पितामह ने जब सुना कि उनके पौत्र की मैंने रक्षा की थी तो मेरे साथ उनका स्नेह हो गया। हरि हमारा कोषाध्यक्ष था, क्योंकि घर से अधिक धन इसी को मिलता था और इसलिए हमारा (गाढ़ी कम्पनी का) कोष कभी खाली नहीं रहता था। पुरानी मित्रता को नवजीवन देने मेरे पास दो-तीन महीने के लिए वह गुरुकुल आने को ही थे कि उनका देहान्त हो गया। चौथा एक परचून के दूकानदार खत्री का भाई था जो रेवड़ी स्कूल में सहपाठी होने के कारण परिचित हुआ। दूकान के दौने बनाते और साथ-साथ इतिहास रटते और इसपर भी भाई की लातें खाते देखकर मेरी दृष्टि में इसका मान बढ़ा। एण्ट्रेंस परीक्षा की फीस के दस रुपये तक भाई ने न दिये। तब हम लोगों (मैं, हरि और सिंह जी) ने

चन्दा करके उसकी फीस दाखिल कर दी। संस्कृत में अभी से इतना योग्य था कि श्लोक बना लिया करता था और गणित के लिए तो मानो उसका मस्तिष्क बना ही था। इस विचित्र व्यक्ति का नाम रामकृष्ण था और हम लोग इसको आपस में 'मलवा' कहकर पुकारा करते थे, परन्तु 'गाढ़ी कम्पनी' से बाहर उन्हें 'मल्ल जी' की उपाधि दे रक्खी थी। बी०ए० में फेल होकर, (क्योंकि अंग्रेजी में सदा कच्चे ही रहे) इन्होंने अकाउँटेण्ट बनने के लिए परीक्षा दी और अनुत्तीर्ण रहे गणित में, जिसके वह उस्ताद थे। चाकरी से घृणा हुई और तब व्यापार की ओर लगे। आप भी धनी बने और भाई को भी अमीर बना दिया। इन्हीं ने पहले ताश और शतरंज पर पुस्तकें छपवाई थीं और फिर प्रेस खोलकर 'भारत-जीवन' अखबार चलाया। इनको अन्तिम बार मैं सन् १८८६ में मिला था। अब वह भी भौतिक शरीर को त्याग चुके हैं।

पाँचवें गंगाप्रसाद थे जो घर पर बी० ए० की तैयारी कर रहे थे। उनका परिचय सिंह जी द्वारा ही हुआ था और वह हमारे नित्य के साथी भी न थे। यह ग्रेजुएट होकर मुंसिफ बन गये थे और फिर कभी मुझे नहीं मिले। सिंह जी छुटकी (छोटी) पियरी में रहते थे, गंगाप्रसाद भी उसी मुहल्ले के निवासी थे। इसके सिवाय पण्डित रामजसन का घर भी उसी पियरी में था और उनका हमारे सिंह जी के पिता से बहुत गाढ़ा सम्बन्ध था। इसलिए उनके यहाँ मेरा जाना भी हुआ।

पण्डित रामजसन के तीसरे पुत्र रमाशंकर मिश्र उन दिनों एम० ए० की तैयारी कर रहे थे। उनका विषय गणित था। सिंह जी से 'गाढ़ी कम्पनी' का हाल सुनकर वह भी उत्सुक हुए और उन्हें भी अस्थिर सभासद् बनाया गया, अस्थिर सभासद् इसलिए कि वह नित्यप्रति हमारे भ्रमण में शरीक न होते थे। रमाशंकर एम० ए० होते ही बनारस कॉलिज में गणित के स्थानापन्न प्रोफेसर बने। वहाँ से सर सय्यद अहमद ने उन्हें अपने मोहम्मडन एंग्लो-ओरियण्टल कॉलिज में पूरा प्रोफेसर नियत करके बुलाया। फिर वह स्कूलों के बड़े निरीक्षक बनाये गये और अन्त में रियायती हिन्दुस्तानी सिविल सर्विस में लिये जाकर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटी तक पहुँचे थे। इन्हें मैं सन् १८७९ में अलीगढ़ में मिला था। फिर भेंट न हुई और अब उनका भी देहान्त हो चुका है।

यह थी 'गाढ़ी कम्पनी' जिसका निर्माण सन् १८७६ की पहली छमाही में हुआ। हम लोगों ने अपनी नयी सांकेतिक भाषा गढ़ी थी, जिसमें 'चंगत, मंगत और पंगत' आदि शब्दों के प्रकरणानुकूल बीसियों प्रयोग होते थे। हम सबमें दो उपन्यास-लेखक बने, एक दीवान साहब और दूसरा मैं। दीवान साहब ने तो अंग्रेजी उपन्यास-लेखक डिकेंस को अपना पथदर्शक बनाया और मैंने सर वाल्टर स्कॉट को गुरु धारा। आदित्यवार दिन को मेरे घर पर दरबार लगता, जहाँ हुक्का पीते हुए केवल ताश और शतरंज के ही साम्मुख्य न होते, हमारी शतरंज-क्लब (जिसके प्रधान

प्रसिद्ध अम्बिकादत्त व्यास और मन्त्री बाबू रामकृष्ण थे) केवल लन्दन के चित्रमय पत्र[1] में दिये शतरंज के प्रश्नों के हल करके ही कभी-कभी पारितोषिक प्राप्त न करती, प्रत्युत हम दोनों नाविलनवीसी में कलम घिसानेवालों की करतूतों की भी पड़ताल होती। उस दिन चक्कर भी लम्बा लगता। पहली छमाही समाप्त हुई। अब मैं कॉलिज में था, इसलिए एक के स्थान में दो मास का बृहदवकाश मिला और मैं पिता जी के पास बलिया चला गया।

बलिया में अन्तिम दो मास

बलिया में गया तो था अपने पास पुस्तकों की जबरदस्त तैयारी के मंसूबे बाँधकर और उपन्यास के लेख पूरा करने का विचार भी था, परन्तु यह सब तो कुछ हुआ नहीं, उलटी आवारगी बढ़ गयी। जाते ही दारोगा हाफिज अली के बुलाये पहलवानों के दंगल देखता रहा। फिर गणित को ताक में रखकर केवल ऐतिहासिक पुस्तकों और उपन्यासों के देखने में ही समय नष्ट होने लगा। शाम के चक्कर काशी की अपेक्षा भी लम्बे लगने लगे। बलिया में हिन्दुस्तानी मुंसिफ और तहसीलदार के अतिरिक्त एक अंग्रेज जण्ट साहब[2] की भी कचहरी थी। रिचार्ड इवंस उन दिनों जण्ट साहब थे और उनको भी सायंकाल के भ्रमण का व्यसन था। मेरी उनसे मार्ग में भेंट होती। मेरे साथ अंग्रेजी साहित्य की बातचीत करके उन्हें प्रसन्नता होती, क्योंकि वहाँ उन दिनों अन्य कोई भी उनके विचारों के साथ सहानुभूति रखनेवाला नहीं मिल सकता था। स्कॉट के वह भी भक्त थे और मेरी तरह ही अविवाहित। परस्पर औपन्यासिक भंग गाढ़ी छनती थी और शायर का यह कहना ठीक घटता था—'खूब गुज़रेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।'

इस बार बलिया में आनन्द तो बहुत रहा और हवाई किले भी आश्चर्यजनक बनाता रहा, परन्तु दो प्रकार की हानि भी हुई। एक तो मुंसिफ साहब के साथ घोड़ागाड़ी में सैर के लिए जाने से प्रातःकाल का व्यायाम बन्द हो गया और दूसरे बलिया से चलते समय मुझपर उदासी छा गयी। ज्वर की ऋतु भी आ गयी थी। बनारस पहुँचकर कोई मित्र न मिला। सिंह जी बीमारी के भ्रम में फँसकर अपने गाँव चले गये थे, हरि कलकत्ते चला गया था, दीवान साहब के साथ बहुत गाढ़ा सम्बन्ध नहीं हुआ था और मल्ल जी तो शुष्क चीनी-आटे का भाव बतलानेवाले ही थे। मुझे ज्वर के कारण कुछ निर्बलता हो गयी और मैं दशहरे की छुट्टियों से एक सप्ताह पहले ही अवकाश लेकर फिर बलिया चला गया।

इस बार आनन्द के स्थान में कुछ मानसिक कष्ट ही रहा और मैं उकताकर

१. The London, Illustrated News
२. Joint Magistrate

लौटना चाहता था कि पिता जी के नाम लॉर्ड लिटनवाले दिल्ली दरबार[1] के पुलिस-कमान अफसर के पास जाकर काम करने का हुक्म आ गया। उन दिनों शिक्षा-विभाग की प्रान्तिक परीक्षाएँ नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में होती थीं। पिता जी ने मुझे आज्ञा दी कि परीक्षा से निवृत्त होकर मैं भी उन्हें दिल्ली में मिलूँ और यदि मेरी यह इच्छा पूरी हो जाती तो शायद उस जादूगर (ऋषि दयानन्द) के पंजे में फँस जाता जिससे दस बरस पहले माता जी ने मुझे बचाने का प्रयत्न किया था, परन्तु मुझे तो अभी बहुत ठोकरें खानी थीं, इसलिए डुमराँव पहुँचते ही पिता जी को तार मिली कि वह दिल्ली न जाएँ, क्योंकि एक डाके के मुकद्दमे में उनसे सहायता लेने की आवश्यकता है। पिता जी बलिया लौट गये और मैं काशी पहुँच गया।

काशी में अन्तिम बार

(सन् १८७६ के दशहरे से जून १८७७ ई० तक)

पाप-सागर में डूबने की कहानी

निवास-स्थान पर पहुँचते ही मित्रों के यहाँ चक्कर लगाया। सिंह जी अबतक गाँव में थे; और कोई मिला नहीं, क्योंकि दशहरे की छुट्टियाँ बाकी थीं। मैंने अखाड़े में जाना और गंगा-स्नान फिर आरम्भ कर दिया। उसी स्थान में उस सरल पवित्र भाव के नाश के सामान पैदा हुए जिसे माता के स्मरण और पिता के जीवन-दृष्टान्त ने नास्तिकपन और आवारगी के भयानक समय में भी सुरक्षित रक्खा था। अभी दो दिन कुश्ती की थी, तीसरे दिन प्रातः नियत समय पर गया तो अखाड़े में सुनसान थी। पूछने पर पता लगा कि बृहस्पतिवार का अनध्याय है। मैंने सोचा कि गंगा-किनारे ही एक-आध मील टहलूँ तो स्नान करके घर लौटूँगा। धोती आदि घाटिये के पास रख दी और राजघाट की ओर चल दिया। मणिकर्णिका से आगे बिन्दासिंह पहरेवाला मिला। उसके पूछने पर आगे जाने का कारण बतला दिया। कुछ दूरी पर सेंधिया घाट है। वह गंगा की बाढ़ से हिल चुका था और उसके नीचे एक गुफा-सी बन गयी थी। उसमें कुछ काल से एक नंगा साधु रहता था जो एक समय ही भोजन करता था और वह भी नियम से जो पहले भोजन लाता उसी को स्वीकार करके फिर शेष किसी की भेंट स्वीकार न होती। इसीलिए सैकड़ों स्त्री-पुरुष उत्तम-से-उत्तम भोजन तैयार करके ले जाते। अस्तु ! सेंधिया घाट के पास पहुँचा ही था कि एक चीख की आवाज सुनायी दी। दौड़कर गुफा के पास गया तो किसी स्त्री का सिर बाहर धरती से लगा और उसकी दोनों बाहें द्वार के दोनों

१. इसी दिल्ली-दरबार में ऋषि दयानन्द ने सर्वधर्म-सम्मेलन आयोजित किया था। —सम्पादक

ओर गड़ी हुई दिखाई दीं। अन्दर से कोई उसको खींच रहा था और वह बाहर निकलने का यत्न कर रही थी। मैंने जाकर लातें चट्टान में मजबूती से लगायीं और उसकी दोनों बाहुओं को दोनों हाथों से पकड़कर खेंचने लगा। परन्तु अन्दर का पिशाच बड़ा बलवान् और कामान्ध प्रतीत होता था। बेचारी अबला का दम घुट रहा था। मैंने बिन्दासिंह को पुकारा। उसने आकर मुझे दृढ़ता से पकड़ लिया और मैंने दुष्ट को डाँट बतलाते हुए उस विवश पीड़ित देवी को बाहर खींच लिया। उसकी आयु १६ वर्ष से अधिक न थी। मैंने उस मूर्च्छित देवी को अलग किया तो एक और अधेड़ स्त्री पास आ गयी। मैंने उसे पहचाना कि हमारे कुल के परिचित एक खत्री ग्रेजुएट की भौजाई है। मेरे परिचित ग्रेजुएट का कल्पित नाम देवीप्रसाद समझ लीजिए। पता लगा कि जिस देवी के सतीत्व की रक्षा की गयी है वह देवीप्रसाद की दूसरे विवाह की स्त्री है। यह पीछे से पता लगा कि पति महाशय तो वकालत परीक्षा की तैयारी में अलग लगे रहते हैं और भौजाई को यह फिक्र है कि उनकी देवरानी के सन्तान होनी चाहिए, इसलिए तीन बजे तड़के ही खोये की मिठाई और पूरी आदि का थाल हाथ में देकर सरलहृदय राजरानी को गुफा में भेजकर बाहर खड़ी हो गयी। राजरानी के कपड़ों के चिथड़े उड़ गये थे, शरीर में रगड़ों से लहू बह रहा था, और वह काँप रही थी। मैंने बानात की चादर ओढ़ी हुई थी। उससे देवी का सारा शरीर ढक दिया और जो भीड़ जमा हो रही थी, उससे बचा, दोनों देवियों को घर पहुँचाकर देवीप्रसाद को चौकन्ना कर आया।

घाट पर लौटा तो उस नंगे पिशाच को जूतों की मार पड़ रही थी और पुलिस के जमादारादि आ गये थे। एक भली देवी की इज्जत का सवाल था। मेरे कहने पर उस पिशाच से नाक रगड़वा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नहीं लौटेगा, पुलिसवाले उसे राजघाट से पार पहुँचा आये, परन्तु हिन्दू समाज की विचित्र अन्धी श्रद्धा का मुझे उस समय पता लगा जब सन् १८८१ ई० के अगस्त मास में गाजीपुर जाते हुए मैंने बनारस ठहरकर उसी दुष्ट पिशाच को घाट के मार्ग में नंगे बैठे और स्त्री-पुरुषों को उसकी उपस्थेन्द्रिय पर जल-पुष्पादि चढ़ाते देखा। प्रयागदत्त जमादार को जब पूछा तो उत्तर मिला 'अरे बाबू ! धर्म का मामिला ठहरा। अंग्रेज हाकिमों कतरा जात बाटैं !'

इस घटना को मैंने अपने सरल-पवित्र भाव के नाश का सामान क्यों लिखा ? घटना तो मेरे मन और आत्मा को उच्च बनानेवाली थी, परन्तु नास्तिकपन की लहर और पुराने अंग्रेजी उपन्यासों के विचित्र आचारशारस्त्र ने मन की अवस्था

बदल छोड़ी थी। मैंने अपने-आपको एक वीर रक्षक[१] समझ लिया जिसने एक पीड़ित देवी[२] की रक्षा की। अब उस अवला देवी को अपनी प्रिया[३] की उपाधि मन-ही-मन में दे ली और अपने-आपको उसका सदा का रक्षक[४] कल्पित कर लिया। उन्हीं दिनों मेरे मामू महाशय ने मुझे कुछ-कुछ मद्यपान का अभ्यास शुरू करा दिया था। अब तो मैंने मद्यप वीर का पूरा रूप धारण कर लिया। यदि उस 'रामचरित-मानस' पर से श्रद्धा न उठ गयी होती जिसमें सीता के आदर्श पातिव्रत पर मैंने बार-बार पवित्र अश्रुधारा बहाई थी तो मुझे निश्चय है कि उस गढ़े से बच जाता जिसमें गिरने के पीछे मुझे घोर प्रायश्चित्त करने पर ही शान्ति प्राप्त हुई थी।

यदि अपने प्राचीन इतिहास पर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्रीजाति का रक्षा-बन्धन भाई बनकर उनकी रक्षा का व्रत लेता, परन्तु मैंने तो अपनी सभ्यता को जंगलीपन और अपने साहित्य को मूर्खता का भण्डार समझ रक्खा था, फिर उनसे मुझे सहायता कब मिल सकती थी !

दो-तीन दिन बीत गये। मेरे पास के मकान में, भोई बीबी के यहाँ, एक सम्बन्धी अपनी युवा पत्नीसहित ठहरा हुआ था। दशहरे के प्रातः विजयादशमी का नहान था। चार घड़ी रात रहते ही मैं धोती-उपरना बगल में ले, गंगा जाने के लिए निकला। दो कदम नहीं गया था कि एक युवा स्त्री भीड़ से घबड़ाकर दूसरी ओर से इधर हुई। एक दुष्ट ने उधर उसपर हाथ डाला। मैंने देखते ही जोर से उसके मुँह पर थप्पड़ मारा और वह दीवार के आश्रय गिरता-गिरता बचा। वह स्त्री घबड़ाई हुई आगे जाने से डरती थी। मैं उसे अपने मकान में ले आया और तब पता लगा कि उसके पति आगे निकल गये हैं। मैं उसे छोड़कर गंगा-तीरे गया। उसका पति उसे तलाश कर रहा था। मैंने उसे शान्त किया और नहा-धो उसको साथ लाकर उसकी पत्नी से मिला दिया। मेरा नौकर दो दिन से छुट्टी पर था। मैं पूरी लाकर खाना चाहता था। दोनों पति-पत्नी भोई बीबी के यहाँ से मेरे मकान में आ गये। भोजन उसी महिला ने बनाया और हम सबने खाया। मेरे मकान के नीचे बड़ी खुली बैठक थी जहाँ आदित्यवार का विशेष और नित्य साधारण दरबार लगता था। उसके ऊपर की मंजिल में उतना ही बड़ा कमरा था जिसमें मैं सोया और पढ़ा करता था। तीसरी छत पर एक ओर रसोईघर और दूसरी ओर चौबारा था। मैं अपनी बैठक में चला गया। तीसरे पहर उस सधवा स्त्री का पति दशहरा देखने चला गया। मैं सिंह जी को लेकर दशहरा देखने जाना चाहता था, परन्तु उनको अभी बीमारी का भ्रम था और वह फिर गाँव को जा रहे थे। उन्हें गाँव के लिए विदा करके उदासीन हो, छह बजे के लगभग घर आया। उस समय प्रलोभन में फँस गया। हा ! बरसों की कमाई एक घण्टे में डूब गयी। उस रात मैंने भोजन

१. Knighterrant, २. Distressed Lady, ३. (Lady Love)
४. Champion

नहीं किया। रात को व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रातः 'रामचरितमानस' का फिर स्मरण आया। गंगा-स्नान के पीछे कह दिया कि मैं अपने मित्र के ग्राम को जाता हूँ।

प्रायश्चित्त का आरम्भ

बड़ी-से-बड़ी आवारगी में भी जो मन और शरीर शुद्ध रहे थे वे अशुद्ध हो गये। धोती-कुर्ता पहने था ही; सिर पर टोपी रक्खी, गले में दुपट्टा छोड़ा और हाथ में धोती-उपरना समेट बैग लेकर चल दिया। सिंह जी के घर से मार्ग दिखाने के लिए उनके भृत्य को साथ लिया। वह सीधा मार्ग दिखाकर लौट गया। ग्राम चार कोस था। बारह बजे पीछे, बिना अन्न-जल लिये, अपने मित्र से जा मिला और जाते ही अपनी गिरावट की कहानी सुनायी। मित्र को अपनी बीमारी भूल गयी, मुझे शान्त करने में लग गये। सब सुनकर मुझे निर्दोष बतलाया। इस प्रकार तसल्ली कठिन थी। सिंह जी स्वयं विवाहित थे और गम्भीर भाव के सदाचारी। उन्होंने विवाह से पूर्व की अपनी व्यवस्था सुना और पाप का प्रायश्चित्त बतलाकर मुझे शान्त किया। मेरे आत्मिक रोग की चिकित्सा में धर्मभाई का शारीरिक रोग आप-से-आप दूर हो गया। दूसरे दिन इकट्ठे ग्राम में रहे, तीसरे दिन हम दोनों लौट आये, फिर कॉलिज जाना आरम्भ किया और 'गाढ़ी कम्पनी' के लम्बे भ्रमणों में सब-कुछ भुला दिया।

काशी लौटने के दूसरे दिन देवीप्रसाद मिले। मालूम हुआ कि मेरे पीछे दो-तीन बार आ चुके हैं। उन्होंने बतलाया कि उनकी धर्मपत्नी मुझे भोजन के लिए निमन्त्रण देती है। मैं झिझका, तब उन्होंने कहा कि अपनी भौजाई की कर्तूत देख वह भाई से जुदे हो गये हैं और अब अपनी माता के साथ रहते हैं। असल मतलब परिवार का यह था कि मेरा धन्यवाद करें। मैं दूसरे दिन उनके यहाँ गया, परन्तु कुछ फल लेता गया। प्रातः सीताहरण की कहानी फिर से पढ़, आँसू बहा, हृदय को शुद्ध कर चुका था। जाते ही फल रखकर कहा—'बहन राजरानी! तुम्हारे लिए फल लाया हूँ।' राजरानी पर इसका क्या असर हुआ, उसका वर्णन पीछे उसके पति ने किया। फिर दीवाली के पीछे भाईदूज आयी। मेरी यज्ञोपवीत के समय की धर्मबहन उस समय काशी में न थी। वह प्रत्येक भाईदूज पर मेरे माथे में टीका लगा, हाथ में मौली बाँध, पल्ले में मिठाई डाला करती थी। मुझे धर्मबहन का कुछ खयाल आया और काम में लग गया कि इतने में अपनी साससहित राजरानी पहुँच गई—'भैया! भाईदूज पर टीका करने आयी हूँ।' यह शब्द सुनते ही मैंने सिर पर टोपी रख गले में दुपट्टा ले लिया। नयी धर्म-बहन ने टीका लगाया, रक्षा का व्रत दिया और मिठाई आगे की जो मैंने श्रद्धा से ग्रहण की। फिर दो रुपये भेंट देकर भगिनी को विदा किया। मानसिक प्रायश्चित्त अभी से शुरू हो गया। उसके पश्चात्

मैंने स्त्रियों को मिलने से बचना आरम्भ कर दिया और माता जी के परिचित परिवारों में जाना भी त्याग किया।

मद्य-मांस के साथी

इस बार दीवाली पर मैथिल पण्डित की प्रेरणा से मैं उसके बैठाये जुए के फड़ पर जा पहुँचा। काशी में उन दिनों दीवाली के सम्बन्ध में सरकारी ढिंढोरा पिट जाता और चार दिन खुले वन्दों जुआ खेला जाता। फड़दार प्रत्येक सोलह गण्डे की जीत पर दो पैसे 'नाल' के लेकर बर्तन में डाल ही लेता, परन्तु नाल से तिगुनी-चौगुनी जमीन बढ़ जाती। जमीन कैसे बढ़ जाती? फड़दार ने पैसों का ढेर लगा दिया। उसी में से पैसे काटकर बाजी लगानी पड़ती। सोरही (सोल्ही) अर्थात् सोलह कौड़ी बारीवाले के हाथ में है। "तीन जी, पाँच जी, चार जी, छह जी" कहकर बाजी बदी जा रही है। सोरही फेंकी और शोर मच गया—"वह मारे पाँच!" चार-छहवाली पैसों की ढेरियाँ तो फड़ में डाल दी गयीं परन्तु तीन-पाँच-वालों का हिसाब होने लगा। फड़दार ने शीघ्रता से पैसे गिने, कई स्थान में तीन पैसे का आना गिना और एक-आध गण्डा वैसे हाथ की चालाकी से बढ़ा दिया। गिनकर ढेर तो जीते हुए जुआरी के आगे धकेल दी और हारे हुए के नाम उतने गण्डे लिख लिये। पहले दिन तो मुझे केवल जुआरियों को फाँसने के लिए बैठाया गया था और मुझे भी गदहे की योनि से बचाने के लिए। अपने परिवार के साथ कौड़ियों और रेवड़ियों से जुआ खेलने का अभ्यास था, परन्तु दूसरी रात मुझे भी प्रलोभन ने आ घेरा और रात को मैंने डेढ़-डेढ़ दो-दो सौ गण्डों के दाँव तक खेल डाले। कभी पचास रुपये तक जीत लिये, कभी साठ-सत्तर तक हार दिये। तीसरी दीवाली की रात थी। पिता जी की शिक्षा थी कि जब हाथ ऊपर अर्थात् जीत हो तो उठ खड़े होना चाहिए। उस रात पहले मैं २०० रु० हार गया, फिर पासा बदला। सब उतारकर शायद चार रुपयों से कुछ ऊपर जीते थे कि मैं उठ खड़ा हुआ। मैथिल जादूगर पण्डित ने बहुतेरा समझाया कि हाथ ऊपर है, दो-तीन सौ लेकर उठो। परन्तु मेरी प्रकृति और स्वभाव विचित्र है। मुझे अपने जुए के गिरे हुए दुराचारी साथियों की गन्दी बोलचाल से उसी रात घृणा हो गयी और मैंने एकदम उनसे किनारा कर लिया।

ऊपर की घटना पढ़कर भ्रम होगा कि मुझ नास्तिक को गदहे की योनि मिलने पर विश्वास बना रहा, परन्तु मैं भी विचित्र प्रकार का नास्तिक था। उस नास्तिक-पन के (संवत् १९३२ से संवत् १९४१ तक) दस वर्षों में भी जहाँ मेरा पुनर्जन्म पर विश्वास बना रहा वहाँ योग पर भी इतनी श्रद्धा बनी रही कि हठयोग के प्रयोग मैंने उसी समय में साधे थे, परन्तु अन्य अंशों में पैतृक तथा बाल्यावस्था के संस्कार

१. जुए का आक्रमण

बड़ी कठिनाई से दूर होते हैं। अस्तु !

मनोरंजक सैर

अपने पाठ्य-विषयों और पाठ्य-पुस्तकों में परिश्रम करते हुए भी अंग्रेजी साहित्य के भण्डार के कण चुनता रहा और अब उपन्यासों को छोड़ इंगलिश पद्य का मैदान नापने लगा। इंग्लिस्तान के कालिदास शेक्सपियर के कवितापूर्ण नाटकों का इन्हीं दिनों स्वतन्त्र अध्ययन किया। जब वर्ष के अन्त में परीक्षा हुई तो अंग्रेजी में मेरे लब्धांक ६७ प्रतिशत थे।

छुट्टियों में बनारस ही रहा, क्योंकि प्रिंस आफ वेल्ज़ उन दिनों वहाँ आनेवाले थे और इनके स्वागत की बड़ी तैयारियाँ हो रही थीं। उन सात दिनों में 'गाढ़ी कम्पनी' ने खूब सैर की और सर्वसाधारण के बड़े-बड़े जमघटे देखे, परन्तु उनमें से एक ही मनोरंजक बात सुनाने के योग्य है।

उन्हीं दिनों बनारस में एक बड़े हस्पताल की बुनियाद पड़नेवाली थी। उसकी आधारशिला प्रिंस से रखायी जानी थी। मार्ग सारे शहर में से जाता था, इसलिए जुलूस निकलना था। सड़क के दोनों ओर दर्शकों की प्रातःकाल से ही भीड़ थी। प्रिंस के आने में अभी कुछ घण्टे थे। देखा-देखी सब आ गये, परन्तु अनपढ़ों को इतना भी पता नहीं कि किसकी सवारी देखने आये हैं। एक ने हम लोगों से पूछा तो हमने बतला दिया कि शाहजादा आता है। प्रश्न हुआ "कौन शाहजादा ?" उत्तर मिला—"महारानी विक्टोरिया का बेटा।" अब तो चौधरी अकड़कर चलने लगे और एक गोल में जा धमके। वहाँ यही अनुमान हो रहे थे कि कौन आता है ? चौधरी जी कड़कके बोले, "अरे ! तू का जानत, हम बतलाइत हैं। अरे ! बिस्तुइआ के बेटवा आवत बाटै।" हम सुन रहे थे। हँसते-हँसते पेट में बल पड़-पड़ गये। 'बिस्तुइआ' बनारसी बोली में कहते हैं 'छिपकली' को। कहाँ ताज पहिने हाथ में शाही शासनदण्ड लिये मोटी-ताजी महारानी विक्टोरिया और कहाँ छिपकली !

प्रिंस एडवर्ड (पीछे बादशाह एडवर्ड सप्तम) आये और चले गये। मैं फिर पढ़ाई में लग गया। जो थोड़ी शराब पीने की आदत मामू जी ने अपना मद्य पीने का व्यसन पूरा करने को लगा दी थी वह छूट गयी और मैं मित्रोंसहित फिर से ऊँचे मानसिक वायुमण्डल में विचरने लगा। संवत् १९३४ के आरम्भ से ही पदार्थ-विज्ञान की पढ़ाई शुरू हो गयी। न्याय (लॉजिक) के साथ रसायनशास्त्र को जोड़ दिया गया और प्रोफेसर लक्ष्मीशंकर मिश्र ने बिना रसक्रिया-सेवन के रसायन पढ़ाना आरम्भ कर दिया। पढ़ाई नियमपूर्वक चलती रही।

माघ में सामाचार आया कि पिता जी की बदली बलिया से मथुरा को हो गयी है। फिर सारा सामान बलिया से किश्ती में मेरे पास आ गया जो सब नीलाम कर दिया गया। केवल वह सामान रह गया जो सीधा अपने घर तलवन भेजना था।

मेरा विवाह जुलाई के अन्त में होनेवाला था। पिता जी ने नयी बैठक बनवाई थी। उसके लिए एक दस बत्ती का झाड़, चार हाँडियाँ और आठ दीवारगीर खरीदकर रख दिये थे और उनका घर भेजना मेरे सुपुर्द कर गये। इधर होली आयी और गाढ़ी कम्पनी ने उसे बड़े समारोह से मनाया। धुलहण्डी के दिन शाम को यह सूझी कि गुण्डों का रूप धारण करके चलना चाहिए। हम चार थे। दो पटनिये बाँके इक्के किराये किये। जंघा तक धोती पहिन, दोनों मोढों पर दोनों ओर दुपट्टा डाल, सिर की चुन्दी (शिखा) खड़ी बाँध, नंगे सिर, कमर में छुरी लगाये और हाथ में डण्डा लिये, एक-एक इक्के पर दो-दो बैठकर चल दिये। इक्के छन-छन करते पहुँचे। इक्के से उतर एक मौनहारियों के गिर्द की भीड़ में घुस चले। धक्का लगते ही एक गुण्डों की टोली टर्राई और हमें धक्के देने लगी। हममें से दो अच्छे लाठी चलानेवाले थे। मार-पीट शुरू हो गयी। हम लोगों ने उन्हें अधिक मारा। पुलिस के आते ही हम चारों चम्पत हुए और इक्कों पर पैर रखते ही हवा की तरह उड़ गये। भागकर घर पहुँचे और बहुरूप उतारकर फिर सभ्य विद्यार्थी बन गये। हमारा तो किसी को पता भी न लगा, परन्तु दस-पन्द्रह गुण्डे पकड़े गये जो कि पुलिस की भेंट-पूजा करके छूट गये। प्रण तो किया कि आगे को ऐसा बहुरूप धारण न करेंगे परन्तु दो दिन पीछे ही कुछ और सूझी।

बनारस में होली के पीछे जो मंगल आता है उसे बुढ़वामंगल कहते हैं। उस रात से शुरू होकर बृहस्पतिवार की सारी रात तक गंगा में किश्तियाँ छूटी रहती हैं। उन्हीं में नाच-तमाशे होते हैं। सात-सात किश्तियाँ बाँधकर बड़े कमरे सजाये जाते हैं जिसमें रण्डी-लौंडों के नाच और भाँड-भँडेलों के तमाशे होते हैं (उस समय होते थे, अब मालूम नहीं क्या हाल है)। मंगल के सवेरे सूझी कि तमाशा देखने को एक बड़ी किश्ती सजायी जाए। हरि ने और मैंने रुपये दिये; किश्ती किराये कर ली गयी। सजाने को समय थोड़ा था; सामान खरीदने का काम मल्ल जी के सुपुर्द किया। लट्ठे लेकर चारों ओर बढ़ई से गड़वा लिये, ऊपर बल्लियाँ बाँध लीं, बल्लियों के ऊपर-नीचे किराये पर लेकर दोहरी दुसूती लगा दी गयी। इर्द-गिर्द की कागज काटकर झालर लग गयी। मेरे यहाँ पड़े झाड़ादि टाँग दिये गये। लट्ठों को सफेदे से रंगकर उसपर कागज की बेल लपेटी गयी जो वाफ़ते की बेल को मात करती थी। दरियाँ और गलीचे दीवान साहब माँग लाये। २० वा २५ कुर्सियाँ प्रोफेसर रमाशंकर कॉलिज से उठवा लाये और सजावट पूरी हो गयी। पियरी के एक कायस्थ मुखतार साहब के साहबजादे सितार में वाजपेयी जी के शागिर्द थे। उन्होंने एक तमोटी लाकर कमरे के पीछे लगा दी और सितार-तबले का भी रंग जम गया। नौ बजे रात को न केवल 'गाढ़ी कम्पनी' का मित्रदल ही पहुँच गया प्रत्युत एक-एक दर्शक सब साथ लाये। प्रोफेसर रमाशंकर मिश्र एम० ए० स्वयं पंजाबी बँधेज का पग्गड़ बाँधकर आये, जिन्होंने कलकत्ते में प्रेमचन्द

रायचन्द छात्रवृत्ति की प्राप्ति के लिए परीक्षा दी और कृतकार्य हुए थे। रमाशंकर तो जैसे ग्राण्डील जवान थे, वैसे ही पग्गड़ से दुगुने रुआबदार बन गये। एक ओर लिखा था Knowledge is Power—(विद्या ही बल है) और दूसरी ओर लिखा था 'गाढ़ी कम्पनी'। फिर क्या था, जिधर हमारा शानदार दरबार हाल पहुँचता, सब किश्तियाँ हट जातीं, यहाँ तक कि कोतवाल की गश्ती नाव को चीरता हुआ हमारा कच्छा अच्छे-से-अच्छे तमाशों के समीप पहुँच जाता। बृहस्पतिवार की रातभर आवारागर्दी की गश्त करते हुए शुक्रवार के प्रातःकाल हम सब उतर आये और सब सामान अपनी-अपनी जगह चला गया। इस बार मुझे मेले के पीछे उदासी ने घेर लिया, क्योंकि मेरे आत्मा के अन्दर से उसके विरुद्ध आवाज उठ रही थी। बुढ़वामंगल की समाप्ति कर भंग पीने का अभ्यास सारे मित्र-मण्डल को हो गया। एक सप्ताह पीछे मेरे प्यारे मित्र हरि की भगिनी का कलकत्ते में विवाह था। वह आग्रह करके मुझे ले गया, परन्तु वहाँ रहना दो दिन ही हुआ। विवाह के घर और बंगाली धनाढ्यों के सहभोज के सिवा और कुछ न देख सका।

इस स्थान में एक घटना का संकेतमात्र करके उसके विस्तार में नहीं जाऊँगा। माघ संवत् १९३४ के आरम्भ में मैथिल पण्डित द्वारा हसन खाँ जिन्नी से भेंट हुई थी। उसके विषय में जो चमत्कार प्रसिद्ध थे उनमें कुछ मैंने भी देखे थे। उस समय उनका हल मुझे नहीं सूझा था। परन्तु अब उनकी तथा मैथिल पण्डित की जादूगरी की असलियत मेरे लिए स्पष्ट हो गई है।

पिता जी ने मुझे ज्येष्ठ के अन्त में ही बुलाया था, इसलिए आषाढ़ के प्रथम दो सप्ताह की छुट्टी लेकर चल दिया। विचार यह था कि विवाह से निवृत्त होकर काशी लौट जाऊँगा और वहाँ ही एफ० ए० की परीक्षा दूँगा, इसलिए मेरे मित्र मुझे सदा के लिए विदा करने नहीं चले थे। गंगा पार जाकर मित्र-मण्डल ने रेल में बैठाया। चलते हुए सबके आँसू भर आये। मैं मार्ग में उदास रहा, परन्तु रात बीतने पर जब प्रातः मैं मेंडू के स्टेशन से ट्रेन बदलकर छोटी ट्रेन मथुरा-हाथरस लाइट रेलवे ट्रेन में बैठा तो नये दृश्यों को देख मित्रों का बिछोड़ा भूल गया। एंजन बग्घी की चाल चल रहा था। ड्राइवर और गार्ड दोनों हिन्दोस्तानी थे—जहाँ गाँव आया ट्रेन खड़ी करके रोटी खाने लग गये। फिर ट्रेन जरा तेज चला ली। आम के वृक्ष दिखायी दिये तो कच्ची अम्बियाँ तोड़ने की सूझी। ट्रेन मथुरा पहुँची और पिता जी की भेजी गाड़ी में बैठकर मैं डेरे पर पहुँचा।

मथुरा में दस दिन और विवाह की धुन

मथुरा में पिता जी छुट्टी पर गये हुए असिस्टेण्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस के स्थानापन्न होकर आये थे और आषाढ़ के पीछे उन्हें बरेली की कोतवाली का चार्ज लेना था। इसलिए उन्हें मेरे विवाह के लिए दस दिन की छुट्टी मिल सकती थी।

मेरे सब भाई अपने परिवारोंसहित तलवन में इकट्ठे थे। मुझे भी, दस दिन मथुरा में रख और विवाह का सब सामान देकर तलवन को विदा कर दिया।

मथुरा में नये दृश्य और नये मिलनेवाले। नयी बोली भी कुछ-कुछ बोलने लग गया था। मथुरा-वृन्दावन के मन्दिरों की खूब सैर की। द्वारिकाधीश की मूर्ति को मथुरा में लानेवाले सेठ लखमीचन्द के पुत्र सेठ (पीछे राजा) लछमनदास, सी० एस० आई० ने मुझे खूब सैर कराई। दोपहर उन्हीं के खस की टट्टियों और पंखोंवाले कमरे में व्यतीत किया करता। कारण यह कि सेठ जी अपने अंग्रेज परिचितों को पत्र मुझसे लिखाया करते थे। विशेष परिश्रम मैंने भारत के बड़े लाट के नाम ब्रज की परिक्रमा की सीमा में गोरों द्वारा शिकार बन्द कराने के लिए प्रार्थना-पत्र तैयार करने में किया था। मैं नास्तिक था, परन्तु मन्दिरों में जाकर मूर्ति को भी प्रणाम कर लेता था। मेरा अमल अंग्रेजी की इस लोकोक्ति पर था 'When you go to Rome, do as the Romans do'—'गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास'। किसी का दिल दुखाने से क्या लाभ? परन्तु मन्दिर में ही, और वह भी पुजारियों के सामने, समालोचना भी पूरी कर डालता।

मथुरा की दो बातें नहीं भूलेंगी—एक तो चौबों का ब्रह्मभोज (नहीं, 'चौबेभोज') और दूसरी गोकुलिए गुसाईं जी की लीला। चौबेभोज का मेरे जाने पर पिता जी ने विचार किया। हमारे चौबे जी बोले—"यजमान! मन के दस निमन्त्रित किये जाएँ वा मन के चार?" ऐं! क्या तौल में चार-चार और दस-दस सेर के चौबे भी होते हैं? नहीं, मतलब यह कि मनभर उत्तम भोज्यपदार्थ दस बाँटकर खाएँ या चार ही चट्टम कर जाएँ। यही ठहरी कि मन के चार निमन्त्रित हों। चारों की जुण्डी थी और उनके नाम थे—सोटा—मोटा—छोटा—लंगोटा चौबे। निमन्त्रण के साथ ही एक-एक दतवन और छटाँक-छटाँकभर भंग भेज दी गयी। इसलिए कि प्रातः विश्रामघाट पर पहुँचते ही चौबे जी पत्थर पर भंग का रगड़ा लगा, गोली बाँध कण्ठ से नीचे कर लें। इस भंग का नाम था कागावासी। आठ बजे चारों चौबे कृष्णगोपीलीला गाते और नाचते-कूदते हुए हमारे डेरे पर पहुँचे। उनके चरण पखारकर आसन दिये गये। आज्ञा हुई—"लाओ यजमान, भोगविलासी।" डेढ़ पाव भंग भिगो रक्खी थी। चौबे जी ने धोई। खूब रगड़ा लगाया, फिर उसमें बादाम और इलायची मिलाकर पीस डाला, दूध छोड़, दो लोटे पानी में गड्ड-मड्ड करके पहले द्वारिकाधीश को भोग लगाया। एक छोटी कटोरीभर वहाँ निकालकर बाँटी गयी। एक कटोरीभर हमें मिली जो पिता जी, मैं, पाचक, कहार और अरदली बाँटकर पी गये। शेष चारों चौबों ने चढ़ा ली। ११ बजे भोजन तैयार हुआ—"चलो चौबे जी! बालभोग तैयार है।" चौबे जी की आँखें बन्द हैं, बोले—"यजमान! आसन पर ले-चल।" हाथ पकड़ उठाया, चरण धोये और आसन पर बैठा दिया। पहले डेढ़-डेढ़ सेर लच्छेदार मलाई अन्दर गयी, आँखें

खुलीं और माँग शुरू हुई। दो-दो सेर पेड़े, उनपर भाजी-पकौड़ी आदि के साथ तीस-तीस पूरियों की तह, फिर खुर्चन, फिर उतनी ही पूरियों की तह, फिर हलवा और अन्त में मलाई की पूर्ण आहुति। धुलाकर हथेलियों पर एक-एक रुपया दक्षिणा रक्खी गयी और चौबे जी को प्रणाम किया। परन्तु चौबे अभी खड़े हैं—"यजमान! अब सत्यानाशी भी मिल जाए।" छटाँक-छटाँकभर भंग और दी गयी, तब चौबे जी हिले। पिता जी को भ्रम था कि कहीं इन चौबों के पेट न फट जाएँ और ब्रह्महत्या का पाप उन्हें लगे, परन्तु जब शाम को मैं विश्रान्तघाट पहुँचा तो सत्यानाशी के रगड़े में सब-कुछ भस्म करके चारों चौबे कुश्ती लड़ रहे थे और इस प्रतीक्षा में थे कि कोई लड्डुआ खिलानेवाला यजमान मिल जाए।

दूसरी गुसाईं जी की लीला थी—दक्षिण के एक डिप्टी कलेक्टर ब्रजयात्रा को आए थे। उनकी धर्मपत्नी और एक लड़का और एक लड़की साथ थे। पुत्र छह वा सात वर्ष के और पुत्री चौदह-पन्द्रह वर्ष की। यह कुमारी देवी अंग्रेजी भी पढ़ी हुई थी। मुझसे उनका परिचय हो चुका था, क्योंकि काशी तीर्थसेवा करके वे मेरे साथ ही मथुरा में पहुँचे थे। एक दिन गोपाल मन्दिर की झाँकी थी। मैं भी गया था। पाँच बजे शाम का समय था। मेरे साथ एक सफेदपोश पुलिस का हैड कांस्टेबल था। उससे गुसाईं जी दबते थे, क्योंकि वह था उनके घर का भेदी। मुझसे उसने कहा—"चलो बाबू! गुसाईं के अन्दर के महल की सैर करा लाऊँ।" मैं साथ हो लिया। दरबान ने यह कहकर रोका कि विशेष चेले दर्शन कर रहे हैं, जाने की आज्ञा नहीं। परन्तु "संन्यासी गुरु चपरासी", कौन रोकनेवाला था! हम दोनों अन्दर गये। बहुत कमरे और उतनी ही भूल-भुलइयाँवाली गलियाँ। अभी पाँच मिनट ही घूमे थे कि चीख की आवाज सुनाई दी। पासवाले कमरे का दरवाजा झटके से खोलकर अन्दर गये। एक अबला कुमारी को गुसाईं जी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास में एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी। गुसाईं ने कुमारी छोड़, खड़ी कृष्णमूर्ति की ओर इशारा करके कहा—"भगवान् के दर्शन से यह घबरा गयी थी, मैं चुप कराता था।" कुमारी बोली—"इसका विश्वास न कीजिये। मैं इसके चरणस्पर्श कर रही थी तब इसने मुझे पकड़ लिया। तब मैं चिल्लाई। आह! मुझे पिता के पास ले चलो।"[1] जमादार साहब को तो गुसाईं जी से समझौता करते छोड़ा और मैं उस कुमारी को सीधा उसके पिता के पास ले गया जो उसे नीचे न पाकर ऊपर तलाश कर रहे थे। मालूम होता है कि ये सब फैले हुए घूम रहे थे कि वह अधेड़ स्त्री कुमारी को कृष्णपूजा के लिए अन्दर ले गयी, स्वयं गुसाईं जी के चरणस्पर्श करके अलग हो गयी और कुमारी को चरणस्पर्श के लिए आगे बढ़ा दिया। यह वही दक्षिणी डिप्टी कलेक्टर थे जो मेरे साथ आये थे।

---

१. "Don't believe him Sir! He caught hold of me while I was touching his feet. Then I cried, O! take me to my father." —१

उनको बड़ा दु:ख और क्रोध हुआ। उसी समय गुसाईं जी के यहाँ से उठकर दूसरे मकान में चले गये। मुझसे उन्होंने कहा कि इस मूर्तिपूजा से ही उनका विश्वास उठ गया है और वह अब अन्य किसी तीर्थ पर न ठहरकर सीधे अपने देश को चले जाएँगे।

विवाह में उत्सुकता और निराश लौटना

मथुरा से चलते ही विवाह की धुन ने सब-कुछ भुला दिया। इंगलिश कवियों और उपन्यास-लेखकों का सत्संग साथ था। मैंने अपनी भविष्य की धर्मपत्नी के विषय में उत्तम से उत्तम उपन्यास की नायिका की कल्पना कर ली। मैंने अपनी धर्मपत्नी के लिए बहुत-से सामान इकट्ठे किये थे और समझ लिया कि आगामी प्रेममय जीवन आनन्द का कटेगा। जन्मभूमि में पहुँचकर माता जी का स्मरण आया। मेरे आँसू भर आये। मेरी सबसे बड़ी भौजाई मुझसे तीस वर्ष बड़ी थी। उन्होंने आँसू पोंछे और माथे को चूमकर मुझे शान्त किया। मैंने उनको माता के रूप में स्वीकार किया। पिता जी विवाह से तीन दिन पहले आये। बारात बड़ी धूमधाम से चढ़ी। नास्तिक ने बुढ़ियापुराण के आगे सिर झुकाकर आँख मूँद सब-कुछ किया। वधू की आयु बारह वर्ष की थी। कहारिन के संरक्षण में उसे जालन्धर से तलवन लाया गया। मैं उससे गाँठ जोड़े नाई, ब्राह्मण, मुसलमान, पीर-कब्र और देव-मन्दिरादि में शकुन और आशीर्वाद प्राप्त करने की खातिर लिये फिरा। मुझे उसका मुख देखना भी नसीब न हुआ और ससुराल का बूढ़ा सिर्त[1] उसे विदा कराके ले गया। पिता जी तो चले गये थे और मुझे डेढ़ मास पीछे बरेली पहुँचने को कह गये।

मैं विवाह के धूमधड़क्के से निवृत्त होकर बहुत ही निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी, परन्तु वह अभी बाल्यावस्था में ही थी। फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और इस विचार ने मुझे बहुत सन्तोष दिया, परन्तु उसे मुझसे मिले बिना ही विदा होना पड़ा। फिर कुछ धैर्य बँधा जब सुना कि महीने पीछे मुकलावा (द्विरागमन) होगा। उस बार भी दो दिन घर रखकर, बिना मुझसे परिचय कराये ही बड़े भाई साहब ने विदा कर दिया।

मैंने उसी समय बालविवाह की कुप्रथा के भयंकर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिए आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का खयाल ही मेरे अन्दर न डाला जाता तो काशी से ग्रेजुएट बनकर मैं किसी अन्य ऊँची दशा में चला जाता।

१. पंजाब में पुरोहित के अतिरिक्त प्रत्येक कुल का एक रोटी बनानेवाला ब्राह्मण लाग़ी होता है जिसका परिवार विवाहादि संस्कारों पर यजमानों के यहाँ रोटी बनाने का काम करता है। ऐसे लोगों को 'सिर्त' कहते हैं।

कम-से-कम यदि धर्मपत्नी की आयु १६ वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आँखें खोलकर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता जिसमें आगामी दो-ढाई वर्ष गिरा रहा।

बरेली में ढाई साल का अन्धकारमय जीवन

बरेली में संवत् १९३४ के आश्विन में मैं पहुँचा और चैत्र संवत् १९३७ में पिता जी के साथ खुर्जा चला गया। इस ढाई साल के जीवन पर पर्दा ही पड़ा रहता तो मैं सन्तुष्ट होता, परन्तु मुझे अपने जीवन की घटनाओं को स्पष्ट खोलकर इसलिए रख देना है कि मेरे देश के युवक उससे शिक्षा पाकर संसार-यात्रा के अन्दर गढ़ों और ठोकरों से बच सकें। पहले तीन महीनों में ही बरेली की हवा ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। मैंने चाहा था कि देश से सीधा बनारस का रास्ता पकड़ूँ, परन्तु पिता जी ने बरेली बुला लिया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने कहा कि दस दिन और ठहरकर जाना। इस अन्तर में मेरे कई नये मित्र उत्पन्न हो गये। बरेली के रईसों का उस समय विशेषण यह था कि चाहे कितना ही धनाढ्य क्यों न हो, जबतक उसके यहाँ कम-से-कम दो घोड़ोंवाली एक चौपहिया गाड़ी, घर में डाली हुई एक वेश्या न हो और कुछ हजार रुपया ऋण न उठा चुका हो तबतक वह सेठ, साहूकार, जमींदार भले ही कहलावे, रईस पदवी का अधिकारी नहीं बनता था। मेरे पहले मित्र राय छदम्मीलाल साहब कायस्थ बने जिनके यहाँ चार-पाँच फिटन-गाड़ियाँ थीं, दो हाथी बँधे रहते थे और जिन्होंने घर में एक के स्थान में दो वेश्याएँ डाल रक्खी थीं। उस समय अभी ऋणी नहीं हुए थे, परन्तु पीछे लाखों का ऋण उठाकर मरने से पहले बहुत-सी जायदाद (ग्राम और महल) ठिकाने लगा गये। और भी साधारण रईस मित्र बने, परन्तु सबसे अधिक गाढ़े मित्र हकीम लल्ला जी थे जिनका मकान और बगिया (वाटिका) हमारे दर्जीचौकवाले घर के साथ ही लगे हुए थे। रईसों के यहाँ तो रुपया खर्च कर नाच-मुजरे होते और शराब के दौर उड़ते, परन्तु लल्ला जी सब रामजनी (हिन्दू) वेश्याओं का बिना पैसा-कौड़ी लिये इलाज करते थे, इसलिए वह जब आज्ञा देते तो उनके यहाँ मुफ्त मुजरा ही न होता प्रत्युत मिठाई आदि भेंट भी पहुँचती। एक और भी बात थी। लल्ला जी की बगिया में अनार का पेड़ था जिसके साथ नयी वेश्या का विवाह कराने को लाते थे। साठ बरस की उम्र, ठिगना कद, बदन सुर्ख और सफेद, दण्ड चढ़ा हुआ कसरती बदन और उमंगें सब जवानों की-सी। नाम तो नन्दकिशोर था, परन्तु छुटपन से लल्ला जी ही प्रसिद्ध थे। मैं बहुत बीमार हो गया था; वैद्य और डॉक्टरों ने दवाइयों से और बिगाड़ दिया। काढ़ों और अंग्रेजी दवाइयों से मुझे पहले ही घृणा थी। मैंने जुएखाने

में आदमी भेज हकीम लल्ला जी को बुलाया। आये और नाड़ी देखी, दो-तीन खरी-खोटी वैद्य और डॉक्टरों को सुनायीं, गुलाबजल में बिही का शर्बत मिला और एक आध माशे की पुड़िया उसमें घोल, पिला दी। दूसरे ही दिन मैं साफ हो गया। निर्बलता रह गयी थी, उसके लिए एक स्वादिष्ट चटनी बना दी जो एक दिन छह-सात बार चाटने से दूसरे दिन उठकर स्नान किया और चटनी चाटकर बाहर घूमने चला गया और तीन मील का चक्कर लगाकर लौटा।

हकीम लल्ला जी के जुए की फड़ को संवत् १९१९ में पिता जी ने पकड़कर सजा कराई थी। अबतक जुए की लत ऐसी लगी रही कि जुएखानों का दरवाजा नहीं छोड़ते थे। प्रातःकाल के पीछे लोग बीमारों को लेकर जुएखाने में पहुँचा करते थे। हकीम साहब के एक हाथ में 'कापतैन' और दूसरे हाथ में बीमार की नब्ज। उधर पौ-बारह की गूँज उठी, इधर नुस्खा लिखा गया। हकीम मार्के का था; दिल्ली के प्रसिद्ध हकीम महमूद खाँ का सहपाठी था, परन्तु था पक्का लठैत, बदमाश और जुएबाज। और बदमाशी तो दूर हो गयी, जुए की लत ने अभी तक पीछा न छोड़ा। मैंने कहा कि यदि मेरे साथ सम्बन्ध रखना है तो जुए को अन्तिम प्रणाम कर दो। बहादुर लल्ला ने मुझसे प्रतिज्ञा की और उसको निभाया। फल यह हुआ कि उससे उन सैकड़ों बीमारों को लाभ पहुँचा जो उसके इलाज से वंचित रहते थे और उसकी स्थिर आय भी बहुत बढ़ गयी।

इलाहाबाद कॉलिज में एक वर्ष
(सं० १९३५ वि०)

ऊपर लिखी अवस्था हो चुकी थी। पहले पिता जी ने मोहवश जाने न दिया और अब मैं हिलना नहीं चाहता था। रायसाहब की फिटन नित्य सवारी के लिए हाजिर! नाच-रंग बिना कोई सप्ताह खाली न जाता, और फिर पिता जी के मातहत पाँचों थानों पर हुकूमत! ऐसा चढ़ा हुआ नशा मुश्किल से उतरता है। गुसाईं जी ने सच कहा है—

अस नर को उपज्यो जग माहीं। प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं।

दिसम्बर ऐसे बीता। संवत् १९३५ वि० का पौष मास आ पहुँचा। मैंने काशी में निचली श्रेणी के साथ पढ़ने में संकोच किया। इलाहाबाद (प्रयाग) को प्रस्थान कर दिया। पिता जी ने वहाँ के कोर्ट इन्स्पेक्टर मुंशी भैरोदयाल के नाम पत्र दिया था। वह कटरा में रहते थे। मुझे भी उसी, शहर से अलग, मुहल्ले में स्थान किराये पर ले दिया और मैं म्योर सेण्ट्रल कॉलिज इलाहाबाद में दाखिल हो गया। उस समय कॉलिज का अपना भवन न था; एक कोठी में कॉलिज लगता था जिसे

लाउदार कासल कहते थे। अब वह कोठी अहातेसहित महाराजा दरभंगा ने खरीदी हुई है।

मैं म्योर कॉलिज में दाखिल हो गया। फिर जीवन में परिवर्तन आ गया। मद्यपान से एकदम मुक्त हो गया। नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू हो गयी। मैं कॉलिज की द्वितीय वर्षीय कक्षा में फिर सम्मिलित हुआ। अंग्रेजी प्रिन्सपल हैरिसन पढ़ाते थे। गणित के अध्यापक प्रोफेसर वूफ्लावर थे जिनकी नज़ाकत की धूम थी। उनका रेशमी रूमाल लेवेण्डर की सुगन्ध से पूरित रहता था। प्रोफेसर हिल रसायन पढ़ाते थे। उन्होंने संयुक्त प्रान्त में पहला रसक्रिया-भवन खोला था। फारसी के प्रोफेसर मौलवी थे जकाउल्ला देहलीवाले, और संस्कृत के पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, जो पीछे हिन्दू युनिवर्सिटी के प्रो-वाइसचांसलर हो गये थे। उपाध्याय-मण्डल बड़ा उत्तम था। छह महीनों तक जीवन समावस्था में चला। वाग्वर्धिनी सभा में भी विशेष भाग लिया। प्रत्येक सप्ताह किसी विषय पर एक भाई निबन्ध पढ़ता और शेष विद्यार्थी विवाद में भाग लेते। मिस्टर सय्यद महमूद और पण्डित अयोध्यानाथ के बड़े विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान भी अपनी सभा में कराये। प्रोफेसर हिल मुझसे विशेषत: प्रसन्न थे, क्योंकि मैं न केवल रसायन के क्रिया-प्रयोग में ही कॉलिज के समय से पीछे उनका सेवक रहता, प्रत्युत कंकड़ालोजी में भी उनका साथ देता।

मेरे पाठक पूछेंगे कि और 'लोजी' (Logy) तो बहुत सुनी हैं, यह कंकड़ालोजी क्या बला है? मैं बतलाए देता हूँ। प्रोफेसर हिल छुट्टियों में चुनार आदि पहाड़ों में जाते और विविध प्रकार के पत्थर-कंकड़ जमा करते और सबके जुदे-जुदे गुण लिख-कर एक अलमारी में रखते जाते। मैंने भी अपने भाई मूलराज जी थानेदार 'कौन' (जिला मिर्जापुर को) लिखकर कई प्रकार के पत्थर मँगाए थे। उन्हें प्राप्त करके मेरे विद्याप्रिय प्रोफेसर मुझपर बड़े प्रसन्न थे और रसक्रिया-भवन का एक सहायक मैं भी समझा जाता था। अपने अधिकार का लाभ अपने मित्रों को भी पहुँचाया करता। सोडावाटर भरने की छोटी मशीन तजुरबे दिखाने को मँगायी थी। हिल साहब के आने से पहले कई बार सोडावाटर खींचकर मित्रों को पिलाया। इस प्रकार सारा समय विद्या की चर्चा में ही व्यतीत होता था। प्रतापचन्द्र मोजुमदार आये, अन्य व्याख्याता आये, कोई भी व्याख्यान सुने बिना न छोड़ा। पढ़ाई भली प्रकार चली।

गर्मियों की छुट्टी होते ही बरेली को चल दिया। मार्ग में कानपुर उतरकर ऊँटगाड़ी में बैठ हमीरपुर पहुँचा। उस जिले के एक थाने में भाई आत्माराम थाने-दार थे। घोड़े की सवारी ले वहाँ पहुँचा और पाँच-छह दिन उनके पास काटकर फिर कानपुर लौट आया। कानपुर से लखनऊ और फिर बरेली पहुँचकर डेढ़ महीना पिता जी के पास काटा। इस बार अंग्रेजी के मनोविज्ञान शास्त्र का स्वाध्याय शुरू किया था और कुछ प्रारम्भिक पुस्तकें साथ ले गया था। कॉलिज में रसायन के

साथ न्याय (Logic) का विचित्र मेल था, इसलिए न्याय (Logic) को सार्थक करने के लिए मनोविज्ञान का उसके साथ मेल कर दिया।

बरेली में इस बार मद्यप, नाच-रंग के प्रेमी मित्रों से अधिकतर किनारा ही था। प्रातः भ्रमणार्थ पैदल जाकर छह वा सात मील का चक्कर लगा आता, और सायंकाल को अपनी वेगनट (Wagonette) गाड़ी में छावनी की ओर हवा खाने जाता। पिता जी ने अपने लिए बरेली कोर्ट और परिवार के लिए वेगनट बनवा ली थी। वेगनट में जो मुश्कन घोड़ी जुतती थी वह बड़ी जबरदस्त थी। नौ सवारियाँ बैठा और एक साईस पीछे खड़ा करके मैं अपनी गाड़ी कई बार तेज़ जोड़ियों से भी आगे निकाल ले-जाता। एक बार बग्घियों की दौड़ में भी मुश्कन ने इनाम लिया था। वेगनट का नाम मैंने कुलघसीटन रख छोड़ा था, क्योंकि कई बार जब परिवार के सात वा आठ प्राणी विद्यमान होते, उन सबको चढ़ाकर हवा खिलाई थी। छुट्टियाँ समाप्त करके मैं प्रयाग लौटा। फिर पढ़ाई चल पड़ी, परन्तु मैं मनोविज्ञान की पुस्तकों में ऐसा निमग्न हुआ कि परीक्षा की तैयारी की सुध भी भुला दी। परीक्षा दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में होनेवाली थी। नवम्बर आ पहुँचा और मैं अभी अन्य उधेड़बुन में लिप्त था। उससे कैसे छुटकारा पाकर मैं परीक्षा की तैयारी में लगा—इसकी कहानी शिक्षादायिनी है।

अहिंसा की प्रबल विजय

मैं बतला चुका हूँ कि मैं विचित्र नास्तिक था जो योगाभ्यास और उसकी विभूतियों पर विश्वास रखनेवाला था और साथ ही हठ-प्रक्रियाओं का प्रयोग भी करता था। बरेली में और वहाँ से लौटकर प्रयाग में कुछ विशेष परिश्रम किया, परन्तु कुपथ के कारण बीमार हो गया। सुना कि त्रिवेणी पार झूंसी के जंगल में एक महात्मा रहते हैं जिनके वश में एक शेर है; दिन को अन्तर्धान रहते हैं, केवल रात को उनके दर्शन हो सकते हैं। मैं अपने मित्र बुद्धसेन तिवारी-सहित, जिनको मेरी संगत ने ही योग की ओर झुकाया था, सिदौसी[1] भोजन से निवृत्त होकर शाम को पार उतर गया। इधर-उधर घूमते हुए दस बजे आश्रम के समीप पहुँचे। एक वृद्ध केवल कौपीनधारी महात्मा को समाधिस्थ मैदान में बैठे देखा। तीन बजे तक न उनकी समाधि खुली और न हमारी आँख झपकी। तीन बजे के लगभग शेर की गरज सुनायी दी, फिर वह सीधा महात्मा की ओर आता दिखाई दिया। समीप पहुँचने पर उनके पैर चाटने लगा। महात्मा ने आँखें खोलीं, शेर के सिर पर प्यार का हाथ फेरा और कहा—"बच्चा ! आ गया ? अच्छा अब चला जा।" शेर ने सिर चरणों में रख दिया, और उठकर जंगल की राह ली। उसी समय हम दोनों

१. जल्दी, सवेरी।

ने पैर छूकर महात्मा को प्रणाम किया और इस अद्वितीय विभूति पर आश्चर्य प्रकट किया। महात्मा का उत्तर कभी नहीं भूलता—"यह कोई विभूति नहीं है बच्चा! इस शेर के किसी शिकारी ने गोली मारी थी। इसके पैर में ऐसा घाव लगा कि यह चल नहीं सकता था और व्याकुलता से हृदयवेधक शब्द कर रहा था। शायद प्यासा था। मैंने लाकर पानी पिलाया और जंगल से अपनी जानी हुई एक बूटी लाया और रगड़कर इसके पैर में लगाई। घाव अच्छा होने लगा। जबतक मैं दवाई लगाता रहता यह नित्य मेरे पैर को चाटता रहता। जब सर्वथा नीरोग हो गया तब भी इसका व्यसन नहीं छूटा। नित्य मेरी उपासना की समाप्ति पर आ जाता है। सुनो बच्चा! अहिंसा का अभ्यास और सेवा व्यर्थ नहीं जाते।" हमपर जो प्रभाव पड़ा, वर्णन नहीं किया जा सकता। मैंने अपनी साधना और बीमारी की कहानी सुनायी। महात्मा ने बतलाया कि हठयोग की क्रियाएँ शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं और कैवल्य के मार्ग से विमुख कर देती हैं। तुम राजयोग का अभ्यास करो और इनको छोड़ दो। बीमारी के दूर करने को उन्होंने ब्राह्मी बूटी का एक विशेष सेवन बतलाया। उन्हें मालूम हो गया कि मेरी परीक्षा समीप है और इसलिए आज्ञा दी कि जब मैं परीक्षा से निवृत्त होकर उनकी सेवा में उपस्थित हूँगा तब वह मुझे राजयोग का उपदेश करेंगे।

परीक्षा का परिणाम

परीक्षा आरम्भ होने में पूरा एक महीना बाकी था। फिर एण्ट्रेंसवाला प्रयोग दोहराया गया। इस बार एक घण्टे पहले भी पढ़ना न छोड़ा। व्यायाम बन्द हो गया था। रात को तीन घण्टों से अधिक नींद नहीं लेता था। तबीयत गिरी हुई-सी रहने लगी। पहले तीन दिनों के पर्चे बहुत अच्छे किये। अंग्रेजी, फारसी, गणित में उत्तम परिणाम निकलने की आशा हुई। तीसरी रात प्रत्यक्ष ज्वर हो आया। प्रातः उसे दवा और स्नान-भोजन करके फिर परीक्षा-भवन को चल दिया। प्रातः न्याय (Logic) का प्रश्नपत्र मिला। ६ में से ५ प्रश्नों के ही उत्तर लिखे थे कि ज्वर जोर कर आया। आँखें बन्द हो चलीं। मैं उठकर रसक्रिया-भवन के बरामदे में बेंच पर जा लेटा। प्रोफेसर हिल ने देखा तो ले-जाकर पुस्तकालय के मेज पर डाल दिया। डॉक्टर को बुलाकर यत्न कराया कि मैं किसी प्रकार रसायन का पर्चा कर सकूँ। परन्तु—

'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'

मुझे सरसाम[1] हो गया। चार बजे हिल साहब की बग्घी में मैं डेरे पर लाया गया। मुंशी भैरोंदयाल जी से इलाज कराया। तीसरे दिन ज्वर उतरा और मैं

१. अचेतावस्था

निर्बल अवस्था में ही बरेली को चल दिया। महात्मा से राजयोग की शिक्षा प्राप्त करने का मामला बीच में ही रह गया। परिणाम जब निकला तो प्रथम तीन विषयों में ७० प्रतिशत लब्धांक निकले। न्याय (Logic) के ५० में से २५ और रसायन में शून्य। इन दोनों में इकट्ठे उत्तीर्ण होना चाहिए था। यदि रसायन में के ५० में से ८ भी मिल जाते तो एफ० ए० में पास हो जाता। हिल साहब ने युनिवर्सिटी के साथ पत्र-व्यवहार भी किया, परन्तु कुछ हो नहीं सका था।

बरेली में घोर अन्धकारमय जीवन

प्रयाग का वर्ष मेरे लिए कलियुग में त्रेता की लड़ी के समान बीत गया। जनवरी १८७९ में फिर अच्छा स्वास्थ्य लेकर प्रवेश किया, परन्तु परीक्षा की अकृतकार्यता का 'ग़म ग़लत' करने के लिए शराब के प्याले में उसे बहाने की कोशिश की। पहले-पहल नाचादि से तो किनारा ही रक्खा, परन्तु रात को 'एक्स नम्बर वन' ब्राण्डी की बोतल खोल और गिलास मेज पर रखकर बारह बजे तक 'लॉक[1] ऑन ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग' और 'बेकंस[2] एडवांसमेण्ट ऑफ लरनिंग एण्ड ऐस्सेज़' ऐसी मस्तिष्क को हिलानेवाली पुस्तकों के पाठ में बिताया। इधर सिद्धान्त में, पर-सिद्धान्त-योजना और उधर गिलास पर गिलास को गले नीचे उतारता! एक सप्ताह के पश्चात् ही शयन-समय तक पूरी बोतल समाप्त हो जाने लगी। उधर छावनी के पारसी का बिल बढ़ने लगा और इधर फिर से रईसों की महफिलों में शरीक होने लगा। पिता जी प्रातः पूजापाठ करके कोतवाली चले जाते। दिन का भोजन वहीं जाता। रात को ८ बजे लौटकर भोजन से निवृत्त हो ९ बजे सो जाते। पीछे सारी रात मेरे अधिकार में ही होती। मेज पर किताबें पड़ी देख पिता जी यही समझते रहे कि मैं दूसरे वर्ष की परीक्षा के लिए पुस्तकें देखता रहता हूँ। इस प्रकार का जीवन पूरे सात मास तक चला। तब मालूम हुआ कि यदि एफ० ए० की पुनः परीक्षा देनी हो तो किसी कॉलिज के द्वारा ही दी जा सकती है। 'गाढ़ी कम्पनी' के सभासद् रमाशंकर मिश्र एम० ए०, सर सय्यद अहमद के नये मोहम्मडन कॉलिज अलीगढ़ के गणितोपाध्याय थे। उन्हें पत्र लिखा। वह बड़े प्रसन्न हुए और बुला लिया। प्रोफेसर साहब का ही मैं अतिथि बना। वह भी खूब पीने लग गये थे। उस समय सभी कॉलिजों के अमीर विद्यार्थियों का शासन कठिन हो रहा था।

मेरे अलीगढ़ पहुंचने से तीन दिन पीछे कॉलिज खुला। इतने दिन भाई रमा की सितार का आनन्द लिया और एक बार उसके बंगले में मुजरा भी हो गया। कॉलिज तो खुला, परन्तु अलीगढ़ में हैजा (विशूचिका रोग) फूट निकला था। एक मास फिर छुट्टी हो गयी और मैं फिर बरेली लौट आया। बरेली लौटकर दो-तीन

१. यूरोप का प्रसिद्ध दार्शनिक, २. अंग्रेजी का विख्यात लेखक बेकन

दिन पीछे एक विवाह की दावत में लाला भाइयों (कायस्थी) ने निमन्त्रण दिया। हमारा मुहल्ला दर्जीचौक में था और उसमें कायस्थों के सिवाय शायद एक-दो हम-से ही किरायेदार रहते थे। विवाहवाला घर हमारे साथ लगता ही था। महफिल में जाते ही कुल्हड़ मिला। औरों के यहाँ जाम (प्याला) चलता है, लाला भाइयों के यहाँ बढ़िया-से-बढ़िया शराब भी कुल्हड़ों में ही परोसी जाती है। शायर ने उदार लाला भाइयों की प्रशंसा में क्या ही अच्छे शे'र कहे हैं—

दादा के लला हैं बड़े आली हिम्मत।
कि थर्रात है जिनसे रुस्तम को दादा॥
वे अपना पियत नाई निसफो कुचरिया।
रफीकन को बखशत हैं मटकन के मटका॥

लगा ठर्रे का दौर चलने! पहला कुल्हड़ आधा खाली करके मैंने शेष शराब चुपके से गिरा दी। विचित्र दशा देखी। दोनों समधी दावत में शरीक थे। लड़की के पिता की जाँघ पर दश वर्ष का दुलहा बैठा, और लड़के के पिता की गोद में नौ वर्ष की लड़की बैठी। उन दोनों को भी साथ-के-साथ पिलाते गये। ऊपर ललाइनों में भी दौर चल रहा था। इधर नीचे नाच हो रहा था। वेश्या को भी शराब पीने के लिए मजबूर किया गया। उसने मुँह लगाकर सारंगीवाले की सहायता से पीछे उँडेल दिया। रण्डी-भड़ुवे घबरा गये और छुटकारे की सोचने लगे। इतने में एक बुढ़ऊ उठे और पतुरिया (वेश्या) का हाथ पकड़ नाचने लगे। ऊपर छत से ढोलक बजने और ताली पिटने लगी। मुझे अकेले को होश में देखकर रण्डी-भड़ुओं ने हाथ बाँधकर रिहाई की दरख्वास्त की। मैंने बुढ़ऊ का दूसरी ओर ध्यान खींचा। हाथ छूटते ही रण्डी-भड़ुए सब विगटट भागे। तब तो एक वमन हुआ और मुझे घृणा हुई। मैं मार्गवालों को डाँटकर बाहर निकल गया और चलते हुए बाहर की कुण्डी लगा दी। यह दृश्य बड़ा घृणित था, परन्तु घर में उस रात पिता जी न थे। एक विशेष डाके की खबर मुनकर कोतवाली में सोये थे। मैंने लौटकर एक नयी शराब का जाम पिया जो उसी दिन खरीदकर लाया था। उसने अन्धा कर दिया और मैं अपने जीवन में दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावट का संस्कार फिर जाग खड़ा हुआ। छह घण्टे बेहोश-सा पड़ा रहा, परन्तु आत्मा में कोलाहल मचा हुआ था। अभी अन्धेरा ही था, जब उठकर विवाहवाले घर का कुण्डा खोल दिया। प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त में बैठकर अनुताप करता रहा। उस दिन शाम को लौटकर ही भोजन किया।

दूसरे दिन से ही काया फिर पलट गयी। नाच, तमाशे, दावतों में जाना बन्द हुआ और रात को फिलॉसफी का स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ काल के लिए विदा हो गये।

ऋषि दयानन्द का सत्संग

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।"[1]

१४ श्रावण संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बाँसबरेली पधारे। ३ भाद्रपद को चले गये। स्वामी जी महाराज के पहुँचते ही कोतवाल साहब को हुकुम मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बन्दोबस्त कर दें। पिता जी स्वयं सभा में गये और स्वामी जी महाराज के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्संग से मुझ नास्तिक की संशयनिवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया। रात को घर आते ही मुझे कहा—"बेटा मुंशीराम! एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान् और योगिराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जाएँगे। कल मेरे साथ चलना।" उत्तर में कह तो दिया कि चलूँगा परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जाननेवाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा? दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में पिता जी के साथ पहुँचा जहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्यमूर्ति को देख कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई, परन्तु जब पादरी टी० जे० स्कॉट और दो-तीन अन्य युरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—'यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जाएँ!' व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ओ३म् पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि-आत्मा का ही काम था।

उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउनहॉल मिल गया है इसलिए कल से व्याख्यान वहाँ शुरू होंगे। स्वामी जी ने उच्च स्वर से कह दिया कि सवारी समय पर पहुँच जाया करेगी तो वह तैयार मिलेंगे।

टाउनहॉल में जबतक 'नमस्ते', 'पोप', 'पुराणी, जैनी, किरानी, कुरानी' इत्यादिक परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे तबतक तो पिता जी श्रद्धा से सुनते रहे, परन्तु जब मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा तो जहाँ एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहाँ पिता जी ने तो आना बन्द कर दिया और एक अपने मातहत थानेदार की ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्त की शाम तक मेरा समय-विभाग यह रहा कि दिन का भोजन करके दोपहर को बेगम बाग की कोठी पहुँच ड्योढ़ी पर बैठ जाता। ढाई से चार बजे के बीच में जब ऋषि का दरबार लगता तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य ऋषि को प्रणाम करता वह मैं था। प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उनका आनन्द लेता रहता। व्याख्यान के बाद बीस मिनट तक सब दरबारी विदा हो जाते और आचार्य चलने की तैयारी कर लेते। मैं अपनी बेगनट पर सीधा

---

१. कठोपनिषद् १।२।२३

टाउनहॉल पहुँचता। व्याख्यान का आनन्द उठाकर उस समय तक घर न लौटता जबतक कि आचार्य दयानन्द की बग्घी उनके डेरे की ओर न चल देती। २५, २६, २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के पादरी स्कॉट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुए। विषय प्रथम दिवस पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार और तीसरे दिन यह था कि मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किये जाते हैं या नहीं। पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपात ज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ६ भाद्रपद (१५ से २५ अगस्त) तक ऋषिजीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ मैंने देखीं जिनमें से उन्हीं कुछ-एक को यहाँ लिखूँगा जिनका प्रभाव मुझपर ऐसा पड़ा कि अबतक मेरी आँखों के सामने घूम रही हैं।

मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर, केवल कौपीन पहरे, लट्ठ हाथ में लिये, साढ़े तीन बजे बाहर निकल जाते हैं और छह बजे लौटकर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिए कि बाहर वह क्या करते हैं। दवदबे-कैसरी अखबार के एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। ठीक साढ़े तीन बजे बाहर निकलकर आचार्य चल दिये। हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे-धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझ-सा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रातःकाल हम ढाई बजे से ही घात में उस जगह छिपकर जा बैठे जहाँ से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्र मूर्ति को आते देखकर हम भागने को तैयार हो गये। वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये एडिटर भी लुढ़कते-पुढ़कते आ रहे थे। बीच में एक-आध मील की दौड़ भी रुद्र स्वामी ने लगायी। परन्तु वहाँ मैदान था, मैंने उनको आँख से ओझल न होने दिया। अन्त को पाव मील धीरे-धीरे चलकर एक पीपल के वृक्ष-तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधि में स्थित रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गयी। उठकर दो अँगड़ाइयाँ लीं और टहलते हुए अपने तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये।

एक शनीचर के व्याख्यान के पीछे श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्यवार को) नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उसी समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुँचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूँगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हॉल (व्याख्यान-भवन) खचाखच भर गया, परन्तु आचार्य न पहुँचे। पाव घण्टा, आध घण्टा भी वीत गया परन्तु बग्घी की घड़घड़ाहट न सुनायी दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्द की विशाल मूर्ति उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढ़ती दिखायी दी। मध्य की डाट के नीचे--

वाली एक ओर की दीवार में सोटा टेककर, ईश्वर-प्रार्थना के लिए बैठने से पूर्व उन्होंने कहा, "मैं समय पर तैयार था परन्तु सवारी न आयी। बहुत प्रतीक्षा के पीछे पैदल चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली। इसलिए देरी हो गयी। सभ्य पुरुषो ! मेरा कुछ दोष नहीं है। दोष बच्चों के बच्चों का है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।" यह संकेत खजांची लक्ष्मीनारायण की ओर था जिसके अतिथि होकर उनकी बेगम बागवाली कोठी में स्वामी दयानन्द रहते थे। बाबू लक्ष्मीनारायण सरकारी पाँच खजानों के खजांची थे और बरेली में उस समय करोड़पति समझे जाते थे।

एक व्याख्यान में वे पौराणिक असम्भव तथा आचारभ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरी स्कॉट, मिस्टर एडवर्ड्स कमिश्नर, मिस्टर रीड कलेक्टर, १५ वा २० अंग्रेजोंसहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पंचकुँवारियों की कल्पना पर कटाक्ष किया[1] और एक से अधिक पति रखनेवाली द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुनाकर श्रोतागण के धार्मिक भावों की अपील की। स्वामी जी के कथन में हास्यरस अधिक होता था, इसलिए श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हँसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले— "पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो ! ये ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ, शुद्धस्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।" इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुँह क्रोध के मारे लाल हो गये परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही खजांची लक्ष्मीनारायण को कमिश्नर साहब के यहाँ से बुलावा आया। साहब ने कहा "अपने पण्डित स्वामी को समझा दो कि सख्ती से काम न लिया करे। हम ईसाई तो सभ्य हैं, वादविवाद की सख्ती से नहीं घबराते, परन्तु यदि जाहिल हिन्दू-मुसलमान भड़क उठे तो तुम्हारे पण्डित स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जाएँगे।" खजांची जी यह सन्देश आचार्य तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा करके लौटे। खजांची जी चाहते थे कि बात छेड़नेवाला कोई अन्य मिल जाय जिससे वह आचार्य की झाड़ से कुछ-कुछ बच जायँ। जब कोई खड़ा न हुआ तो मुझ नास्तिक को आगे किया गया, परन्तु मैंने यह कहकर अपना पीछा छुड़ाया कि खजांची साहब कुछ कहना चाहते हैं, क्योंकि कमिश्नर साहब ने उनको बुलाया था। अब सारी मुसीबत खजांची जी पर टूट पड़ी। खजांची साहब कहीं सिर खुजाते हैं, कहीं गला साफ करते हैं। पाँच मिनट तक आश्चर्ययुक्त रहकर आचार्य बोले—"भाई ! तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नियत नहीं, तुम समय के मूल्य को नहीं

१. अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी तथा।
पंच कन्या स्मरेन्नित्यं महापात नाशनम्॥

समझते। मेरे लिए समय अमूल्य है। जो कुछ कहना हो कह दो।" इसपर खजांची जी बोले—"महाराज! अगर सख्ती न की जाए तो क्या हर्ज है? असर भी अच्छा पड़ता है। अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं।" —इत्यादि-इत्यादि बड़ी कठिनाई से अटक-अटककर ये वचन गरीब के मुँह से निकले। महाराज हँसे और कहा—"अरे! बात क्या क्या थी जिसके लिए गिड़गिड़ाता है? मेरा समय भी नष्ट किया। साहब ने कहा होगा, तुम्हारा पण्डित कड़ा बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जाएँगे, यह होगा वह होगा। अरे भाई! मैं हौवा तो नहीं कि तुझे खा लूँगा? उसने तुझसे कहा, तू सीधा मुझसे कह देता! व्यर्थ इतना समय क्यों गँवाया?" एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला—"देखो! ये तो कोई अवतार हैं, मन की बात जान लेते हैं।"

उस शाम के व्याख्यान को कौन सुननेवाला भूल सकता है? मैंने बड़े-बड़े वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे-साधे शब्दों से निकलकर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूँ? उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्वदिवस के सब अंग्रेज (पादरी स्कॉट के अतिरिक्त) उपस्थित थे। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा—"लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके पीछे एक श्लोक[1] पढ़कर आत्मा की स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सके, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य, अमर है। फिर गरजते शब्दों में बोले—"यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे।" फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा—"किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखाओ जो मेरी आत्मा का नाश करने का दावा करे! जबतक ऐसा वीर इस संसार में दिखायी नहीं देता तबतक मैं यह सोचने के लिए तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊँगा वा नहीं।" सारे हॉल में सन्नाटा छा गया। रुमाल का गिरना भी सुनायी देता था।

व्याख्यान में कुछ देर हो गयी थी। उठते ही ऋषि दयानन्द ने पूछा—"भक्त स्कॉट आज दिखायी नहीं दिये?" पादरी साहब किसी व्याख्यान से भी अनुपस्थित न होते थे, और अलग भी प्रेम-वार्तालाप किया करते थे, इसलिए ऋषि को उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। किसी ने कहा, पास के गिरजे (चेपल) में आज उनका व्याख्यान था। सीढ़ियों के नीचे उतरते ही ऋषि ने कहा—"चलो, भक्त स्कॉट का गिरजा देख आवें।" अभी तीन-चार सौ आदमी खड़े थे। वह सारी भीड़ लेकर

१. **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता २। २३

गिरजा पहुँचे। वहाँ व्याख्यान समाप्त हो चुका था; श्रोता सौ के लगभग थे। पादरी साहब नीचे उतर आये, स्वामी जी को वेदी (पुलपिट) पर ले गये और कहा कि कुछ उपदेश दीजिये। आचार्य ने खड़े-खड़े ही बीस मिनट तक मनुष्य-पूजा का खण्डन किया।

एक दिन आचार्य को पता लगा कि खजांची जी का सम्बन्ध किसी वेश्या से है। उनके आने पर पूछा—"तुम्हारा वर्ण क्या है?" उन्होंने कहा, "क्या कहूँ! आप तो गुण-कर्मानुसार व्यवस्था मानते हैं।" आचार्य बोले, "यों तो सब वर्णसंकर हैं परन्तु तुम जन्म से क्या हो?" उत्तर मिला कि "खत्री।" महाराज बोले—"यदि खत्री के वीर्य से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे क्या कहोगे?" खजांची ने सिर नीचा कर लिया। इसपर महाराज ने कहा—"सुनो भाई! हम किसी का मुलाहज़ा नहीं करते। हम तो सत्य ही कहेंगे।" खजांची जी ने वेश्या को कहीं अन्यत्र भिजवा दिया। एक अन्तिम घटना के साथ इस अपूर्व सत्संग की कथा समाप्त करता हूँ। यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था, तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना-शक्ति का सामना करनेवाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गयी। मैंने कहा—"महाराज! आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती (अस्तित्व) है।" दूसरी बार फिर तैयारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर वही दिया—"महाराज! आपकी तर्कना-शक्ति बड़ी प्रबल है। आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।" महाराज पहले हँसे, फिर गम्भीर स्वर से कहा "देखो, तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये—यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा? तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे।" अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद्वाक्य उन्होंने पढ़ा था—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

—कठ० १।२।२३

हिन्दूदेवी का मातृभाव और
आर्यसभ्यता की श्रेष्ठता

दयानन्द सरस्वती स्वामी का अनन्य भक्त सन्निपात ज्वर से पीड़ित बीमारी के बिस्तर पर बेहोश पड़ा ही था कि वह बरेली से विदा हो गये। जब ज्वर से मुक्त होकर होश आया तो पहली इच्छा स्वामी के चरणों में उपस्थित होने की प्रकट की। सुना कि वह शाहजहाँपुर को पधार गये। जिस हकीम लल्ला जी के इलाज से बरेली पहुँचते ही बीमारी से मुक्त हुआ था, उसी की बेमालूम ओषधि से अब ज्वर टूटा। हकीम, वैद्य और डॉक्टर ४८ घण्टों में कितने ही बदले, जब छह घण्टे हाथ-पैर मार और १५० रु० लेकर अंग्रेज सिविल सर्जन भी विदा हो गये तब पिता जी ने विवश होकर आवारागर्द लल्ला को बुलाया। मेरे मित्र को शेष सारी दुनिया भूल गयी और सब चिकित्सकों को पाँच-सात गालियाँ देकर पाँव की ओर बैठ गया। प्यास लगी थी, घड़े का ठण्डा पानी मँगाया, उसमें मिसरी घोली और ३ मासे की लाल पुड़िया मिलाकर पूरा गिलास शरबत का पिला दिया। फिर नाभि में एक रोगन मला और काँसे के कटोरे से हाथों और पैरों में मक्खन लगाकर मालिश शुरू हो गयी। फिर तीन-तीन घण्टों के पीछे दो बार पूर्ववत् ठण्डे पानी में मिसरी घोल और हरी पुड़िया मिलाकर शर्वत पिलाया गया। १२ घण्टों में बुखार उतर गया और मुझे नींद आ गयी।

उठने पर लल्ला जी को बुलाया गया—"क्यों भाई ! कैसी तबीयत है ?" मैंने उत्तर दिया—"अबके बहुत कमजोर हो गया हूँ। पहली बार तो चटनी से १३ घण्टों में ठीक कर दिया था।" लल्ला जी बोले—"चटनी की चाट है, बात तो असल यह है। यह लो, अबके और भी मज़ेदार बनायी है। जितनी बार दिल चाहे एक अंगुली पर लेकर चाटते जाओ।" चटनी क्या थी, नमक, मीठे, खट्टे, चरपरे सब प्रकार के स्वादों का मिश्रण था। तीसरे दिन मैं प्रातः भ्रमणार्थ पैदल चला गया।

पिता जी को उन घटनाओं का ज्ञान न था जिन्होंने मुझे नाच-तमाशों से घृणा दिलायी और मद्यपान की आदत कुछ काल के लिए छुड़वा दी। उन्हें यह परिवर्तन दयानन्द सरस्वती के सत्संग का फल दीख पड़ा; इसलिए यद्यपि वे हरिहर के निन्दक संन्यासी की बात स्वयं सुनना पाप समझते थे, तथापि पुत्र के कायापलट के लिए उसे धन्यवाद देते थे।

मुझे आज्ञा हुई कि स्वदेश जाकर अपनी धर्मपत्नी को विदा करा लाऊँ। मैं घर पहुँचा, जालन्धर जाकर सम्बन्धियों से मिला और तीसरी बार अपनी धर्मपत्नी को, बिना मुँह देखे विदा करा लाया। तलवन पहुँचकर अपनी अर्धांगिनी से पहली

बातचीत हुई। पुराने नावलों के हवाई किले रुखसत हुए, परन्तु एक नया भाव उत्पन्न हुआ। वह यह कि जिस अबला को अपना आश्रय मिला है, उसे गुणवती बनाने के लिए शिक्षा दूँ। उस समय मेरे मन में दया और रक्षा का भाव ही प्रबल था।

बरेली आने पर शिवदेवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिन का भोजन तो मेरे पीछे करती ही, परन्तु रात को जब कभी मुझे देर हो जाती और पिता जी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मँगा लेती और जब मैं लौटता उसी समय अँगीठी पर गरम करके मुझे भोजन कराती, पीछे स्वयं खाती। एक रात मैं रात के आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जीचौक के दरवाजे पर छोड़ी। दरवाजे पर ही बरेली के बुजुर्ग रईस मुंशी जीवनसहाय का मकान था। उनके बड़े पुत्र मुंशी त्रिवेणीसहाय ने मुझे रोक लिया। गजक सामने रक्खी और जाम भरकर दिया। मैंने इन्कार किया। बोले—"तुम्हारे लिए ही दो-आतशा खिचवाई है। यह जौहर है।" त्रिवेणीसहाय जी से छोटे सब मेरे मित्र थे, उनको मैं बड़े भाई के तुल्य समझता था। न तो आतशा का मतलब समझा न जौहर का; एक गिलास पी गया। फिर गप्पबाजी शुरू हो गयी और उनके मना करते-करते मैं चार गिलास चढ़ा गया। असल में वह बड़ी नशीली शराब थी। उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा कराएँ। उस समय तक न तो मैं कभी वेश्या के मकान पर गया था और न कभी वेश्या को अपने यहाँ बुलाकर बातचीत की थी; केवल महफिलों में नाच देखकर चला आता था। शराब ने इतना जोर किया कि पाँव ज़मीन पर नहीं पड़ता था। एक खूंड[1] मेरे हाथ में था। एक वेश्या के घर में जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को देखकर सब सलाम करके खड़ी हो गयीं। घर की बड़ी नायिका को हुकुम हुआ कि मुजरा सजाया जाए। उसकी नौची[2] के पास कोई रुपये देनेवाला बैठा था। उसके आने में देर हुई। न जाने मेरे मुँह से क्या निकला। सारा घर काँपने लगा। नौची घबराई हुई दौड़ी आयी और सलाम किया। तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा। उसने क्षमा माँगने के लिए हाथ बढ़ाया और मैं 'नापाक-नापाक' कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियों ने बतलाया। नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिये पर जा गिरा और बूट आगे कर दिये जो नौकर ने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य, बूढ़े पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। छत पर पहुँचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बन्द कर लिये और बरामदे के पास पहुँचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय एक नाजुक छोटी अंगुलियोंवाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने खुलके उलटी की। अब शिवदेवी के हाथों में मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा

१. लोहे की छड़, २. वेश्या की पालिता पुत्री जिसे वह अपना पेशा सिखाती है।

मुँह पोंछ ऊपर का अंगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे-बैठे ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गयी। वहाँ पलँग पर लिटाकर मुझपर चादर डाल दी और साथ बैठकर माथा और सिर दबाने लगी। मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम से भरा मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृशक्ति की छत्रछाया के नीचे निश्चिन्त लेटा हूँ। पथराई हुई आँखें बन्द हो गयीं और मैं गहरी नींद सो गया। रात शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली। वह चौदह-पन्द्रह बरस की बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी माँगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गरम दूध अँगीठी पर से उतार और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुँह को लगा दिया। दूध पीने पर होश आया। उस समय अंग्रेजी उपन्यास (नावल्स) मग़ज में से निकल गये और गुसाईं जी के खींचे दृश्य सामने आ खड़े हुए। मैंने उठकर और पास बैठाकर कहा "देवी! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो!" उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया, परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी। शिवदेवी ने कहा—"आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती? अब भोजन करने में क्या रुचि है?" उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियाँ सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की परन्तु वहाँ उसकी माता का उपदेश काम कर रहा था, "आप मेरे स्वामी हो, यह सब-कुछ सुनाकर मुझपर पाप क्यों चढ़ाते हो? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूँ।" उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

वैदिक आदर्श से गिरकर भी जिस सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्यमहिलाओं ने किया है, उसी के प्रताप से भारतभूमि रसातल को नहीं पहुँची और उसमें पुनरुत्थान की शक्ति अबतक विद्यमान है—यह मेरा निज का अनुभव है। भारत माता का ही नहीं, उसके द्वारा तहज़ीब (सिविलिज़ेशन) की ठेकेदार संसार की सब जातियों का सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्त्त की पुरानी संस्कृति के जागने पर देवियों को उनके उच्चासन पर फिर से बैठाया जाएगा।

स्त्री-औदार्य का एक और दृष्टान्त देकर अपनी संसार-यात्रा को आगे ले-चलूँगा। छावनी के पारसी मद्य-विक्रयी का बिल बढ़ता ही जा रहा था। दूसरे ही दिन उसका लगभग तीन सौ का बिल आ पहुँचा। उस दिन उसे तीन-चार दिन की छुट्टी लेकर टाल दिया। मुझे चिन्ता तो थी ही, शिवदेवी जी ने भोजन कराते समय मेरी चिन्ता का कारण पूछा। अब तो कोई बात आपस में गुप्त रह नहीं सकती थी। वेद के उपदेशानुसार मानो मेरा विवाह ही पिछली रात हुआ था। मैंने सब-कुछ स्पष्ट कह दिया। देवी ने कुल्ला करवा के हाथ-मुँह धुलवाये और अपना भोजन पाने से पहले ही अपने हाथ के सोने के कड़े उतार दिये। मैं चकित रह गया—

—१

"देवी ! यह कैसे हो सकता है ? तुम्हें आभूषित करने के स्थान में तुम्हें आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूँ ?"

इस समय मुझे ठीक संस्कृत-कवि की कल्पना के अनुसार दृश्य जँचा और मैंने जान लिया कि पतिव्रता देवी पति की स्वास्थ्यरक्षा के समय माता, विपत्ति के समय भगिनी और उसे सन्तान-सुख पहुँचाने के लिए धर्मपत्नी का रूप धारण करती है। देवी ने दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा—"एक जोड़ी पिता ने और दूसरी श्वसुर महोदय ने दी थी। इनमें से एक जोड़ी व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है। और जब तन भी आपका है तो इसके लेने में क्यों संकोच है ? आपकी चिन्ता दूर करने का यह महँगा सौदा नहीं।" शब्द पंजाबी के थे और उसके अनुवाद में कुछ मुझसे बढ़ाया भी गया होगा। कड़े बेचकर मद्य-विक्रयी का बिल चुकाया तथा प्रलोभन से बचने के लिए शेष रुपये देवी की सन्दूकची में रख दिये और मन में पक्का निश्चय कर लिया कि जब कमाने लग जाऊँगा तो व्यय किये हुए धन को फिर से आभूषणों में मिला दूँगा।

चाकरी का अनुभव

'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।'

—मनु० ४।१६०

पिता जी ने समझ लिया कि अब मैं कॉलिज में पढ़ने के योग्य नहीं रहा। मुझे पुलिस के काम से घृणा है, यह पिता जी जानते थे। कमिश्नर एडवर्ड्स उनके पुराने मेहरबान थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि तहसीलदारी की परीक्षा देकर उस महकमे में काम करना स्वीकार होगा या नहीं ? मैंने स्वीकार कर लिया।

मेरे सबसे बड़े भाई तलवन में घर पर भूमि और साहूकारी का प्रबन्ध करते थे। दूसरे और तीसरे भाई पुलिस सब-इन्स्पेक्टर (थानेदार) बनकर मिर्जापुर और हमीरपुर के जिलों में स्थित थे। चौथा मैं रह गया जिसको काम लगाना पिता जी ने अपना अन्तिम कर्त्तव्य समझा। वे कमिश्नर एडवर्ड्स के पास मुझे ले-गये। साहब मुझसे अंग्रेजी में बातचीत करके प्रसन्न हुए। न केवल मेरा रोल तहसीलदारी के लिए भेज दिया प्रत्युत बरेली का नायब तहसीलदार तीन महीनों के लिए कर दिया, क्योंकि पक्का नायब छुट्टी पर जा रहा था। चारों ओर से इष्ट-मित्रों ने बधाई दी और मैंने स्वीकार की।

तहसीलदार मुनीरुद्दीन मेरे पिता जी को अपना बुजुर्ग समझते थे, क्योंकि पहले उनके पिता बरेली में डेपुटी मजिस्ट्रेट थे और संवत् १९१७-१८ में मेरे पिता से उनका बहुत मेल था। उन्होंने मुझे काम सिखाया और मैं परीक्षा की तैयारी भी करने लगा। बरेली की तहसील और कोतवाली आमने-सामने हैं, इसलिए भी मुझे अपनी व्यवस्था में कुछ भेद न मालूम हुआ। एक महीना भली प्रकार व्यतीत हुआ।

फिर पन्द्रह दिनों की छुट्टी पर तहसीलदार गये। मैं उनका भी स्थानापन्न हुआ। पिता जी प्रसन्न हुए कि मैं शीघ्र उन्नति करूँगा, परन्तु उन १५ दिनों में मेरे मन का चित्र ही बदल गया। कलेक्टर और जण्ट मजिस्ट्रेट के बर्ताव को मैंने अपमान-सूचक पाया। अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहा और शेख मुनीरुद्दीन के लौटते ही अपना भाव उन्हें बतलाया। उनके उत्तर ने मुझे निराश कर दिया—'अरे भाई! अंग्रेज तो बादशाह हैं। काला कितना ही बढ़ जाए फिर भी महकूम ही है। ऐसी उपजकी[1] लेने से काम न चलेगा।' मेरा बोझ फिर तहसीलदार साहब ने सँभाल लिया और एक मास मैंने और बिता दिया। अभी नायब साहब के लौटने में १५ दिन बाकी थे। हमारी तहसील के एक पड़ाव पर सेना को रात काटनी थी। वह स्थान बरेली से आठ वा दस मील पर था। रसद-रसानी के लिए मैं चपरासी व जमादार लेकर पहुँचा। फौज गोरों की थी। उन्होंने अण्डेवाले के अण्डे, बिना मूल्य दिये, लूट लिये। मैंने कर्नल के पास शिकायत की और कहा कि यदि अण्डे बेचनेवाले गरीब के दाम उसी समय न चुका दिये गये तो मैं सब दुकानदारों को लौटा दूँगा। कर्नल साहब आग-बबूला होकर बोले, "तुम ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताखी का मतलब क्या है?"[2] जब मुझे गुस्ताख कहा गया और धमकी दी गयी तो मुझसे भी न रहा गया। मैंने उत्तर दिया—"मैं अपने आदमियों को ले-जा रहा हूँ। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हो कर लें।"[3] कर्नल आगे बढ़ा। वह निहत्था था, मेरे हाथ में हण्टर था। मैंने हण्टर सँभाला। कर्नल ज़रा रुका और मैंने भागकर रकाब पर पैर रक्खा और जमादार-चपरासियों को लौट आने की आज्ञा देकर घोड़े को एड़ दी। अन्य दुकानदार अण्डे लुटते ही भाग गये थे। मैंने लौटते ही तहसीलदार को सारी कहानी सुनायी। उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लग गयीं। मैंने रात को सारी रिपोर्ट लिखी। उर्दू में तो तहसीलदार साहब के सुपुर्द कर दी और अंग्रेजी की रिपोर्ट लेकर मैं कलेक्टर साहब के बँगले पर पहुँचा। रिपोर्ट होते ही बुलाया गया। कर्नल साहब पहले ही बैठे हुए थे। कलेक्टर साहब ने मुझे देखते ही क्रोधातुर हो कहा—"कर्नल साहब की क्यों हत्तक की? तुम्हें कर्त्तव्य न पालन करने का दण्ड मिलेगा।" मैंने अपनी रिपोर्ट कलेक्टर के हाथ में देकर कहा—"इसे पढ़ लीजिए और फिर न्याय कीजिए।" मुझे बैठने को न कहा गया। मैं खड़ा-खड़ा अन्दर-ही-अन्दर विष घोलता रहा। मेरी रिपोर्ट पढ़ कर्नल को

---

१. मनगढ़न्त विचार।

२. You will do it at your peril. What do you mean by being impertinent?

३. I am taking away my men. I can not bear this insult. You may do your worst.

लेकर अलग कमरे में चले गये। दस मिनट पीछे दोनों लौटे और कलेक्टर साहब ने कहा कि यदि मैं कर्नल बहादुर से क्षमा माँग लूँ तो मेरे विरुद्ध कोई भी महकमे की कार्यवाही न होगी। मेरे मन की दशा तो बहुत टेढ़ी थी परन्तु रुककर मैंने साहब को सलाम किया और एकदम बाहर निकलकर तहसील की राह ली। वहाँ कमिश्नर साहब का सवार मुझे बुलाने आया था। उलटे पैरों फिर छावनी को लौटा। कमिश्नर साहब मुझे स्थिर करने की फिक्र में थे। बाहर की तहसील में स्थान खाली था। वह देना चाहते थे। मैंने कर्नलवाली सारी कहानी सुनाकर निवेदन किया कि सरकारी नौकरी से पेट भर गया, अब मुझे क्षमा कीजिए। मैं उसी दिन विदा चाहता था परन्तु कृपालु कमिश्नर एडवर्ड्स ने पन्द्रह दिन और रोक, कलेक्टर के हुकुम को रद्द करके मुझे बिना किसी दाग़ के विदा किया। छुट्टी से लौट नायब साहब को नियमपूर्वक चार्ज देकर मैं सदा के लिए अंग्रेजों की चाकरी से मुक्त हो गया और जन्म-पत्री की यह विधि भी मिलाकर मैंने तहसील से घर की राह ली।

मेरे भविष्य का आंशिक निर्णय

शायद संवत् १९३७ के प्रारम्भ में ही पिता जी की बदली खुर्जा (जिला बुलन्दशहर) को हो गयी। खुर्जा सब-डिवीजन है। पिता जी वहाँ के सब-डिवीजनल पुलिस आफिसर नियत हुए। मैं भी शिवदेवी जी सहित, उनके साथ ही चला गया। वेतन और भत्तों के २०० रुपये मैंने बचाये थे। उन्हें उस रकम में मिलाया जो कड़ों को बेचकर बच रही थी और पिता जी के आगे रखकर केवल कड़े बेचने और बिल अदा करने की कहानी उन्हें सुना दी। पिता जी मेरे स्पष्ट बर्ताव से प्रसन्न होकर बोले, "तुझे नास्तिक कैसे कहते हैं? नास्तिक तो ऐसा सच्चा नहीं होता!" पिता जी की सहानुभूति से मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। बरेली के अन्तिम डेढ़ मास में कोई विशेष घटना नहीं हुई। खुर्जा में आकर पिता जी ने पेंशन लेने का विचार कर लिया। उनकी आयु ५४ वर्ष की हो चुकी थी। ५५ वर्ष की समाप्ति पर संवत् १९३९ (१८८२ ईसवी) में पेंशन मिल सकती थी। जून में पिता जी के पुराने हितैषी मिस्टर सी० पी० कारमाइकेल बुलन्दशहर आये थे। पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल होते हुए उन्होंने पिता जी को बनारस के मिर्जा रहमतुल्ला बेगवाले मुकद्दमे में से मुक्त कराया था। कमिश्नर होते हुए उन्होंने डाकों आदि के मुकद्दमों के पता लगाने पर पिता जी की बड़ी प्रशंसा की थी और अब माल के उच्च अफसर (सीनियर मेम्बर ऑफ दि बोर्ड ऑफ रेव्हेन्यू) के अधिकार से निरीक्षण के लिए आये थे। पिता जी शिक्रम पर उनसे मिलने गये। उस समय बुलन्दशहर जाने के लिए चोला स्टेशन पर उतरना पड़ता था। मैं पिता जी के साथ गया। ग्राउस साहब कलेक्टर थे। ये मथुरा बहुत वर्षों तक रहे और तुलसीकृत

रामायण के प्रसिद्ध अनुवादक थे। पिता जी मुझे उनसे मिलाकर कारमाइकेल साहब के पास मिलने, उसी के ठीक दूसरे कमरे में, चले गये। मिस्टर ग्राउस भी तुलसीदास के प्रशंसक और मैं नास्तिक होते हुए भी गुसाईं जी का भक्त। बड़ी मनोरंजक वातचीत हुई। इतने में कारमाइकेल साहब का चपरासी मुझे बुलाने आया। साहब ने मेरे पहुँचते ही कहा—"मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हें माँग लिया है। तुम्हें १५० से ३५० तक के ग्रेड में ले लूँगा और तुम चार बरस में डेपुटी कलेक्टर बनके निकल जाओगे। मेरे साथ चले चलो।" मैंने दो महीनों का अवकाश माँग लिया और उसके पीछे इलाहाबाद (प्रयाग) पहुँचने की प्रतिज्ञा की। कारमाइकेल साहब अपने आदमियों का पूरा पक्ष करनेवाले थे और गोरे-काले में कोई भेद नहीं जानते थे। शायद बंगाल के प्रसिद्ध गवर्नर लॉर्ड कारमाइकेल भी इन्हीं के कुल में से थे।

जुलाई में एक खून के मुकद्दमे की तहकीकात करते हुए पिता जी ने रामायण की कथा सुना एक घातक से जुर्म का इकबाल करा लिया। मुकद्दमा सेशन सुपुर्द हुआ। सेशनकोर्ट मेरठ में लगता था। वहाँ पैरवी के लिए स्वयं गये। घातक को निश्चय हो गया कि यदि मैं अब दण्ड भुगत लूँगा तो मुझे आगामी योनि में इस पाप का फल भोगना न पड़ेगा। सेशनजज ने पिता जी को बाहर भेजकर मुलजिम को बहुतेरा समझाया परन्तु वह यही कहता गया कि अगले जन्म में दण्ड भोगने के लिए मैं इस पाप को नहीं छिपाना चाहता। परिणाम यह हुआ कि घातक को केवल ५ वर्ष कैद का दण्ड मिला।

मुकद्दमे का जिक्र तो मैंने रामायण की महिमा दिखाने को किया है, परन्तु पिता जी की मेरठ-यात्रा का असर मेरे भविष्य पर बड़ा प्रबल पड़ा। मेरठ में वह जालन्धर के लाला डूँगरमल वकील से मिले। मेरे विषय में बातचीत हुई और पिता जी ने निश्चय कर लिया कि पेंशन पाने पर मुझे वकील बनकर उनके साथ रहना चाहिए और इसलिए चाकरी की गुलामी में मुझे नहीं पड़ना चाहिए। पिता जी स्वयं चाकरी से घबरा चुके थे और अंग्रेजों के न्याय पर उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं रहा था। इधर मैं सोच रहा था कि किसी प्रकार मिस्टर कारमाइकेल के साथ की हुई प्रतिज्ञा से मुक्त हो जाऊँ। अस्तु, पिता जी ने मेरठ से लौटते ही अपना प्रस्ताव मेरे सामने रक्खा। मैंने प्रसन्नता से स्वीकार किया और मुझे जायदाद का प्रबन्धकर्त्ता बनाकर तलवन भेज दिया गया और समझा दिया गया कि पौष १९३७ (जनवरी सन् १८८१ ईसवी) से लाहौर की कानूनी कक्षा में प्रविष्ट हो जाऊँ। सबसे बड़े भाई पिता से जुदा होकर अपना व्यापार करने लग गये थे, इसलिए मैं, धर्म-पत्नी सहित तलवन पहुँच गया और सारा काम भाई साहब से सँभाल लिया।

तलवन पहुँचकर एक ओर तो तीन बहियों का हिसाब चलाने लग गया और

दूसरी ओर जमीनों की पैदावार की बटाई शुरू कर दी। पिता जी की आरम्भ करायी हुई बैठक भी ठाकुरद्वारे के साथ बनवा दी और उसमें झाड़-फानूस भी लगवा दिये। पाँच-छह महीने तक बराबर ग्राम का साहूकार बना हुआ तद्रूप ही हो गया। अन्य सब अवस्था तो ठीक हो गयी, परन्तु मद्य-मांस का सेवन न छूटा। पढ़ना-लिखना सब छूटा। दिनकटी शतरंज के खेल से होती रही। ठाकुर-द्वारे की डेवढ़ी शतरंजियों का अड्डा बन गयी। मैं नास्तिक भी विचित्र था। मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार तो कहाँ, ईश्वर के अस्तित्व पर भी विश्वास नहीं, परन्तु कृष्ण-जन्माष्टमी पर झाँकी ऐसी बढ़िया बना दी, झाड़-फानूस और लैम्पों की रोशनी ऐसी चमका दी और प्रसाद ऐसा स्वादिष्ट बाँट दिया कि तलवन का कोई व्यक्ति—स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध ऐसा न रहा जो झाँकी देखने न आया हो। फिर उसपर तुर्रा यह कि साथ-साथ अन्धी श्रद्धा का खण्डन भी करता जाता। असल बात यह थी कि मैं पिता जी का कारिन्दा था और इसलिए उनके नियत किये हुए सब त्योहार मनाकर उनकी आज्ञानुसार व्यय कर देता था।

तीन बरसों का अस्थिर जीवन

पौष १९३७ से मार्गशीर्ष १९४० तक

(जनवरी सन् १८८१ से दिसम्बर १८८३ तक)

'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।' गीता ४।४०

(संशयग्रस्त के लिए न यह लोक है, न परलोक
और सुख भी नहीं है)

पौष संवत् १९३७ (जनवरी सन् १८८१) के द्वितीय सप्ताह में ही लाहौर पहुँचकर रहने के लिए मकान की तलाश की। इसमें दो सप्ताह लग गये। लॉ-क्लास का नियम था कि ७५ प्रतिशत व्याख्यानों में उपस्थित हुए बिना परीक्षा में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता था। अनुपस्थित होने के लिए छुट्टी लेने की कोई आवश्यकता न हुआ करती थी। मैं जनवरी के तीसरे सप्ताह में प्रविष्ट हुआ; उससे पहले आठ-नौ काम के दिन हो चुके थे। प्रविष्ट होकर दो-तीन दिन कानून की पुस्तक देखी, उसके पीछे फिर अन्धे टाइप के अंग्रेजी नॉवल और काव्य खरीदकर पढ़ना और पुरानी इमारतों में मटरगश्त लगाना शुरू कर दिया। उधर घर में भी कारिन्दागिरी करनी थी। होली की छुटि्टयों में मैं तलवन गया और कुछ दिन अधिक लगाकर चार-पाँच लेक्चर गँवाये। उन्हीं दिनों एक बख्शीशसिंह नामी आवारागर्द मिल गया। लाहौर में रईस अताइयों की एक नाटकसभा बतला-कर, उसके अभ्यास (रिहर्सल) के समय मुझे वहाँ ले गया। फिर मुझे सलाह दी कि यदि सौदागरी की दुकान खोली जाए और साथ ही शराब का लाइसेंस भी हो तो

लाहौर का सारा खर्च निकालकर कुछ बच भी सकता है। मुझे खयाल हो ही रहा था कि अब पिता जी पर बोझ नहीं होना चाहिए। बखशीशसिंह की सलाह मानकर होली के समय तलवन से ५०० रुपया ले-आया। तलवन का सारा कोष तो मेरे ही अधीन था, सोचा कि सौदागरी में लाभ उठाकर रुपया फिर कोष में डाल दूंगा। बखशीशसिंह मैनेजर बने। व्यय ही व्यय हुआ और मुनाफा नहीं। मेरी शिकायत पर मैनेजर ने उत्तर दिया कि अंग्रेजी शराब का लाइसेंस आते ही बिक्री बहुत बढ़ जाएगी। लाइसेंस के लिए मैंने डेपुटी कमिश्नर के नाम प्रार्थनापत्र लिखना शुरू किया। उस समय शंका और लज्जा ने आ घेरा और मैंने आधा लिखा हुआ पत्र फाड़ डाला। दुकान अनारकली में ली थी। उस शाम को पास की दुकान-वाले ने मुझे मार्ग में आ घेरा और कहा—"मैं बखशीश की दुकान समझता था। आपका यहाँ आना वह दोस्ताना बतलाता था। आज मालूम हुआ है कि आप मालिक हैं। यह आवारागर्द है। बाप ने इसे निकाल दिया है। अपना माल सँभाल लीजिए।" मैं दुकान में गया तो बहुत-सा माल एक आदमी बाँध रहा था और बखशीशसिंह कुर्सी पर बैठा था। माल रखवा दिया। माल बाँधनेवाले ने ८० रुपये बखशीशसिंह से लौटाये। उसकी जेब में ३५ रुपये और मिले, वह भी रखवा लिये और उसे दुकान से निकाल दिया। शेष सारा माल २५ प्रतिशत घाटा उठा-कर साथवाले सौदागर के हाथ बेचा। मेज, कुर्सी, आलमारी भी सब नीलाम कर दीं। दुकान के मालिक को एक मास का किराया दे ही चुका था। उसने १५ दिन में ही एक मास का किराया हजम करके आगे के हरजाने पर आग्रह न किया और मैंने केवल २५० रुपये का घाटा उठाकर भी यही समझा कि "बहुत सस्ते छूटे"।

यह सब करते-कराते वैशाख का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ। इसके बाद कानून का अध्ययन भी शुरू हो गया और दो महीने तक नियमपूर्वक काम हुआ। परन्तु पिता जी की आज्ञा आयी कि श्रावण के अन्त में भाई मूलराज जी की पुत्री का विवाह होगा, इसलिए मुझे शीघ्र तलवन पहुँचकर उसकी तय्यारी में लग जाना चाहिए। मुझे छुट्टियों से पन्द्रह दिन पहले ही चल देना पड़ा और फिर कुछ लेक्चरों में अनुपस्थिति लिखी गयी।

विवाह का काम जारी कर दिया। पिता जी को २५० रुपये की हानि का पूरा वृत्तान्त लिख दिया था। वे केवल १५ दिनों की छुट्टी पर आ सके। पिता जी ने ऐसा क्षमा किया कि उस २५० रुपये का पता मेरे भाइयों को भी न लगने पाया। विवाह की समाप्ति पर पिता जी चले गये। भाई आत्माराम जिला गाजीपुर के किसी पुलिस स्टेशन के थानेदार थे। वह विवाह में छुट्टी लेकर नहीं आये थे। पिता जी के पास उनकी शिकायत आयी हुई थी। मुझे आज्ञा हुई कि उनकी धर्म-पत्नी को उनके पास पहुँचा दूँ और उनकी अवस्था ठीक करने का भी यत्न करूँ जिससे व्यर्थ धन उड़ाने से वह बच जाए। भाई आत्माराम की धर्मपत्नी अपनी

एक भतीजी को साथ लेकर चलीं। मार्ग में खुर्जा, बरेली, बनारस और गाजीपुर ठहरते हुए हम सब भाई साहब के थाने पर पहुँच गये। मेरे जाते ही सब अवस्था सुधर गयी और मैं उनके पास तीन-चार दिन रहकर और पिता जी के पुराने अर्दली जमादार को उनके विषय में समझाकर लौट आया। लौटती बार बनारस और बरेली में पुराने मित्रों के पास कुछ अधिक ठहरा। फिर खुर्जा आया तो पिता जी ने ठहरा लिया। पेंशन की दर्खास्त वे दे चुके थे, इसलिए बहुत-सा सामान उन्होंने मेरे साथ भेजने के लिए बँधवाया था। अन्त को तलवन सामान छोड़ और वहाँ का सारा प्रवन्ध ठीक करके मैं लाहौर पहुँचा। फिर बहुत-से लेक्चरों में अनुपस्थिति लिखी गयी।

इस बार मैं अपनी धर्मपत्नी को साथ ले गया। इससे व्यय तो अधिक हुआ परन्तु पढ़ाई खूब हुई। परीक्षा तक मैंने पूरी तैयारी कर ली। परन्तु अन्त को जोड़ने पर ७५ प्रतिशत के स्थान में मेरी उपस्थिति लगभग ७० प्रतिशत निकली। एक और कारण भी मेरे लिए बाधक हुआ। प्रोफेसर महाशय एक मास की छुट्टी पर गये और उसका स्थानापन्न कोई न मिला। यदि उन दिनों लेक्चर बन्द न रहते तो शायद मेरी कमी पूरी हो जाती। परन्तु अब क्या हो सकता था! मैं निराश घर लौट आया। इस अकृतकार्यता ने मुझे निराशावादी बना दिया।

निराशा के भँवर से मुक्ति

पौष १९३८ (जनवरी सन् १८८२) के आरम्भ में लॉ क्लास के लेक्चरों में शामिल हुआ। जब ८० प्रतिशत से अधिक उपस्थिति हो गयी तब इस विचार से लौट आया कि घर से तैयारी करके परीक्षा दे दूँगा। तलवन में पढ़े-लिखों की संगत नहीं मिल सकती थी, इसलिए मैं अधिकतर अपने श्वसुर-गृह जालन्धर में रहने लगा। उन दिनों मेरा अधिक संग, अपनी धर्मपत्नी के सबसे बड़े भाई लाला बालकराम के साथ रहता था। संवत् १९४१ मार्गशीर्ष तक की संगतों को सत्संग नहीं कह सकता, हाँ, कुसंगत की उपाधि तो दे सकता हूँ, क्योंकि उनकी बदौलत आचरणों में कुछ गिरावट ही होती रही। मांस का तो उस कुल में प्रचार खूब था ही, मद्य-पान भी सभ्यता का चिह्न समझा जाता और फिर जब मुफ्त की शराब मिले तो बिना दृढ़ अभ्यासी सदाचारी के कौन प्रलोभन से बच सकता है? कभी राय शलिग्राम जी के ग्राम राजपुरान्तर्गत भक्तपुरा में और कभी उनकी गढ़रूपी कोट किशनचन्दवाली हवेली में, इसी प्रकार काल-यापन होता रहा। फिर श्रावण में पिता जी पेंशन पर आ रहे थे। खुर्जा पहुँचकर सामान बँधवाने और तलवन लाने का काम किया। फिर जालन्धर में बैठा तो मुखतारी परीक्षा की तय्यारी करने, नॉवल पढ़ने और फिर उनकी कथा रात के समय लाला बालकराम आदिक को सुनाने में फँस गया। अंग्रेजी उपन्यासों ने मेरे जीवन को बहुत अस्थिर बना

दिया था। इसलिए मुझे पीछे इनसे पूरी उपेक्षा हुई और अपने ब्रह्मचारी शिष्यों को भी इनसे बचने की प्रेरणा करता रहा और उनमें से जिन्होंने मेरे इस उपदेश का आदर किया वे वतला सकते हैं कि उन्हें कितना लाभ हुआ।

जालन्धर में परीक्षा की तय्यारी असम्भव देखकर मैं लाहौर चला गया। भाटी दर्वाजे के अन्दर मकान किराये पर लिया। पास ही एक चौबारे पर 'सर्व-हितकारिणी सभा' खुली हुई थी। उसके अधिवेशनों में शामिल होने लगा। वहाँ भाई जवाहिरसिंह और भाई दित्तसिंह ज्ञानी से भेंट हुई। ये दोनों सज्जन आर्य-समाज लाहौर से भी सम्बद्ध थे। भाई जवाहिरसिंह लाहौर आर्यसमाज के मन्त्री व दित्तसिंह माननीय उपदेशक थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के साप्ताहिक जलसों में भी जाने लगा। लाहौर पहुँचकर मद्यपान का अभ्यास भी कम हो गया, सभा-समाज में भी जाने लगा, परन्तु परीक्षा की तय्यारी में जी न लगता। १५ वा २० दिन कुछ देख-भालके परीक्षा में बैठा। दो दिन पीछे ही निश्चय हो गया कि उत्तीर्ण होना असम्भव है। परीक्षा के दिन पूरे करके जालन्धर लौट आया और वहाँ ही परिणाम सुन लिया।

पिता जी पहली ही छमाही की पेंशन लेने जालन्धर आये तव उन्हें मेरे अनु-त्तीर्ण होने का समाचार मिला। मुझे उदास देखकर उन्होंने तसल्ली दी और अपने साथ तलवन ले गये। मेरी धर्मपत्नी भी अपनी तीन-चार मास की पुत्री को गोद में लिये संग चली आयी। तीन महीने गृह के आनन्द में व्यतीत हुए। पुत्री का नाम वेदकुमारी रक्खा और उसके गोद लेने में दम्पती को स्वर्ग का सुख अनुभव होता था।

परन्तु संसार द्वन्द्वमय है। सुख में दुःख अवश्य विघ्न डालता है। भाई आत्मा-राम जी नौकरी से अलग होकर परिवारसहित घर लौट आये। इस प्रकार पिता जी के साथ दो परिवार हो गये। शिवदेवी जी की अवस्था कुछ ऐसी हो गयी जिसे देखकर मुझे क्लेश हुआ, परन्तु उस देवी में ऐसी अपूर्व सहनशक्ति थी कि मुझे भी शान्त कर दिया। अब मुझे यह विचार सताने लगा कि मुझे कमाने योग्य बनना चाहिए। ग़म ग़लत करने के लिए शराब की आदत बढ़ती गयी। मुझमें एक अव-गुण था जिसने अधिक हानि पहुँचायी। यदि मुझे नशा शीघ्र हो जाता और अधिक पीने से मैं बेहोश हो सकता तो शायद इस बुरी आदत से घृणा हो जाती, परन्तु मेरी हालत यह थी कि ब्राण्डी की पूरी बोतल चढ़ाकर भी अक़्ल की बातें करता और पैर कभी न लड़खड़ाते। इसकी सनद मुझे अपने छोटे साले (रायजादा हंसराज) के विवाह पर मिली। छिड़कनी का दिन था जब लड़के और लड़कीवाले दोनों मिल-कर होली खेला करते हैं। बरात समधियाने में जाने को तैयार हुई। पीते-पीते सब मदमस्त हो गये थे। मैं सबसे बढ़कर डेढ़ बोतल चढ़ा चुका था, परन्तु पितातुल्य राय शालिग्राम जी ने मुझे बुलाकर कहा—"मुंशीराम जी ! समधियों के घर

जाकर कोई नामुनासिब हर्कत न हो जाए। जिसको तुम इज़ाज़त दो वही जाए। अगर मुझे भी आने के लायक न समझना तो मुझे भी रोक देना।" इससे बढ़कर सर्टिफिकेट क्या मिल सकता है! परन्तु यह गुण मेरे लिए विष से भी बढ़कर सिद्ध हुआ। मुझे पीछे देर तक पश्चात्ताप रहा और चिरकाल तक यही आवाज अन्दर से उठती रही कि यदि मैं उस समय इस पाप से पनाह पा जाता तो लोकसंग्रह का कितना अधिक काम कर सकता! परन्तु एक समय आया जब मुझे अपने किये हुए सारे पापों के प्रायश्चित्त करने का अवसर मिला।

आधे ज्येष्ठ से आधे भाद्रपद तक तीन मास इसी उधेड़बुन में गुज़रे कि किसी प्रकार अपना गुज़ारा अपनी कमाई से करने के योग्य हो जाऊँ। श्रावण के अन्त तक ऐसे ही विचारों ने मुझे मुखतारी परीक्षा की तैयारी से रोक रक्खा। पहले कुछ इस खयाल ने घेरा कि यदि कारमाइकेल साहब का कहना मान लेता तो आज इस बेबसी का हाल न होता। फिर प्रत्येक दूसरे-तीसरे दिन नौकरी के लिए प्रार्थना-पत्र तैयार करता और फाड़ डालता। अन्त को फिर परीक्षा की तैयारी की सूझी। आधी से अधिक पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी कर ली। २० दिनों तक केवल रात के तीन घण्टे सोकर पढ़ते-पढ़ते रात-दिन एक कर दिया। आँखें पथरा गयीं और तीन घण्टे क्या, एक मिनट के लिए भी नींद हराम हो गयी। तब मैं अपनी धर्मपत्नी को लेकर, दशहरे के पीछे जालन्धर चला गया। वहाँ आज्ञाकारिणी शिवदेवी को मन की सारी अवस्था सुनाकर मैंने उसे बतलाया कि मैं नौकरी की तलाश में चला हूँ, इसपर देवी की सम्मति माँगी। वहाँ उत्तर एक ही था—"आप जो उचित समझिए कीजिए। मैं सम्मति देने के योग्य नहीं। मेरा धर्म आपकी आज्ञा का पालन करना है।"

मैंने सब तैयारी कर ली। अंग्रेजों की चाकरी को बहुत गिरा हुआ काम समझता था। हृदय की तसल्ली के लिए यह निश्चय किया कि किसी राजपूताने की रियासत में जाना चाहिए। मैं नहीं चाहता था कि मेरी ससुरालवालों को यह हाल मालूम हो। भाई बालकराम मुझे ट्रेन पर चढ़ाने को तैयार हुए। मैंने लाहौर का टिकट ले लिया और ट्रेन में बैठकर चल दिया। मार्ग में विचारतरंग ने फिर आ घेरा—'जिस चाकरी को तू गुलामी कहा करता था उसी की शरण लेने चला है? हिन्दोस्तानी रियासतों में तो और भी अधिक दासता है। अभी परीक्षा में दो मास बाकी हैं। यदि बिना परीक्षा दिये भाग गया तो सम्बन्धी और इष्टमित्र तुझे क्या समझेंगे? एक बार और हिम्मत कर!' इत्यादि-इत्यादि।

मियाँमीर पहुँचने तक निश्चय कर लिया कि मुखतारी की परीक्षा अवश्य देनी है। लाहौर पहुँचते ही एक मित्र मिल गये जो मुखतारी कर रहे थे। उनके साथ पाचक भी था। मैं उनके व्यय में शरीक हो गया और परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी। रागरंग और गुलछर्रे सब भूल गये। दिन को भोजन के पीछे छावनी की सड़क

पर निकल जाता और चिड़ियाघर में कोई एकान्त स्थान देखकर बैठ जाता। शाम तक वहीं पढ़ता और बाहर ही दिशा-फरागत हो डेरे पर लौटता, रात को फिर लैम्प होता और मैं। किसी समय स्कॉट के उपन्यासों पर आधी रात तक तेल जलाता था, अब आँखें प्रातः दो बजे से छह बजे तक कानून की किताबों की भेंट हो रही थीं। परीक्षा देकर लौटा और सीधा पिता जी के पास चला गया। कारणय ह कि इस बार कृतकार्य होने की पूरी आशा थी।

परीक्षोत्तीर्ण होने का तार भाई बालकराम जी ने फिल्लौर द्वारा दिया। पिता जी के आनन्द की सीमा न रही। ठाकुरों का शृंगार कराया गया; ब्रह्मभोज हुआ और यहाँ तक कि मेरे मौसा रुलदूराम जी के आग्रह पर, एक विवाह पर आयी हुई रण्डी के नाच की आज्ञा भी पिता जी ने दे दी। तार द्वारा बालकराम जी ने मुझे शीघ्र बुलाया था। मैं जालन्धर होता हुआ लाहौर गया, मुखतारी का लाइसेन्स लाया और अपना नाम जिला जालन्धर के कानून-पेशा जमात में लिखाकर अदालतों में जाना आरम्भ कर दिया।

एक विशेष घटना का वर्णन संवत् १९४० के अन्तर्गत ही करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने (चान्द्र) १३ कार्तिक (दीपमालिका की शाम) को अन्तिम समाधि लगाकर अपने कार्य का बोझ आर्यसमाजों पर छोड़ा। देश के सब प्रान्तों में शोक-सभाएँ हुईं और कोई भी समाचारपत्र ऐसा न था जिसमें उनके काम और विद्वत्ता की प्रशंसा न निकली हो। जब समाचारपत्रों में यह शोक-समाचार मुद्रित हुआ उस समय मैं जालन्धर में था। मेरी प्रेरणा पर शोकसभा पण्डित शिवनारायण वकील के कमरे में की गयी। लाहौर से वक्ता माँगे गये। वहाँ से पण्डित गुरुदत्त और और लाला हंसराज भेजे गये। हम सब उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर गए। जब एक पिद्दा-सा एम० ए० क्लास का विद्यार्थी और बी० ए० क्लास का सुक्कड़-सा हड्डियों का पिंजर दिखाई दिया तो पण्डित शिवनारायण आदि ने कहा कि लाहौरवालों ने हमारे साथ मखौल किया है कि लड़के भेज दिये। परन्तु जब लाला हंसराज उर्दू में और पण्डित गुरुदत्त अंग्रेजी में संशोधक दयानन्द के गुण वर्णन कर चुके तो एक दर्जन से अधिक वकीलों में से किसी का हौसला नहीं पड़ता था कि उनके धन्यवाद के लिए चार शब्द बोल दें। अन्त में सबको मौन देखकर पण्डित देवीचन्द्र वकील ने चार पंक्तियाँ बोल दीं।

इतरावस्था की पराकाष्ठा और

जिला जालन्धर के प्राड्विवाकों (कानूनपेशा आदमियों) की सूची में नाम लिखकर वकीलों के कमरे (बाररूम) में बैठने और गपशप लगाने का अधिकार हो गया। कुछ सम्बन्धियों के मुकद्दमों में, बिना उजरत लिये, मुखतारनामों पर "स्वीकार है" (एक्सेप्टेड) लिखकर अपने नये पद का प्रमाण भी दे दिया, परन्तु अभी

तक मँगनी की गाड़ी पर ही कचहरी जाता रहा और श्वसुरगृह में ही भोजन करता रहा। इस प्रकार दस दिन बीतने पर टुण्डे मौलाबख्श बीस बरस के चलते पुर्ज़े युवक को भाई बालकराम जी ने मुंशी रखवा दिया। शर्त यह ठहरी कि यदि काम लाने अर्थात् मुकद्दमेवालों को मेरे पंजे में फँसवाने में कृतकार्य हुआ तो एक महीने पीछे वह स्थिर कर दिया जाएगा। मौलाबख्श उसी साँझ एक फौजदारीवाले मुल्जिम (अपराधी) को फाँस लाया जिसकी पेशी फिल्लौर के तहसीलदार की अदालत में थी। दूसरे दिन प्रातः २५ रुपये जेब में डालकर मैं फिल्लौर चल दिया। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि तहसीलदार साहब रात को कचहरी करते हैं। सैयद आबिदहुसैन तहसीलदार थे। वह मेरे पिता को अपना बुजुर्ग समझते थे, क्योंकि उनके पिता 'सैयद हादी हसन' मेरे पिता के साथ ही संवत् १९१७ (सन् १८६०) में बरेली के डेपुटी कलेक्टर रह चुके थे। मैं उन्हीं के यहाँ उतरा। दो मुकद्दमे मुंसफी के ले-आया। दोनों में आठ रुपये पेशगी फ़ीस मिली। दिन को मुंसफी में काम किया। एक का फैसला अनुकूल होने पर ८ रुपये और मिल गये। दूसरे में दस दिन की तारीख पड़ गयी। रात को तहसीलदार साहब के सामने पेशी हुई। वह दीर्घसूत्री थे। आधी शहादत लेकर मुकद्दमा सात दिनों के लिए मुलतवी कर दिया। रात को ही तहसीलदार साहब की सम्मति के अनुसार निश्चय हुआ कि फिल्लौर में ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। फिल्लौर में उन दिनों बड़ी रौनक थी। छोटी-सी छावनी भी थी, किले में कुछ गोरे रहते थे, रेल का स्टेशन भी अव्वल दर्जे का था। तहसीलदार साहब की कृपा से रेलवेस्टेशन के समीप चौमुहानी पर एक दोमंजिला कमरा किराये पर मिल गया। फिल्लौर से ही पिता जी को लिख दिया कि बरेली-कार्ट और मुश्कन घोड़ी, बरतन इत्यादि समेत भेज दें। भृत्य भी पिता जी ने तलवन से ही भेज दिया। मैं भी तीन-चार दिन में भाई बालकराम आदि से विदा होकर फिल्लौर में जम गया और लगी आकाशवृत्ति की मौज आने। जिस प्रकार सुलफई ब्राह्मण अनिश्चित यजमानों के किये दान पर निर्भर टाँग-पर-टाँग रक्खे बैठे रहते हैं और उन्हें कोई दिन भूखे और कोई दिन खीर-मालपुए का बीतता है, इसी प्रकार के नये वकील मुखतार की भी गति है। किसी दिन जेबें भर गयीं, फिर चार-चार दिन आमदनी की फाकामस्ती। अस्तु।

मैं फिल्लौर में जम गया। फाल्गुन (फरवरी और मार्च) में खूब काम चमका। मुझे पिता जी का असीम प्रेम और उनकी क्षमा कभी भूली न थी। संगति भी बराबरवाले शराबियों की प्राप्त न थी। मुंसिफ भी दीनदार सुन्नी मुसलमान थे। सैयद आबिदहुसैन शिया थे, परन्तु इतने परहेजगार कि सिवाय मेरे पिता जी के और किसी हिन्दू काफिर के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीते थे। कोई दूसरा वकील मुखतार वहाँ था नहीं। मैं भी परहेजगार बन गया। फाल्गुन के मध्य में (फरवरी समाप्त होते ही) आदित्यवार को तलवन गया। सारी आमदनी व खर्च का हिसाब

पिता जी के सामने रखकर अपनी पहली कमाई के ७५ रुपये उनके चरणों पर रख दिये। पिता जी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे हार्दिक आशीर्वाद दिया। मैंने प्रतिज्ञा की कि प्रत्येक मास के आय-व्यय का हिसाब उनके सामने पेश किया करूँगा। दूसरे मास में २०० रुपये प्राप्त हुए और ७५ रुपये व्यय, शेष १२५ रुपये फिर भेंट किये। तब पिता जी ने कह दिया कि "तुम्हारी परीक्षा हो चुकी, अब कमाओ और गृहस्थी चलाओ, मुझे सन्तोष है।"

वैशाख के आरम्भ (अप्रैल के मध्यभाग) में निश्चय हुआ कि परिवार भी फिल्लौर आ जाए। एतदर्थ देवी को पुत्रीसहित पहले तलवन ले-गया। पिता जी का पुन: आशीर्वाद लेकर चलने को ही था कि मेरठ से भाई मूलराज पर एक मुकद्दमा चलने और उनके मुअत्तल होकर पुलिस-लाइन में लाये जाने का समाचार आया। उसी समय बिहार प्रान्त के भागलपुर शहर से पिता जी के नाम एक मुकद्दमे में गवाही देने के लिए सम्मन आया। यह उन मुकद्दमों में से एक था जिनका, बलिया में रहते हुए ही, पता लगाने पर उन्हें विशेष पारितोषिक मिल चुका था। धर्मपत्नी को तलवन में ही छोड़ मैं फिल्लौर गया। जाते ही पता लगा कि 'मौलाबख्श' मेरे नाम पर सौदागर से अंग्रेजी शराब, दुकानदार से घी और बासमती के चावलादि उधार ले-आया है। यह भी पता लगा कि वह रात को बैठक के नीचे नहीं सोता प्रत्युत वेश्या के घर रहता है। उसका अप्रैल (वैशाख) का वेतन मुझे देना था, वह देकर मैंने दुकानदार को निपटाया और मुंशी साहब को उसी समय चलता किया। मौलाबख्श के जालन्धर जाने के पीछे शराब के सौदागरादि आये, परन्तु फिर क्या हो सकता था! मौलाबख्श भोजन मेरे यहाँ करता था, १० रुपये मासिक वेतन मिलता था, ३० वा ३५ मासिक मुकद्दमेवालों से ले छोड़ता था। यह सब-कुछ व्यय करने के अतिरिक्त पचास-साठ रुपये लोगों के मारकर भाग गया।

मौलाबख्श से इस प्रकार छुटकारा हुआ। बग्घी, घोड़ी तथा अन्य सामान तलवन भेज और शेष मुकद्दमे निबटाकर मैं पिता जी के साथ मेरठ चल दिया। पिता जी तो एक दिन ठहरकर भागलपुर चले गये और मैं भाई साहब के मुकद्दमे की तैयारी करके वकील को देने के लिए, उनके पास पुलिस लाइन में जा रहा। बीस दिनों पीछे पिता जी लौटे। उनके लिए अलग मकान किराये पर ले छोड़ा था, उसी में मैं भी आ रहा। ज्येष्ठ और आषाढ़ (मई-जून) मास मेरठ में ही व्यतीत हुए। पिता जी इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस तथा अन्य हाकिमों के नाम मुझसे पत्र लिखवाते रहे। अन्त को भाई साहब अपनी जगह पर बहाल तो हो गये परन्तु पिता जी ने उन्हें सम्मति दी कि नौकरी छोड़ और इज़्ज़त लेकर घर चले आवें; रिश्वत से धन बहुत कमा चुके थे। उन्होंने भी पिता जी की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर एक मास पीछे त्यागपत्र दे दिया और जन्मभूमि में लौटकर पिता जी से मकानों का हिस्सा बँटवा, अपने लिए नया मकान बनवाना शुरू कर दिया।

श्रावण (जुलाई) में मैं तलवन लौटा। वहाँ से जालन्धर जाकर वह महीना तो मकान किराये पर लेने और सामान मँगवाने में व्यतीत हुआ। भाद्रपद (अगस्त) में अभी दुकान जमने ही लगी थी कि आश्विन (सितम्बर) की छुट्टियाँ आ पहुँचीं। बग्घी में घोड़ी जोतकर फिर तलवन को चल दिया।

कार्तिक लगते ही फिर जालन्धर पहुँचा। मुखतारी फिर चमकने लगी। शराब ने फिर दबा लिया। फिल्लौर में पिता जी को हिसाब देना होता था। वह सदाचार के पथ से डगमगाना रोकने के निमित्त मेरे लिए बड़ा भारी अंकुश था। यदि गृहदेवी की सत्संगति या पुत्री का साथ नित्य होता तो भी रक्षा होती, परन्तु देवी पितृगृह में रहती थी, मैं दूसरे-तीसरे दिन मिल आया करता था। उर्दू 'नज़्म-नसर' (पद्य-गद्य) का शौक बाररूम में जोरों पर था और पंजाबियों तथा उर्दू के केन्द्रस्थानों में घूम आनेवालों में प्रामाणिक समझा गया था। हर महफिल में मैं बुलाया जाता। फिर से पूरी बोतल चढ़ाने की आदत पड़ गयी। काम तो चला और आमदनी भी बढ़ी, शरीर के सब भोग प्राप्त हो गये परन्तु आत्मा है वा नहीं, इसमें भी सन्देह हो गया। और तो क्या, शारीरिक भोग भी दुःखदायी हो गये। यह माना कि शरीर में बाह्य परिवर्तन कुछ नहीं मालूम होता था, चलता भी पुरानी तेजी से ही था, पूरी बोतल चढ़ा जाने पर भी न पैर डगमगाते और न वाणी लड़खड़ाती, परन्तु मस्तिष्क की यह अवस्था हो गयी कि आध घण्टा पढ़ने के पीछे सिर में चक्कर आने लगते और पाँच मिनट किसी एक विषय पर विचार न कर सकता। ये सब सामान किसी बड़े परिवर्तन के सूचक थे।

अन्धकार की अन्तिम रात्रि

पौष संवत् १९४१ (दिसम्बर सन् १८८४) में मालूम हुआ कि साधारण शिक्षितों को वकालत की परीक्षा देने के लिए एक वर्ष का समय और दिया गया है। उसके पश्चात् बिना बी० ए० पास किये कोई भी मुखतार वकालत की परीक्षा न दे सकेगा। मुझे वकालत पास करनी आवश्यक थी, क्योंकि मुखतार को जिस मुकद्दमे में चाहे, अदालत पैरवी करने से रोक सकती थी। मैंने बड़े दिन की छुट्टियों से पहले ही काम बन्द करके लाहौर जा वकालत के लिए व्याख्यान सुनने की तैयारी कर ली थी, परन्तु मद्य-मांस खाने-पीनेवाले, 'हमप्याला, हमनिवाला' मित्रों ने दावत देना शुरू कर दिया। प्रत्येक शाम को किसी-न-किसी मित्र के यहाँ मुर्गों के गले काटे जाते, अण्डे भूने जाते और प्याले के दौर चलते। नित्य दिन को तैयारी करता और नित्य ही सायंकाल वह की-कराई तैयारी प्याले की लहर में बह जाती।

एक दिन एक बड़े वकील के यहाँ निमन्त्रण था। वहाँ खुला दौर चला। और सब तो अपने-अपने घरों को चले गये, मेरे साथ केवल एक 'पाँचों ऐब शायरी'

बाँके मुखतार रह गये। उन्हें कच्चे घड़े की चढ़ी हुई थी। बाहर निकलते ही उनका पैर लड़खड़ाया। मैं अपने अभ्यासानुसार बराबर होश में था। मेरे साथी का घर शहर की गलियों की भूलभुलैया के अन्दर था। उन्हें घर पहुँचाना मेरा कर्त्तव्य ठहर गया। बग्घी को वहाँ से विदा करके मैं मदमस्त शराबी के साथ शहर के अन्दर घुसा। मेरा एक हाथ साथी की कमर में और दूसरा उसके हाथ को सहारा दे रहा था। मार्ग की एक गली में मुझसे छूट वह एक घर के अन्दर चला गया। मैं पहुँचा तो वहाँ एक वेश्या बैठी थी। मुझे बहुत लज्जा आयी। परन्तु मदमस्त को तो घर पहुँचाना था। उसकी गालियाँ सहते हुए भी उसे फिर वहाँ से ढकेला और उसके घर पहुँचा दिया। तब अपने उस समय के डेरे पर लौट आया। जिस मित्र के यहाँ उतरा हुआ था, वह बोतल खोले बैठे थे। अभी रात के आठ ही बजे थे। फिर दौर चलने लग गया। आधी बोतल शेष थी जो दोनों ने समाप्त की और दूसरी बोतल खुल गयी। उसी में से अभी एक-एक पेग ही चढ़ाया था कि मेरे यजमान (मेजबान) भी आपे से बाहर होने लगे। मैंने उन्हें पीने से रोककर सोने को कहा। वह बीच का किवाड़ खोल साथ के कमरे में गये। उनके जाते ही मैंने एक बार और पी ली और दूसरी बार प्याला भरने की सोच ही रहा था कि साथ के कमरे से चीख की आवाज आयी। मैं किवाड़ ढकेलकर अन्दर पहुँचा तो देखा कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्र के हाथों में छटपटा रही है और वह उसपर पाशविक आक्रमण कर रहा है। यदि मैं दो मिनट और न पहुँचता तो शायद उसके पतिव्रत-धर्म की रक्षा न हो सकती। उस समय बिजली की तरह मेरी आँखों—मेरी अन्दर की आँखों के सामने राजरानी का पवित्र चित्र घूम गया और मेरी धर्मपत्नी शिवदेवी जी की मूर्ति मानो स्थित हो गयी। मैंने उस नराधम मित्र के दोनों हाथ पकड़कर उसे ढकेल दिया। वह गिरा और देवी काँपती हुई अन्दर भाग गयी। पिशाच मित्र को जबरदस्ती उसके पलँग पर लिटाकर मैं बाहर आ गया। मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्टि के आगे घूमने लगा और तब से पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ; परन्तु पुराने अभ्यास-अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिए उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँ। इस विचार से पूरा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक और पर्दा उठा और यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कोपीन लगाये शरीर में विभूति रमाये और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा जँचा मानो महात्मा कह रहे हैं—"क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ?" आँखें मलीं। मूर्ति कहीं सामने न थी, परन्तु हृदय काँप उठा। मेरा कमरा सड़क की एक ओर था, जहाँ किसी दूसरे के घर की दीवार थी। गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फेंकी, वह भी दीवार में टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गयी।

उठकर मुँह-हाथ धोया और बैठकर सोचने लगा। यदि उस समय निद्रा न आ जाती तो व्याकुलता का कोई पारावार न रहता, परन्तु दयालु पिता की बड़ी कृपा हुई। एकदम नींद आ गयी; छह बजे नींद खुली। उठकर शौच-स्नान से निवृत्त होकर सामान बग्घी में लादा और सीधा रेलवे स्टेशन पहुँचा। प्रातः दस बजे ट्रेन लाहौर की ओर जाती थी, उसकी प्रतीक्षा में बैठ गया। मित्र आठ बजे उठकर मुझे लौटा ले-जाने के लिए पहुँचे, परन्तु अब मैं लौटता कब था? न भोजन की इच्छा, न जल की। ट्रेन आयी और गाड़ी में बैठ गया। सामान, मेज, कुर्सी-सहित पहले बुक करा मार्ग में मैं अपने ध्यान में ही निमग्न रहा। मार्ग में ट्रेन का हर्जा भी हो गया परन्तु मेरा ध्यान न उखड़ा और आँखें उस समय बाहर देखने लगीं। जब ट्रेन मियाँमीर के स्टेशन पर पहुँची, तब तीन बज चुके थे। मुझे प्यास मालूम हुई। सोडावाटर की एक बोतल लेकर पी और सावधान हो गया।

लाहौर रेलवे स्टेशन पर पहुँचकर सामान ब्रेक से छुड़ाया और सीधा रहमत खाँ के अहाते के एक मकान में पहुँचा जहाँ रायजादा भक्तराम ने मेरे लिए कमरा सुरक्षित कर रक्खा था। जाते ही भोजन किया और रात के आठ बजे तक पुस्तक-वस्त्रादि ठीक प्रकार रख और मेज-कुर्सी लगा आध घण्टा कुछ पढ़ा और फिर सो गया। इसी नींद के अन्दर मानो नये जन्म की तय्यारी की और लाहौर पहुँचने के दूसरे दिन से ही जीवन में पूरा परिवर्तन हो गया।

द्वितीय परिच्छेद

प्रकाश की क्रमशः विजय

आचार्य का आदेश पूरा हो रहा है

लाहौर में पहली रात सोकर आँखें खोलीं तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी नये जगत् में प्रवेश किया है। शौचादि से निवृत्त होने पर मन में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति का स्पर्श होने लगा। भ्रमण के लिए बाहर निकला और बिना प्रयास ही गोलबाग का रास्ता पकड़ा। दो मील तेज चलकर लौटने के बाद आध घण्टा वाटिका में बैठकर आत्मिक आनन्द लिया। साम्प्रदायिक उपासना-विधियों से मैं अपरिचित न था परन्तु उस रचना में रचयिता को ढूंढते हुए मुग्ध हो गया। आध घण्टे पीछे धीरे-धीरे धरती पर पग रखते हुए अपने डेरे पर लौटा।

उसी दिन नियमपूर्वक लॉ क्लास (कानून-जमात) में नाम लिखवाकर पहले क्लास में शरीक हुआ और रात को नियमपूर्वक कानूनी किताबों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। तीसरे दिन आदित्यवार था। प्रातः आर्यसमाज मन्दिर में हरिकीर्तन का आनन्द लिया। दो मुसलमान रबाबी भजन गाया करते थे। व्याख्यान क्या था, चाऊचाऊ का मुरब्बा था। कहीं पौराणिक और ईसाई मतों का खण्डन, कहीं देशोन्नति के लिए अपील, कहीं विधवा-विवाह का (नियोग नाम से) मण्डन और कहीं नित्य हवन के लिए दलीलें। शाम को ब्राह्ममन्दिर में गया। वहाँ भी वही रबाबी गा रहे थे। उनके तराने समाप्त होने पर साधारण ब्रह्मसमाज के आचार्य शिवनाथ शास्त्री वेदी पर आये। ईश्वर-प्रार्थना के समय उनकी शान्त मूर्ति, उनके हृदयवेधक उच्चारण और प्रेमरस में पगे हुए शब्दों ने मुझे आकर्षित किया। उनके धर्मोपदेश का विषय था 'भक्ति का महत्त्व' और मैं था बिछुड़े हुए

१. गायक।

से मिलने का प्यासा। इतना प्रभावित हुआ कि ब्राह्मसमाज के सम्बन्ध में जितनी पुस्तकें भी उस समय मिलीं, सब खरीद लीं और अपने कमरे में पहुँच एक लघु पुस्तक (पैम्फलेट) को उसी रात समाप्त करके सोया।

पाँच-छह दिन इन्हीं पुस्तकों का स्वाध्याय, कानूनी पढ़ाई के साथ आधे समय का हिस्सेदार बनता रहा। सीधी-सड़क चलते-चलते एक जगह रोड़ा अटक गया। लाला काशीराम उस समय नवविधानसमाज के मुखिया थे। उन्होंने पुनर्जन्म-खण्डन में कोई लघु पुस्तक लिखी थी। ब्राह्मसमाज के साहित्य में जीवात्मा की उत्पत्ति अर्थात् उसका आदि, परन्तु साथ ही उसकी अनन्त उन्नति[1] का सिद्धान्त, समझ में न आया। मैं काशीराम जी के मकान पर गया। उन्होंने मेरी शंका सुनकर अपनी लघु पुस्तक पढ़ने को दी। मैंने उसे डेरे पहुँचते मार्ग में ही पढ़ लिया। दूसरी बार फिर उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा और जो शंकाएँ सूझीं उन्हें नोट कर लिया। मुझे चैन कहाँ था! उसी शाम दफ्तर का समय समाप्त हुआ समझकर लाला काशीराम के घर पहुँचा। आध घण्टा प्रतीक्षा करने पर भी वह न आये। उनके छोटे भाई भक्त माधोराम आर्यसमाजी थे। उन्हें कह दिया कि अगली सुबह को अवश्य पहुँचूंगा, इसलिए अपने भाई से घर ठहरने के लिए निवेदन कर दें। दूसरे दिन काशीराम जी मेरा इन्तजार कर रहे थे। मैंने अपनी शंकाएँ पेश कीं। उन्होंने उत्तर में मुझे बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार निर्मित ग्रन्थों के पढ़ने की सम्मति दी। मैं उन ग्रन्थों को पहले ही पढ़ चुका था। तब उन्हें मेरी शंकाओं को सुनना पड़ा। ब्राह्मसमाजी उत्तरों से मेरी तसल्ली न हुई, उलटा पुनर्जन्म एवं कर्मफल के सिद्धान्त पर निश्चय और भी दृढ़ हो गया। तब पादरी स्कॉट के साथ आचार्य दयानन्द के शास्त्रार्थ का स्मरण आया। मैं सीधा वच्छोवाली के आर्यसमाज मन्दिर की ओर सत्यार्थप्रकाश खरीदने के विचार से चल दिया। विक्रय-पुस्तक-भण्डार बन्द था। चपरासी ने कहा कि लाला केशवराम पुस्तकाध्यक्ष के आने पर पुस्तक मिल सकेगी। मैंने उनके घर का पता लिया और दो घण्टों की आवारागर्दी के पीछे उनका घर ढूंढ निकाला। केशवराम जी घर में न थे, वड़े तारघर गये थे, क्योंकि वह तार बाबू (सिगनलर) का काम करके ही आजीविका प्राप्त करते थे। मैं तारघर का पता लगाकर वहाँ पहुँचा। उस समय वह छुट्टी में जलपान के लिए घर गये थे। मैं फिर उनके घर लौटा तो वह तारघर लौट गये थे। पूछने से पता लगा कि वह डेढ़ घण्टे में ड्यूटी से लौटेंगे। मैंने वह डेढ़ घण्टा पास की गली के अन्दर मटरगश्त में बिताया। एक सज्जन बाबू केशवराम जी के घर में जाते दिखाई दिये। मैंने उन्हें जा घेरा, "महाशयजी! मुझे सत्यार्थप्रकाश खरीदना है।" उत्तर मिला, "निवृत्त होकर कुछ खा लूँ, फिर आपके साथ समाज-मन्दिर चलूंगा।" मैंने अपना सारे दिन का इतिहास सुनाकर बाहर ठहरने की इच्छा प्रकट की।

१. Eternal Progress

केशव जी का मुख सहानुभूति से चमक उठा और उन्होंने कहा—"महाशय जी ! चलिए पहले आपको पुस्तक दे दूं। जब तक आपका काम न कर लूं, मुझे इत्मीनान न होगा।"

समाज-मन्दिर में पहुँचने पर सत्यार्थप्रकाश मेरे हाथ में रक्खा गया। मैंने मूल्य दिया और इस प्रकार आह्लादपूर्वक लौटा, मानो बड़ा कोष हाथ लग गया है। मेरे साथी मुझे प्रातःकाल के भोजन में सम्मिलित न देख विस्मित थे। जब मैं पहुँचा तो सायंकाल का भोजन परसा जा रहा था। खूब भूख लगी थी, भोजन रुचिपूर्वक किया। शाम को भ्रमण के लिए गया ही नहीं; लैम्प जला, सत्यार्थ-प्रकाश की भूमिका समाप्त कर प्रथम समुल्लास के स्वाध्याय में लग गया।

आर्यसमाज में प्रवेश

संवत् १९४१ का माघ मास और आदित्यवार का दिन है। नास्तिकपन के गढ़े से मैं निकल चुका। धर्म-विषयक गहरे आन्दोलन के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश का पाठ दिन-रात आरम्भ कर चुका हूँ। अनारकली के पास रहमत खाँ के अहाते में एक तीन कमरों वाली कोठी के बायीं ओर के कमरे में मैं प्रातः ६ बजे कुरसी पर बैठा हूँ। सत्यार्थप्रकाश का आठवाँ समुल्लास सामने खुला पड़ा है, किन्तु मैं हाथ पर सिर रक्खे किसी गम्भीर विचार में निमग्न हूँ। इतने में कमरे का द्वार खुला और मेरे मित्र सुन्दरदास जी ने अन्दर प्रवेश किया। उनके पैर की आहट ने मुझे विचार-निद्रा से जगा दिया। यह सुन्दरदास जी रावलपिण्डी की राज्यक्रान्ति के आन्दोलन में फँसे वकील लाला अमोलकराम के भाई आर्य जाति की उन्नति के दृढ़ पक्षपाती थे। सुन्दरदास भी जानते थे कि आस्तिक बनने के पश्चात् मेरा अधिक झुकाव ब्राह्मसमाज की ओर हो रहा है। उन्होंने पूछा, "किस चिन्ता में हैं? कहिए, कुछ निश्चय न हुआ?" मेरी ओर से उत्तर मिला, "पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सभासद् बन सकता हूँ।" इस उत्तर ने सुन्दरदास जी के मुख की कान्ति को ऐसा उज्ज्वल कर दिया कि उसका तत्काल ही मुझपर प्रभाव पड़ा। मैं अपने ४० वर्ष के आर्यसामाजिक जीवन में जब-जब किसी संशयात्मक व्यक्ति को संशय-सागर के किनारे पर पहुँचा-कर श्रद्धा और विश्वास की रमणीक वाटिका में विश्राम कराने का साधन बना हूँ तब कई बार मैंने इस प्रकार के आह्लाद का अपने अन्दर अनुभव किया है।

सुन्दरदास जी को हम सब 'भाई सुन्दरदास' कहते थे। यद्यपि उनके नाम के साथ इस शब्द का प्रयोग उनके मित्रों ने हँसी-दिल्लगी से किया था, किन्तु जिस प्रेम से वे अपने मित्रों की सेवा किया करते थे और जिस प्रकार का भ्रातृ-भाव उनके अन्तःकरण को पवित्र कर रहा था उनके बाह्य बर्ताव ने उन्हें सचमुच अपने मित्रों का भाई ही बना दिया था। भाई जी वहीं जम गये। मेरे स्थान पर ही स्नानादि

नित्यक्रियाओं से निवृत्त होकर मुझे साथ ले आर्यसमाज की ओर चल दिये।

लाहौर आर्यमन्दिर में पहली वक्तृता

भाई सुन्दरदास जी के साथ मैं शाहे-आलमी दरवाजे से नगर के अन्दर प्रवेश करके सीधा आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचा। वच्छोवाली का वर्तमान मन्दिर ही पुराना समाज-मन्दिर है। इस समय बहुत-कुछ परिवर्तन होने पर भी उसकी पुरानी दशा आँखों के आगे स्पष्ट घूम रही है। द्वार के अन्दर जाते ही बायीं ओर बड़े आँगन के पासवाले दालान में मेज रहता था। उसके नीचे आँगन में बड़े तख्त पर ईश्वर-उपासना करनेवाले के लिए स्थान था। दालान के सामने खड़े होकर बायीं ओर की छोटी-सी कोठरी में पुस्तकालय था।

संवत् १९४१ के माघ में मैं लाहौर पहुँचकर प्लीडरी परीक्षा की तय्यारी कर रहा था। तब से यह नियम था कि प्रत्येक रविवार को प्रातः आर्यसमाज और सायंकाल ब्राह्मसमाज के अधिवेशनों में सम्मिलित होता। किन्तु इस दिन कुछ भाव ही और था और आर्यमन्दिर की छवि भी कुछ निराली ही दिखाई देती थी। वही दोनों रबाबी (गायक) जिनको हर सप्ताह ब्राह्म और आर्य-मन्दिरों में बिहारी-लाल की संगीतमाला तथा नानक और कबीर के ग्रन्थों में से भजन गाते सुनता था, मन्दिर में सारंगी के आलाप और तबले की थाप के साथ भैरवी की तान तोड़ रहे थे—

"उतर गया मेरे मन दा संसा जब तेरा दरसन पायो"

कैसे समय के अनुकूल शब्द थे जो मेरे कानों में पड़े!

मैं सामनेवाली दीवार के पास बैठ ही रहा था कि आर्यसमाज लाहौर के प्राणदाता स्वर्गीय लाला साईंदास जी के कान में भाई सुन्दरदास जी ने कुछ कहा; शायद यह बतलाया कि मैं ऋषि दयानन्द की शरण ग्रहण कर चुका हूँ। उस शक्तिशाली मूर्ति को कौन भूल सकता है? जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर विदेशी सभ्यता की लहर ने प्राचीन सभ्यता को छिपाना आरम्भ किया था, उस समय ऋषि दयानन्द के उपदेश पर जिन कुछ महानुभावों ने स्वदेशी का आदर आरम्भ किया, उनमें लाला साईंदास जी अग्रणी थे। किसी के शिर पर स्वदेशी पटका, किसी का कुरता स्वदेशी गबरून का, किन्तु लाला साईंदास सिर से पैर तक स्वदेशी रंग में ही रंगे होते थे। सिर पर लुधियाने की सादी लुंगी, जिसके नीचे तीक्ष्ण मर्मवेधक आँखें, जो दूसरे के अन्तःकरण के भावों को समझ लेतीं। गले में सादा गबरून का कुरता, जिसपर जोड़ी का सादा चोगा पड़ा होता, और उस चोगे की घुण्डी में बँधा हुआ गबरून का रूमाल कुंजियों के गुच्छे को आश्रय देता, जो कन्धे के ऊपर पीछे को लटक जातीं। लाला साईंदास जी के पैर में मैंने सदैव सादा

पंजाबी जूता देखा। लाला जी पंजाब चीफकोर्ट में अनुवादक (ट्रांसलेटर) थे। आर्यसमाज मन्दिर तथा चीफकोर्ट की पोशाक में भेद केवल इतना होता कि जहाँ समाज-मन्दिर में स्वदेशी मोटी धोती पहनकर आते, वहाँ चीफकोर्ट जाते हुए स्वदेशी जोड़ी का पाजामा पहन लेते।

लाला साईंदास जी उपासना की चौकी की बायीं ओर बैठा करते थे। उनकी दृष्टि मुझपर देर से पड़ी थी। भाई सुन्दरदास जी की बात सुनते ही लाला जी ने दो-तीन बार ज़ोर से मुझे अपने पास बुलाने का इशारा किया। ऐसे समय में लाला जी की मूँछों का फड़कना उनके अन्दर एक विचित्र प्रकार के तेज की सूचना दिया करता था। मैं खिसककर लाला जी के पास जा बैठा, और उन्होंने बड़े प्रेम से पीठ पर हाथ धरकर मुझे आशीर्वाद दिया। उसी समय भाई दित्तसिंह जी ने पंजाबी भाषा में बड़ा रोचक व्याख्यान आरम्भ कर दिया। भाई दित्तसिंह उन दिनों लाहौर आर्यसमाज के बड़े उत्साही सभासद् थे और आदित्यवार को प्रायः व्याख्यान दिया करते थे। भाई दित्तसिंह जी ने अपने व्याख्यान की समाप्ति पर मेरे आर्यसमाज में प्रवेश का ज़िक्र करते हुए मुझसे अपने तथा भाई जवाहिरसिंह जी मन्त्री के पुराने सामाजिक सम्बन्ध का वर्णन किया। उसके पश्चात् भाई जवाहिरसिंह जी उठे। वह उस समय लाहौर आर्यसमाज के मन्त्री थे। यह वही भाई जवाहिर-सिंह थे, जो पीछे आर्यसमाज के नेताओं की भूल से अमृतसर के 'हरिमन्दिर' के प्रबन्धकर्त्ता बनने की धुन में आर्यसमाज के शत्रु तथा अपने पूर्वगुरु ऋषि दयानन्द के निन्दक बन गये थे। किन्तु उस समय भाई जवाहिरसिंहजी ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के ऐसे भक्त थे कि जहाँ श्री साईंदास जी तथा राय मूलराज एम० ए० अंग्रेजी तथा उर्दू में ऋषि से पत्र-व्यवहार करते, वहाँ भाई जवाहिरसिंह सदैव आर्य भाषा में अपने गुरु को पत्र लिखा करते, अस्तु।

भाई जवाहिरसिंह जी उठे और मेरे आर्यसमाज-प्रवेश के विषय में बहुत-कुछ कहकर समाप्ति पर कह दिया कि ये अपने कुछ विचार उपस्थित सज्जनों के समक्ष प्रकट करेंगे। इस घोषणा ने मुझपर मानो वज्रपात कर दिया। इससे पहले मैं विद्यार्थियों की वाग्वर्धिनी सभाओं में तो बोला था; न्यायालयों में न्यायाधीशों के सामने मुकद्दमों में भी वक्तृताएँ की थीं, किन्तु सर्वसाधारण के किसी बड़े समूह के सामने व्याख्यान नहीं दिया था; पहले से कुछ सोचने का भी अवसर नहीं मिला था; इसलिए हैरान था कि क्या बोलूँ! उठते-उठते यही सूझी कि अन्दर के भाव प्रकट कर दूँ। मुझे उस समय की वक्तृता का पूरा स्मरण तो है नहीं किन्तु २० वा २५ मिनटों में मैंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि हम सबके कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिएँ और इसलिए जो वैदिक धर्म के एक-एक सिद्धान्त के अनु-कूल अपना जीवन नहीं ढाल रहा है उसे उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिए। मुझे याद है कि मैंने समाप्ति पर यह भाव भी प्रकट किया था कि भाड़े के

टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता, इस पवित्र कार्य के लिए स्वार्थत्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।

जिस दिन मैंने व्याख्यान दिया उस दिन आर्यमन्दिर में अमृतसर-निवासी मास्टर हीरासिंह जी भी विद्यमान थे। वह लाहौर के ट्रेनिंग स्कूल में अध्यापकों की शिक्षा पाने के लिए गये हुए थे। जब दो-तीन वर्षों के पश्चात् मास्टर हीरासिंह जी जालन्धर अध्यापक बनकर आये तो उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरी पहली वक्तृता सुनकर जब लाला साईंदास जी अपने घर आये तो उस वक्त मास्टर जी तथा अन्य तीन-चार आर्यसामाजिक सभ्यों के सामने इन्होंने कहा—"आर्यसमाज में यह नयी स्पिरिट (स्फूर्त्ति) आयी है। देखें आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" मुझे अपने प्रवेश से पहले का प्रत्यक्ष कोई हाल तो मालूम नहीं, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि उस समय सिवाय एक वैतनिक उपदेशक के और कोई उपदेशक का काम नहीं करता था और सिवाय दोनों मुसलमान रबाबियों के लाहौर आर्य-समाज का कोई सभासद् भी स्वयं ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना के भजन-गायन नहीं किया करता था।

जो स्पिरिट स्वर्गीय श्रीमान् लाला साईंदास ने आर्यसमाज के अन्दर नयी समझी थी उसका परिणाम अच्छा निकला या बुरा, इसका पता पाठकों को इसी लेखमाला के अन्दर बिना मेरी किसी टीका-टिप्पणी के मिल जाएगा।

जालन्धर आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का आरम्भ

रहमतखाँ के अहाते में तीन-तीन कमरेवाले दो मकान हम लोगों ने इकट्ठे लिये थे। उनमें छह साथी एकसाथ रहते थे; मेरे अतिरिक्त और पाँच रहते थे। उनकी सूची यहीं दिये देता हूँ—(१) मेरे भाई रायज़ादा भक्तराम, जो इस समय जालन्धर के प्रसिद्ध बैरिस्टर हैं। (२) म० मुकुन्दराम जी, रायज़ादा भक्तराम के साथ ही बैरिस्टरी की परीक्षा के लिए इंगलैण्ड गये थे, जहाँ समुद्र में नहाते समय उनकी अकाल मृत्यु हुई। यह बड़े स्पष्टवक्ता और दृढ़ आर्य तथा सन्ध्या-वन्दनादि के पालन में बड़े पक्के थे। (३) स्वर्गीय म० रामचन्द्र जी होशियारपुर आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रधान। इनका नाम ही 'महाशय' था और यह उस समय भी बड़े कट्टर आर्यसमाजी समझे जाते थे। (४) महाशय फ़क़ीरचन्द जी श्याम चौरासी (जिला होशियारपुर) के प्रसिद्ध वजीर रामदित्तामल जी के भतीजे जो यद्यपि उस समय स्वतन्त्र विचार रखते थे किन्तु पीछे से हमारे कॉलिजवाले भाइयों की प्रादेशिक सभा के प्रधान हो गये थे, और (५) रायबहादुर सुखदयालु एडवोकेट, लाहौर के भाई मुखदयालु। इनमें से एक मैं ही प्लीडरी की तैयारी कर रहा था, शेष सब लाहौर के गवर्नमेंट कॉलिज में पढ़ते थे। यद्यपि हम सब जुदे-जुदे रहते थे तथापि भोजन सबका एक ही स्थान में बनता था और भोजन जीमने के लिए भी सब एक

ही छोटे कमरे में और निमन्त्रित अतिथियों के आने पर किसी बरामदे में, इकट्ठे हुआ करते थे। इतनी भूमिका आवश्यक थी, क्योंकि आगे के चार-पाँच महीने मैंने उसी स्थान में व्यतीत किये और इसलिए इस प्रबन्ध की ओर कई बार संकेत करने की आवश्यकता होगी।

लाहौर के आर्यमन्दिर से लौटकर हम सब इकट्ठे डेरे पर आये। मेरे कथन ने मेरे साथियों पर भी असर किया। भोजन के समय भाई सुन्दरदास, महाशय रामचन्द्र तथा महाशय मुकुन्दराम आदि ने यह निश्चय किया कि वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए हम सब सप्ताह में कम-से-कम एक बार नगर के किसी भाग में बिना विज्ञापन दिये पहुँचा करें। इस प्रतिज्ञा पर उस वर्ष के हिस्से में अमल होता रहा।

भोजन के पश्चात् कुछ कानूनी किताबें पढ़कर मैं टहल रहा था कि तीसरे पहर की डाक आयी। उसमें जालन्धर कन्या महाविद्यालय के प्रसिद्ध वर्तमान प्रधान (श्री महाशय देवराज जी) का पत्र था। मालूम होता है कि मेरे नास्तिकपन के गढ़े से निकलकर आस्तिक होने का समाचार भक्तराम जी ने अपने बड़े भाई को लिख दिया था। इन दोनों ने पहले से ही जालन्धर में आर्यसमाज स्थापित कर छोड़ा था। इस पत्र में देवराज जी ने जो कुछ मुझे लिखा उसका सारांश यह था कि यतः मैं अब नास्तिक नहीं रहा, इसलिए मैं जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया हूँ और उन्होंने स्वयं मन्त्री-पद ग्रहण किया है। मैंने पत्र भक्तराम जी को दिखलाया और छूटते ही मेरे मुख से निम्न शब्द निकले—

"भाई देवराज भी बड़े भोले हैं! केवल यह सुनकर कि मैं ईश्वरवादी हो गया, उन्होंने कैसे समझ लिया कि मैं आर्यसमाज में भी प्रविष्ट हो गया हूँ? बिना यह निश्चय किये और बिना मेरे परीक्षण के मुझे प्रधान बनाना बड़ा ही आश्चर्यजनक है!"

भाई भक्तराम जी ने कहा—"बाल की खाल नहीं निकालनी चाहिए और जालन्धरी आर्यों को निराश नहीं करना चाहिए।"

मैंने सोचने के लिए समय माँगा और विचार करने लगा।

सायंकाल के भोजन के पश्चात् अन्य साथियों को छोड़ अकेले भक्तराम जी को साथ लेकर मैं भ्रमण के लिए चल दिया और मैदान में बैठकर हम दोनों ने इस विषय पर कि मुझे प्रधान-पद ग्रहण करना चाहिए या नहीं, गम्भीर विचार आरम्भ कर दिया। मुझे जहाँ तक स्मरण आता है मैंने अपनी निर्बलताओं की स्पष्ट समालोचना की और साथ ही प्रधान-पद के उत्तरदायित्व को भी बहुत-कुछ बढ़ाकर सामने रक्खा। जब अन्त में मैंने यह भाव प्रकट किया कि आर्यसमाज के प्रधानत्व का उत्तरदायित्व एक राज्य के शासन से भी बढ़कर कठिन है तो भाई भक्तराम जी खिलखिलाकर हँस पड़े—

"मुंशीराम जी ! चार टोटरू तो मेम्बर हैं और अभी लड़कों का खेल है, आपने विचित्र उधेड़-बुन लगा दी।"

इसपर मुझे भी हँसी आयी और मैंने भी मान लिया कि मैं कुछ अधिक विचार करके उत्तर लिख दूंगा। हम लोग डेरे पर लौट आये। इस छोटी-सी साधारण घटना का वर्णन मैंने इसलिए किया है कि जिस भाव से विशेष समयों में, मैं प्रेरित होता रहा हूँ, वह सर्वसाधारण के सामने आ जाए।

बहुत-से मनुष्यों के लिए मतपरिवर्त्तन का निर्णायक कोई विशेष सामाजिक प्रलोभन या अन्य गौण बात हुआ करती है, किन्तु मेरे लिए यह मतपरिवर्तन जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। इस समय तक भी मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी ओर है कि मैं साधारण-से-साधारण सिद्धान्त के प्रश्न को जीवन और मृत्यु का प्रश्न बना लेता हूँ। मेरे जीवन की बहुत-सी घटनाओं को समझने में यही एक बात सहायता दे सकती है। इस घटना पर दीर्घदृष्टि डालने से यह भी पता लग सकेगा कि दूसरों के गुणों तथा योग्यता का मान करते हुए तथा वास्तव में उनके प्रति प्रेम और आदर का भाव मन में रखते हुए भी क्यों मैंने ऐसे बहुत-से पुरुषों को शत्रु बना लिया है जिनका मेरे साथ मिलकर काम करना वैदिक धर्म तथा आर्यजाति की उन्नति का साधक होता।

मैं तो अभी विचारसागर में ही गोते लगाता रहा किन्तु भाई भक्तराम जी ने जालन्धर सूचना दे दी कि मुझे निःशंक होकर आर्यसमाज जालन्धर का प्रधान बना दिया जावे। मैंने आर्यसमाज का सभासद् बनने पर आठवें समुल्लास को समाप्त कर सत्यार्थप्रकाश के पाठ को दो दिनों से विराम दे छोड़ा था, किन्तु जब यह पता लगा कि मुझे निश्चय रूप से एक आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया है तो मैंने फिर नियमपूर्वक प्रतिदिन दो घण्टे सत्यार्थप्रकाश के पठन व मनन के लिए अर्पण करना शुरू कर दिया। नवें समुल्लास ने मुक्तिविषय में बहुत-से संशयों की निवृत्ति करके मनुष्य-जीवन के परमोद्देश्य के रहस्य को खोल दिया। पश्चात् मैंने दशम समुल्लास को हाथ लगाया। उस समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के विषय ने जीवन में एक ओर हलचल डाली जिसका सविस्तार वर्णन आवश्यक है।

मांसभक्षण का परित्याग

लाहौर में जब से मैं इस बार आता तब से ही दोनों काल भ्रमणार्थ बाहर जाया करता। सायंकाल को तो भोजन के पश्चात् अपने कानूनी सहपाठियों के साथ बातचीत करते हुए मैं धीरे-धीरे घूमा करता था, किन्तु प्रातःकाल नित्य लम्बा चक्कर लगाता, जिसमें थोड़ी दूर तक दौड़ना भी शामिल था। एक दिन होली से चार-पाँच दिवस पहले, मैं दूर से भ्रमण करता हुआ अनुमानतः पाँच बजे अनारकली में पहुँचा। बाहर स्वच्छ वायु का सेवन करते हुए वाटिकाओं के सुन्दर दृश्य देखे थे;

अनारकली में सामने से सिर पर मांस का टोकरा दिखायी दिया। टोकरे का उठानेवाला मनुष्य बोझ के दबाव से बचने के लिए भागा जाता था और टोकरे में भेड़-बकरियों और बकरों की बाहर लटकती हुई तथा खाल-उधड़ी टाँगें एक भयानक दृश्य उपस्थित कर रही थीं। न जाने क्यों, उस दिन इस दृश्य ने मेरा दिल दहला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि वे लटकती हुई टाँगें मेरे अन्दर के तिरोहित करुणरस को अपील कर रही हैं। मैं बाल्यावस्था से ही मांसाहारी था; पिता जी क्षत्रिय के लिए मांसभक्षण स्वाभाविक समझते थे। फिर इस आकस्मिक करुणरस का मतलब उस समय कुछ भी समझ में न आया। उस टोकरे की ओर मेरी टकटकी बँध गई। कुछ सोचता हुआ मैं खड़ा हो गया और उस समय तक टोकरे पर दृष्टि लगी रही जबतक कि वह आँखों से ओझल न हो गया। तब धीरे-धीरे पैर बढ़ाते हुए चिन्ता में निमग्न रहमतखाँ के अहातेवाले डेरे में पहुँचा।

स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सत्यार्थप्रकाश को हाथ में लिया ही था कि अपना एक और कर्त्तव्य याद आ गया। सप्ताह में एक रात हमारे ही डेरे के एक बड़े कमरे में संगत समाज (यूनियन क्लब) का अधिवेशन हुआ करता था जिसमें विविध विषयों पर परस्पर विचार होता था। उस रात के अधिवेशन में आरम्भिक वक्तृता मेरी थी। उसकी तैयारी में प्रातःकाल का दृश्य भूल गया। तीसरे पहर तक कानून की पढ़ाई में लगा रहा, जिसके पश्चात् सत्यार्थप्रकाश की बारी आयी। उस दिन दशम समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के विषय का आरम्भ था। ज्यों-ज्यों मांसभक्षण के दोष पढ़ता गया, त्यों-त्यों प्रातःकाल का दृश्य मूर्तिमान् होकर मेरे समक्ष खड़ा होता गया। एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक पढ़ते-पढ़ते भोजन का समय आ पहुँचा। अपने विचार में निमग्न हाथ-पाँव धोकर मैं भी भोजनगृह में आ बैठा। अन्य खाद्य वस्तुओं के साथ ही मांस भी कटोरे में आया ही था कि उसे देखकर उस दिन ऐसी घृणा हुई कि काँसी के कटोरे को उठा दीवार पर फेंक मारा। कटोरा टुकड़े-टुकड़े हो गया। मेरे साथी सब घबराये—"हैं ! हैं ! क्या तरकारी में मक्खी पड़ गयी ? क्या था ? ओ मिश्शर ! कमबख्त यह क्या किया ?" मैंने सबको रोककर कहा—"मिश्शर बेचारे को कुछ मत कहो ! एक आर्य के मत में मांसभक्षण भी महापापों में से एक है। मैं मांस का अपनी थाली में रक्खा जाना सह नहीं सकता।" उस समय तो मेरे सब भाई ऐसे प्रभावित हुए कि चुप हो रहे, किन्तु पीछे से कहते रहे कि कटोरा टुकड़े-टुकड़े करने के स्थान में उसे मैंने केवल उठवा ही क्यों न दिया। उन्हें तो मैंने कुछ उत्तर न दिया किन्तु मन में समझता था कि मैंने अपने कायरपन के कारण ऐसा किया। बचपन से पड़े हुए अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शान्ति से काटने की शक्ति तो किन्हीं विरले बहादुरों में ही होती है। शाम भोजन बहुत कम कर सका। दूसरे दिन से निरामिषभोजियों की संख्या बहुत बढ़ गयी, क्योंकि होशियारपुर के महाशय रामचन्द्र तथा लाला मुकुन्दराय, दोनों निरामिष-

भोजी थे। उसके पश्चात् कभी भी मांसभोजन की रुचि तक नहीं हुई और कुछ दिनों के पश्चात् ही मांसभक्षण से ऐसी घृणा हुई कि मेरे लिए न केवल उस पंक्ति में बैठना असह्य हो गया जिसमें मांस परोसा जाए, अपितु मांसाहारियों के चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा।

होली की छुट्टियां के लिए मुझे भाई देवराज जी का निमन्त्रण मिला। मेरे आर्यसमाजी बनने के पश्चात् सभी जालन्धरी भाई मुझसे मिलना चाहते थे। इसलिए मैं होली से एक दिन पहले ही जालन्धर पहुँच गया।

जालन्धर आर्यसमाज में पहला व्याख्यान

देवराज जी यद्यपि आयु में मुझसे छोटे हैं किन्तु आर्यसमाज में पहले प्रविष्ट होने के कारण वह मेरे जेठे आर्य भाई हैं। फिर भी उस समय उनका समाज, लड़कों का समाज ही समझा जाता था। मैं मुखतारी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक वर्ष काम भी कर चुका था। मैं इसलिए बुलाया गया था कि मेरे व्याख्यान को सुनकर सर्व-साधारण यह समझ लेंगे कि अब गृहस्थ व्यावहारिक पुरुष भी समाज में सम्मिलित हो रहे हैं।

मेरे व्याख्यान का विज्ञापन दिया गया। कपूर्थला राज्य के वकीलखाने के सामने से जरा आगे चलकर मुरलीमल पुरी की धर्मशाला प्रसिद्ध थी; उसी को किराये पर लेकर आर्यसमाज के अधिवेशन प्रति आदित्यवार को हुआ करते थे। मेरा व्याख्यान भी वहीं हुआ। व्याख्यान का विषय था 'बालविवाह के दोष और ब्रह्मचर्य की महिमा'। भाई देवराज जी की मनोकामना सिद्ध हुई। बाबू मदनगोपाल, बाबा सलामतराय अदि वकील तथा अन्य बहुत-से प्रतिष्ठित शिक्षित पुरुष व्याख्यान सुनने के लिए आये। स्थान ऊपर से नीचे तक श्रोताओं से खचाखच भरा पड़ा था। व्याख्यान भी 'कामयाबी' से समाप्त हुआ, किन्तु जब व्याख्यान के पश्चात् चौमुहानी पर पहुँचे और कुछ वकील खड़े होकर मुझे मेरे व्याख्यान पर 'मुबारकबाद' दे रहे थे, उसी समय देवराज जी के 'सिर्त'[1] ने दूसरी ओर से मुझे बधाई दी—"सुखी रहो जजमान! देवराज जी दे पुत्तर गन्धर्वराज दी कुड़माई लाला भवानीदास मुंसफ दी पुत्री नाल हो गयी है। थुआनु बहुत-बहुत बधाइयाँ!" सिर्त बेचारा अभी बधाई दे ही रहा था कि बाबू मदनगोपाल प्लीडर बड़े ज़ोर से खिलखिलाकर हँस पड़े—"वाह महाशय जी! मुझपर तो आपके व्याख्यान का खूब असर पड़ा। वाह! वाह!! वाह!!!"

बाबू मदनगोपाल की हँसी रुकती ही न थी। उनकी हँसी ने केवल 'सिर्त' जी को ही अचम्भे में न डाला प्रत्युत रास्ते चलतों को भी रोक लिया।

पाठक हैरान होंगे कि बाबू मदनगोपाल जी की हँसी पागलपन की हद तक

१. परिवार में रोटी बनानेवाला ब्राह्मण।

क्यों पहुँच गयी ? बात यह थी कि उस समय देवराज जी के बड़े पुत्र चि० गन्धर्व-राज की आयु शायद एक वर्ष की थी और लाला भवानीदास बी० ए० मुंसिफ की पुत्री की आयु सवा वर्ष की। मैं और देवराज जी तो इधर बालविवाह को रोकने और ब्रह्मचर्य का प्रचार करने में लगे हुए थे और उधर उनके पिता राय शालिग्राम जी एक वर्ष की आयु के अपने पोते की सगाई सवा वर्ष की लड़की के साथ करने के शुभ कार्य में निमग्न थे ! इसपर किसी दर्शक को जितनी भी हँसी आती थोड़ी थी। बाबू मदनगोपाल तो हमारी हँसी उड़ाते हुए और मैं तथा देवराज जी बहुत लज्जित और उदासीन होकर घर को लौट आये। हो भी क्या सकता था ! उस समय मौनावलम्बन ही करना पड़ा।

यहाँ कालक्रम की विधि का अनुसरण छोड़कर मैं इतना लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि जब लड़के और लड़की दोनों की आयु १४ वा १५ वर्ष तक पहुँची और समधी ने विवाह पर जोर दिया तो देवराज जी के दृढ़ रहने पर और यह कहने पर कि मैं अपने पुत्र का विवाह २५ वर्ष की आयु से पहले कदापि न करूँगा, वह नाता टूट गया और चिरंजीव गन्धर्वराज का विवाह पूर्ण युवावस्था में ही एक सुयोग्या विदुषी देवी के साथ हुआ।

उपर्युक्त पहला व्याख्यान देकर मैं फिर वकालत परीक्षा की तैयारी के लिए लाहौर चला गया।

एक दृढ़ आर्यसामाजिक मित्र

लाहौर में उन दिनों शिवनारायण अग्निहोत्री (वर्तमान देवसमाज के गुरु) के उर्दू व्याख्यानों की धूम थी। उन्हीं दिनों आलाराम भी आर्यसमाज की शरण में आया था और कवित्तों, सवैयों और दोहों में अपने व्याख्यान लिखकर दिया करता था। हमारे डेरे में इन दोनों के व्याख्यानों के सम्बन्ध में बड़ा मनोरंजक विवाद हुआ करता था। महाशय रामचन्द्र तो कट्टर आर्यसामाजिक होने के कारण आलाराम को आसमान पर चढ़ाते थे और अग्निहोत्री को अपने धर्म का विपक्षी होने के कारण अयोग्य बतलाते थे और रायज़ादा भक्तराम अधिकतः महाशय रामचन्द्र को खिझाने के लिए, अग्निहोत्री की बहुत प्रशंसा करके आलाराम को तुकबन्द की उपाधि दिया करते। यह विवाद यहाँ तक बढ़ा कि महाशय रामचन्द्र जी की संज्ञा ही आलाराम हो गयी।

सांसारिक यश की ऊँची कामनाएँ

मद्य-मांस का सेवन सर्वथा त्याग करने के कारण मेरी बुद्धि में स्थिरता फिर से दृढ़ होने लगी थी, इसलिए वकालत की तैयारी शुरू करते ही विचार अधिक उच्च होने लगे। लॉ कॉलिज (कानून की शिक्षा का विद्यालय) उस समय अलग न

था। गवर्नमेंट कॉलिज के ही एक कमरे में डिस्ट्रिक्ट जज मिस्टर ई० डब्ल्यू० पारकर प्लीडरी परीक्षा के उम्मीदवारों को व्याख्यान दिया करते थे और मुखतारी क्लास लाला लालचन्द्र जी के सुपुर्द थी। पारकर साहब का नाम तो कुछ विद्यार्थियों ने 'पाड़ खाँ' अर्थात् फाड़ खानेवाला रक्खा था, क्योंकि हर आदमी के गले ही पड़ जाया करते थे और कुछ उन्हें 'पाटे खाँ' की उपाधि देते थे, क्योंकि साहब बहादुर अपनी योग्यता के दिखावे में भी एक ही थे। लाला (पीछे रायबहादुर) लालचन्द्र एम० ए० बड़े सुशील तथा सादे आदमी थे, यहाँ तक कि सिवाय नीची आँखें करके व्याख्यान देते जाने के वह कभी किसी विद्यार्थी पर दृष्टि डालते नहीं देखे गये। तीसरे लाला सर्दारीलाल गवर्नमेंट कॉलिज के क्लर्क थे, जिनको डॉक्टर लाइटनर की कृपा से मुखतारी क्लास की रीडरी के लिए ५० रुपये मासिक मिलते थे। इनकी कहानी विचित्र थी। तहसीलदारी इन्होंने पास की, प्लीडरी भी इन्होंने हस्तगत की, किन्तु रहे जन्मभर क्लर्की की मेज पर ही कलम घिसते। एक बार ये डिवीज़नल जज के क्लर्क ऑफ दि कोर्ट बनाकर भेजे गये थें, जहाँ से शीघ्र मुंसिफ बन जाने का सम्भावना थी, किन्तु अपनी कॉलिजवाली मेज और चपरासी के कमरे-वाला नलेरा (तम्बाखू पीने का नारियल) ऐसा याद आया कि १५ दिनों के पश्चात् मुंसिफी आदि को जवाब देकर लौट आये। इन्हें कानून-वानून तो कुछ आता-जाता न था, केवल किताब पढ़ाते जाते थे। विद्यार्थियों ने आपसे प्रश्न पूछना शुरू किया। लाला सर्दारीलाल जी पहले तो बहुत घबराये, किन्तु अन्त को छुटकारे का मार्ग ढूंढ ही लिया। जब कभी कोई विद्यार्थी प्रश्न करता तो आप उत्तर देते—"भाई! मैं लेक्चरार नहीं हूँ कि प्रश्नों के उत्तर दूं, मैं तो रीडर (पाठ करनेवाला) हूँ; जो पढ़ता जाऊँ सुनते जाओ।" विद्यार्थी भी यहाँ हार खा गये।

हमारी पढ़ाई में 'हालैंड्स जूरिस्प्रूडेंस'[1] भी था। यह अंग्रेजी धर्मशास्त्र का ग्रन्थ बड़ा कठिन था। मिस्टर पारकर उसपर किये प्रश्नों के उत्तर में बड़े चकराया करते थे। एक दिन एक विद्यार्थी के प्रश्न पर आज्ञा लेकर मैंने सन्तोषजनक उत्तर दे दिया। मिस्टर पारकर ने मुझसे प्रमाण पूछा। मैंने बेन्थम[2] और आस्टिन[3] आदि प्रसिद्ध धर्म-शास्त्रों के प्रमाण पेश किये, जिसपर एक ओर तो मेरे कुछ सहपाठियों ने गोलबाग में बैठकर मुझसे हालैंड्स जुरिस्प्रूडेंस समझना आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर पारकर साहब ने लॉ क्लास के विद्यार्थियों की एक वाग्वर्धिनी सभा खोल दी, जिसका मुझे प्रधान बनाया। यहाँ प्रश्न यह होगा कि अन्य विद्यार्थियों से

१. Halland's Jurisprudence.
२. Bentham
३. Austin

अधिक धर्मशास्त्र की पुस्तकें मैंने क्यों पढ़ीं ? मैंने केवल यही पुस्तकें नहीं पढ़ी थीं, अपितु प्राचीन रोम[1] के क़ानून की पुस्तकें भी देखी थीं। मुझे केवल इसी पर सब्र न था। जालन्धर के बाबू देवीसिंह प्रसिद्ध वकील थे। वह मेरे मित्र थे। उनके द्वारा उनके भाई बाबू दसबन्धीराय जी से परिचय हुआ। बाबू दसबन्धीराय लाहौर चीफकोर्ट में वकालत करते थे और उनका कानूनी पुस्तकालय बहुत बड़ा था। मैंने उसमें से सब हाईकोर्टों की रिपोर्टों को पढ़ना आरम्भ कर दिया अर्थात् न्यायाधीश-कृत धर्मशास्त्र (केस लॉ) को भी राष्ट्रिय व्यवस्थापक सभा-(लेजिसलेचर)-कृत धर्मशास्त्र के साथ पढ़ना आरम्भ कर दिया।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब मुझे परीक्षा ही देनी थी, जो तीन पुस्तकें उसके लिए नियत थी, उन्हीं पर बस क्यों न की ? इसका कारण यह था कि उस समय मैं अपने अन्तःकरण में कुछ और ही निश्चय कर चुका था। मेरा व्यावहारिक उद्देश्य उस समय मन में यह दृढ़ हुआ था कि किसी समय चीफकोर्ट लाहौर की जजी की कुर्सी पर बैठूं। इस उच्च उद्देश्य ने मुझे उस सारे साहित्य की ओर खींचा, जो मेरे उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता था। सं० १९४२ के मार्गशीर्ष (सन् १८८५ ईसवी के अन्त) तक इस उद्देश्य ने मुझे बाँध रक्खा। उस समय के बाद उद्देश्य में कैसे परिवर्तन हुआ उसकी कथा समय आने पर सुनाऊँगा।

बड़ी छुट्टियाँ उन दिनों आषाढ़ (जुलाई) में आरम्भ होती थीं। उस समय तक मैं प्रत्येक सप्ताह आर्यमन्दिर तथा ब्राह्ममन्दिर में नियमपूर्वक जाता रहा, विशेष व्याख्यानों में भी सम्मिलित होता रहा। इसके अतिरिक्त सारा समय कानूनी किताबें याद करने तथा विशेष पुस्तकों के पढ़ने में लगाता रहा। मेरी स्मरण-शक्ति का अपने सहपाठियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। सायंकाल के भ्रमण में मैं किसी एक विषय की पुस्तक का मतलब कहानी की तरह सुनाना आरम्भ करता और मेरे दस-पन्द्रह साथी सुनते जाते। वाग्वर्धिनी सभा भी बड़ा काम करती रही। यद्यपि मिस्टर पारकर के नाम रक्खे गये थे, तथापि विद्यार्थियों के अधिकारों का वह आदर करते थे। जब कभी हमारे अधिवेशन में आते तो सभापति को अपना आसन न छोड़ने देते और स्वयं बेंच पर बैठकर विवाद में भाग लेते। वे दिन अच्छे ही व्यतीत हुए।

आर्यसमाज में आरम्भिक अनुभव

अनुमान ऐसा होता है कि मैं जालन्धर की उड़ारी मार, यात्रा से लौटकर सवा या डेढ़ महीने ही लाहौर में रहा, क्योंकि मुझे भली प्रकार याद है कि ज्येठ शुक्ल की निर्जला एकादशी मुझे जन्मस्थान तलवन में मिली थी। इस सवा या डेढ़ महीने के अन्दर मैंने जो अनुभव प्राप्त किये उनमें से जो कुछ स्मरणशक्ति प्रत्युत्पन्न कर सकती है, उन्हें यहाँ संक्षेप से देता हूँ।

१. Ancient Rome

लाला साईंदास जी उस समय आर्यसमाज लाहौर के स्वामी समझे जाते थे। वह पब्लिक व्याख्याता कभी थे ही नहीं। समाचारपत्रों में भी वह प्रत्यक्षरूप से कुछ नहीं लिखते थे। उस समय तक उन्होंने एक उर्दू ट्रैक्ट 'एक आर्य' नाम से लिखा था जिसमें कलकत्ते के पण्डितों की ऋषि दयानन्द के विरुद्ध दी हुई व्यवस्था की पड़ताल की गयी थी। लाहौर आर्यसमाज की परिधि से बाहर उनको कोई भी नहीं जानता था। लाहौर के लोग राय मूलराज, लाला जीवनदास और भाई जवाहिरसिंह आदि से अधिक परिचित थे, किन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी लाहौर आर्यसमाज की—और उसके साथ पंजाब के सारे आर्यसमाजों की, जिनका जीवन इस समय लाहौर आर्यसमाज पर ही निर्भर था—सारी कला के संचालक लाला साईंदास जी ही थे। इस शक्ति तथा अधिकारों को वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईंदास जी से अधिक वास्ता पड़ता था। पब्लिक में वह कभी मुँह न खोलते और यही समझा जाता था कि उनमें वक्तृत्व-शक्ति नहीं है, किन्तु जब श्रोताओं की संख्या एक से अधिक न होती उस समय लाला साईंदास जी से बढ़कर कोई वागीश दिखाई नहीं देता था। इतिहास के वह अवतार थे और विशेषत: ईसाइयों के धार्मिक इतिहास के अतिरिक्त मुसलमानों और सिक्खों के इतिहास से भली प्रकार अभिज्ञ थे। उनके जीवन की सादगी का वर्णन मैं पहले कर ही चुका हूँ।

लाला जीवनदास जी के विचित्र व्यसन का पता उनसे परिचित होते ही मुझे लग गया था। आप कभी भी समालोचना से चूकते न थे। एक विद्यार्थी के आर्य बनने का प्रार्थनापत्र पेश हुआ। आप उठकर उच्च स्वर से प्रश्न करते हैं—"क्या इनकी आयु १८ वर्ष की है?" श्री साईंदास जी की मूँछें फड़कीं, और उन्होंने उन्हें हाथ के इशारे से बैठाना चाहा। इसपर श्री जीवनदास ने आसमान सिर पर उठा लिया—"मैं इस तरह नहीं दबूँगा, मेरा हक है कि मैं पूछूँ।" इसपर मन्त्री ने प्रार्थनापत्र पढ़ना आरम्भ किया, जिसमें आयु १६ वर्ष की लिखी थी। श्री जीवनदास जी इन दिनों पंजाब के फिनान्शल कमिश्नर के कार्यालय के अनुवादक थे। आपके अनुवाद किये हुए सैकड़ों सरक्यूलर आदि मैंने देखे हैं। अपने महकमे में सट्टों पर 'हिन्दी की चन्दी' निकालने के लिए आप प्रसिद्ध थे। जब सायंकाल दफ़्तर से लौटते तो रास्ते में अनारकली की बहस में शामिल होते। उन दिनों मौलवी, पादरी, ब्राह्मसमाजी, आर्यसमाजी, सभी सड़कों के पुलों पर खड़े होकर वाद-विवाद करते थे, किन्तु इस समय की भाँति रंग में भंग पड़ने का अवसर नहीं आता था। श्री जीवनदास जी के उत्तम स्वास्थ्य तथा स्पष्ट वक्तृत्व की उन दिनों मेरे चित्त पर बड़ी भारी प्रतिष्ठा बैठ गयी थी।

शायद उन्हीं दिनों स्वर्गीय मिस्टर ह्यूम कांग्रेस की स्थापना के लिए आन्दोलन करने लाहौर में आये थे। मुझे ज्ञात हुआ था कि जिस किसी सुशिक्षित हिन्दुस्तानी से भी वह मिलना चाहते वहाँ से उन्हें निराश होना पड़ता। न जाने कैसे मिस्टर

ह्यूम को यह निश्चय हो गया कि जो शक्ति हिन्दुस्तानियों को उनसे मिलने नहीं देती वह राय मूलराज एम० ए० के रूप में है। शिक्षकदल में यह प्रसिद्ध हो रहा था कि मिस्टर ह्यूम ब्रिटिश गवर्नमेंट के गुप्तचर हैं जो हिन्दुस्तानियों को किसी जाल में फँसाने आये हैं। परमात्मा के सिवाय यह कौन जान सकता है कि उसमें राय मूलराज का भी हाथ था वा नहीं; और उसके लिए कोई विश्वासजनक साक्षी भी नहीं हैं। किन्तु मिस्टर ह्यूम ने वह चिरस्मरणीय चिट्ठी श्री लाला साईंदास जी को लिख मारी जिसका स्मरण पण्डित गुरुदत्त जी ने मेरे सामने उक्त लाला जी को तीन वर्षों से कराया था। उस चिट्ठी में मि० ह्यूम ने यह लिखा था कि उनके माननीय मित्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित समाज का सभासद् राय मूलराज एम० ए०-सा व्यक्ति नास्तिक कैसे हो सकता है ?

उन दिनों हम सब इकट्ठे रहनेवाले साथियों के अन्दर धर्मप्रचार के लिए उत्साह था। भाई सुन्दरदास, मैं, महाशय रामचन्द्र तथा मुकुन्दलाल जी नित्य किसी-न-किसी चौमुहानी पर खड़े होकर एक मास तक सर्वसाधारण को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाते रहे। दुःख की बात है कि छुट्टी से लौटने पर अन्य कामों में फँस जाने के कारण उन पवित्र कामों में वह उत्साह न रहा। इन्हीं दिनों साधु आलाराम के व्याख्यानों के अतिरिक्त लाहौर शहर के मध्य 'बावली साहेब' में चौधरी नवलसिंह की लावनियाँ हुईं जिनके प्रभाव से कोट-बूटवाले बाबुओं के अतिरिक्त दूकानदारों तथा आर्यजाति के सर्वसाधारण इंगलिश-शिक्षाशून्य पुरुषों का प्रेम भी आर्यसमाज के साथ बढ़ गया।

लाहौर से मैं बड़े उच्च विचार तथा उत्साह लेकर जालन्धर आया और अभी दो-तीन ही व्याख्यान दिये थे कि मेरे ग्राम से पिता जी के रोग-ग्रस्त होने का समाचार पहुँचा। इस समाचार को सुनते ही मैं अपने ग्राम तलवन को चला गया। वहाँ पिता जी की शारीरिक दशा अच्छी न देखी। उनपर यह पहला आक्रमण अर्धांग का हुआ जिसने अन्त को एक वर्ष के पश्चात् उन्हें उनके परिवार से सदा के लिए जुदा कर दिया। मेरे जाने और योग्य वैद्यों से इलाज कराने पर पिता जी की शारीरिक अवस्था उस समय तो कुछ अच्छी हो गयी, किन्तु दृष्टिशक्ति उसी समय कम हो गयी। इस रोग का प्रधान कारण वह निकम्मापन था जो हमारे देश के पेंशनरों की अकालमृत्यु का कारण हुआ करता है। पिता जी तीस वर्षों से अधिक तक बराबर दिनभर काम में लगे रहते थे और वह था घुड़सवारी और दौड़-धूप का काम। पेंशन लेने पर उन्हें कोई काम न रहा और निष्प्रयोजन भ्रमण करने के वह कभी भी अभ्यासी न थे। मैंने कई बार प्रेरणा की कि अपने खेतों आदि का ही निरीक्षण कर लिया करें, किन्तु वहाँ के काम का यथार्थ हाल तो वह चार-पाँच उधर से आनेवालों से जिरह के सवाल करके जान लेते थे। व्यायाम का अभाव उनके रोगग्रस्त होने का कारण हुआ, जिससे बड़ी भारी शिक्षा मैंने ली है और मेरे पाठकों को भी

लेनी चाहिए।

पहली आत्मिक हलचल

'न हि सत्यात्परो धर्मः।'

पिता जी के अपेक्षाकृत नीरोग होने पर भी मैं तलवन ग्राम में ही ठहर गया और उनकी सेवा करने लगा। इतने में ज्येष्ठ की निर्जला एकादशी का दिन आ पहुँचा। स्नान-पूजा से निवृत्त होकर पिता जी अपनी बैठक से घर में आये। यहाँ झज्झर पानी से भरकर और उसके ढक्कन पर खरबूजा, मीठा और दक्षिणा धरकर सारे घर को संकल्प पढ़ना था। निर्जला एकादशी के दिन जितना जल हमारे हिन्दू भाई पीते हैं उसे देखकर इस अनोखे नामकरण-संस्कार पर हँसी आती है। व्रत तो यह कि एक दिन-रात निराहार, यहाँ तक कि बिना जल के निर्वाह करेंगे, और व्रतियों का आचरण यह कि दिनभर खरबूजे खाकर शरबत पीते-पीते हैजे के शिकार बन जाएँ। कैसी अद्भुत लीला है!

निर्जला एकादशी का दिन मेरी धार्मिक परीक्षा का पहला अवसर था। पिता जी मेरे साथ अपने सब पुत्रों से अधिक प्रेम करते थे। उनको अपने मन्तव्य में पूर्ण श्रद्धा थी और उसके वह प्रचारक भी थे। जहाँ वह अपने इष्टदेव की भक्ति में कभी आलस्य नहीं करते थे वहाँ पंजाब के बेसुरे हिन्दुओं को मुसलमानों की कब्रों की पूजा से रोकने में भी तत्पर रहते थे। तलवन ग्राम में सैकड़ों को उन्होंने कब्रपरस्ती से रोककर ठाकुर जी के मन्दिर का सेवक बना दिया था। पिता जी ने संकल्प के समय मुझे बुलाने को आदमी भेजा। मैं जानता था कि आज परीक्षा का दिन है। इससे बचने के लिए अपनी बैठक में पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ गया था। मैंने समझा था कि आँखें बन्द कर लेने से बला टल जाएगी, किन्तु पिता जी का दूत सिर पर आ सवार हुआ। मैं उठकर पिता जी के पास जाने के लिए बाधित हुआ। उस समय का दृश्य मैं कभी नहीं भूल सकता। घर में दोमंजिले का एक लम्बा दालान है। उसमें सामने बड़े आसन पर पिता जी बैठे हुए हैं और उनके सामने एक लम्बी पंक्ति में झज्झरें सजी रक्खी हैं। सबके सामने मेरे भाई-भतीजे बैठे हैं, जो संकल्प कर चुके हैं और केवल एक झज्झर के सामने का आसन मेरे लिए खाली पड़ा है। मैं सामने पहुँचकर खड़ा हो गया और नीचे लिखी बातचीत हुई।

पिता जी—"आओ मुंशीराम! तुम कहाँ थे? हमने तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा करके सबसे संकल्प पढ़ा दिया है। तुम भी संकल्प पढ़ लो, तब मैं भी संकल्प पढ़कर निवृत्त हो जाऊँगा।"

मैं पिता जी से स्पष्ट कहने में डरता था इसलिए पहला उत्तर यह दिया—"पिता जी! संकल्प तो दिल के साथ सम्बन्ध रखता है, जब आपने संकल्प किया है

तो आपका दान है, जिसे चाहें दें। इसलिए मैंने आना आवश्यक नहीं समझा था।"

पिता जी को मेरे आर्य बनने की खबर मिल चुकी थी। पहले तो उन्हें कुछ प्रसन्नता-सी हुई थी, क्योंकि उनको केवल इतना ही पता लगा था कि मैं नास्तिक से आस्तिक बन गया हूँ, किन्तु जब जालन्धर से मेरे तथा देवराज जी के व्याख्यानों का समाचार उन्हें मिला तो उन्होंने देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी को लिखा था कि हम दोनों को अपने देवी-देवताओं की निन्दा करने से रोकना चाहिए। बीमारी में वह इन सब बातों को भूल गये थे किन्तु आज सब पुराने संस्कार जाग उठे। पिता जी ने मेरे उत्तर में कहा—

"क्या मेरा धन तुम्हारा नहीं ? फिर उसमें से दान देने का तुम्हें अधिकार क्यों नहीं ? और क्या दिल का संकल्प बाहर निकालना पाप है ? तुम ठीक कारण क्यों नहीं बतलाते ?" इतना कहकर पिता जी ने सीधा वार किया—"क्या तुम एकादशी और ब्राह्मण-पूजा पर विश्वास नहीं रखते ? क्या बात है ?"

इस स्पष्ट प्रश्न पर निकलने का कोई मार्ग न दीख पड़ा। मैंने कहा— "ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूर्ण विश्वास है, किन्तु जिनको आप दान देना चाहते हैं वे मेरी दृष्टि में ब्राह्मण नहीं हैं, और एकादशी के दिन में भी मैं कुछ विशेषता नहीं समझता।" मेरा इतना कहना था कि पिता जी आश्चर्ययुक्त होकर मेरी ओर देखने लगे। मैंने आँखें नीची कर लीं। एक क्षण के पश्चात् पिता जी ने दीर्घ श्वास लिया और कहा—"मैंने तो बड़ी आशा लेकर तुम्हें बड़ी सरकारी नौकरी से हटाकर वकालत की ओर डाला था। मुझे तुमसे बड़ी सेवा की आशा थी, क्या उस सबका फल मुझे यही मिलना था ? अच्छा जाओ।" मैं चुपचाप नीचे उतर आया और सारे दिन शोक-सागर में डूबा रहा।

दो-तीन दिन तो मैं पिता जी के पास जाने से घबराता रहा और वह मुझे बुलाने से टालते रहे, किन्तु उनके हृदय में मेरे लिए गहरा प्रेम था। एक दिन मुझे स्वयं बुलाकर किसी अपने अंग्रेज मित्र को पत्र लिखवाया। शनैः-शनैः निर्जला एकादशी के दिन का दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। छुट्टियाँ शायद भाद्रपद के तीसरे सप्ताह तक थीं। मैंने सारी छुट्टियाँ पिता जी की चिकित्सा कराने और उनकी सेवा करने में व्यतीत कीं। इन्हीं दिनों मैंने 'सत्यार्थप्रकाश', 'आर्याभि-विनय' और 'पंचमहायज्ञ विधि' की पूरी आवृत्ति की और जब लाहौर चलने लगा उस समय तक 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का आधा पाठ कर चुका था। इस पढ़ने के काम में मुझे एक योग्य शिष्य मिल गया। पंजाब में संस्कृतज्ञों का वैसे ही उस समय अभाव था और फिर ग्राम में तो संस्कृत का काम ही क्या ! किन्तु तलवन के देहाती मदरसे का द्वितीयाध्यापक (आठ रुपये मसिक पानेवाला) काशीराम संस्कृत जानता था और इसलिए पिताजी को उनकी रुचि के अनुकूल धर्मग्रन्थ सुनाया करता

—१

था। वही काशीराम मेरे पठन-पाठन में भी सम्मिलित हुआ और जब मैं तलवन से लाहौर लौट गया तो पीछे उसी ने पिता जी की श्रद्धा मेरे मन्तव्यों के ऊपर जमवायी।

कानून की पुस्तकें मैं प्रायः याद कर चुका था। सत्यार्थप्रकाश आदि सारा दिन पढ़ते रहना कठिन था और आर्यसमाज में प्रवेश करते ही अंग्रेजी उपन्यासों (नावल्स) से भी मुझे घृणा हो चुकी थी। तलवन में कोई ऐसे सुशिक्षित सभ्य पुरुष भी न थे जिनसे बातचीत में दिन काटता। इससे व्यसन के प्रलोभन में फिर से फँसा। काशी से अन्तिम बार विदा होने से पहले मैंने बड़े-बड़े शतरंजियों से शतरंज खेलना सीखा था। तलवन में पहुँचकर देखा कि मेरे परिवार से मुसलमान उस्तादों का घराना सारा-का-सारा प्रसिद्ध शतरंजबाज है। वहाँ उस खेल में और भी शिक्षा मिली। फिर जालन्धर में भाई बालकराम जी को शतरंज का बड़ा शौक था, उनके साथ खूब मुकाबिला होता रहा। सारांश यह कि आर्यसमाज में प्रवेश करते ही जहाँ मांसभक्षण को त्याग दिया, जहाँ उपन्यासों को उठाकर जुदा रख दिया, वहाँ शतरंज को भी तिलांजलि दे दी थी; किन्तु तलवन में निकम्मा बैठे रहने पर सामने मोहरों की खटाखट देखकर मुझसे न रहा गया और फिर शतरंज के खेल में दिन के पाँच-छह घण्टे व्यर्थ गँवाने लग गया। इसके अतिरिक्त मुझे सितार का भी शौक था और अपने वृद्ध उस्ताद पीरबख्श कलावन्त से सितार पर कुछ भजनों का अभ्यास करता रहा।

दूसरी आत्मिक परीक्षा

'नास्ति सत्यसमं तपः।'

इस प्रकार, ज्यों-त्यों करके मैंने दो मास से अधिक काट दिये, और लाहौर के लिए प्रस्थान का दिन निकट आ गया। नागौरी बैलों से जुती हुई मझोली तैयार हुई, उसके नीचे और पीछे असबाब रखवा और बँधवाकर मैं पिता जी की सेवा में प्रणाम करने के लिए उपस्थित हुआ। अपने बनवाये मन्दिर की बड़ी डेवढ़ी के ऊपर उनके रहने के कमरे बने हुए थे। पिता जी तकिया लगाये बड़े कमरे में बैठे थे। उनका निजी सेवक भीमा खड़ा था। मैंने पहुँचकर पैरों पर सिर रखकर प्रणाम किया। पिता जी ने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। मैं चलने के लिए उठने लगा। आज्ञा हुई कि अभी बैठ जाओ, फिर भीमा भृत्य को इशारा हुआ। उसने एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रखकर थाली मेरे सामने की। तब पिता जी ने कहा—"जाओ पुत्र! ठाकुर जी को मत्था टेककर विदा होवो। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र भगवान् के पायक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें।" मैं इतना सुनते ही सुन्न हो गया। काटो तो खून नहीं। कुछ उत्तर न बन आता था, चुपचाप बैठा था।

पिता जी दे मेरे मौन का कारण कुछ और ही समझा। मैं अपने निज के आराम के लिए जहाँ उन दिनों भी अधिक व्यय नहीं करता था वहाँ उदार भी बहुत था। जहाँ दूसरा आदमी दो आने पारितोषिक देकर सन्तुष्ट होता वहाँ मुझे आठ आने से कम देने में लज्जा आती। पिता जी स्वयं बड़े अच्छे प्रवन्धकर्त्ता थे और उनके गृह का सारा व्यय बड़े नियम से चलता था। पिता जी ने समझा कि मैं आठ आने की भेंट देवता के लिए कम समझता हूँ। भीमा को कहा गया कि अठन्नी उठाकर एक रुपया रख दे। उसने ऐसा ही किया। तब पिता जी ने कहा—"लो पुत्र! अब ठीक हो गया। देर होती है, ठाकुर जी को मत्था टेककर सवार हो जाओ।"[३] तब मुझे अपने ऊपर बड़ा जब्र करके बोलना ही पड़ा। यह नहीं सूझता था कि किस प्रकार बोलूँ कि पिता जी को कष्ट न हो। मैंने कहा—"पिता जी! यह बात नहीं है, किन्तु मैं अपने माने हुए सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ? हाँ, सांसारिक व्यवहार में जो आप आज्ञा दें, उसके पालन के लिए हाजिर हूँ।" इतना कहकर मैं चुप हो गया। पिता जी के मुख पर कई प्रकार के उतराव-चढ़ाव आये और उन्होंने क्रोध-भरे शब्दों में कहा—"क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु-पत्थर समझते हो?" इस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था। न जाने कैसे धृष्टता से मैंने कहा—"परमात्मा से नीचे अपने लिए मैं आपको ही समझता हूँ, किन्तु हे पिता! क्या आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान मक्कार हो?" ये शब्द बड़े ही करुणापूर्ण स्वर में मेरे अन्दर से निकले थे। पिता जी की जबान भी कुछ लड़खड़ा गयी—"कौन अपनी सन्तान को मक्कार देखना चाहता है?" मैंने उस समय को जीवन की रक्षा व मृत्यु-प्राप्ति का समय समझा और कहा—"तब मेरे लिए तो ये मूर्तियाँ इससे बढ़कर कुछ नहीं और यदि मैं उनके आगे भेंट धरकर सिर झुकाऊँगा तो वह मक्कारी होगी।" कहने को तो मैंने इतना कह डाला किन्तु उसपर पिता जी के हृदय-वेधक शब्द सुनकर मुझमें कुछ शक्ति ही नहीं रही। "हा! मुझे विश्वास नहीं कि मरने पर मुझे कोई पानी देनेवाला भी रहेगा। अच्छा भगवान्, जो तेरी इच्छा!" मैं मानो धरती में गड़ गया, पैर वहीं-के-वहीं रहे। दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिता जी ही कुछ बोले। फिर उन्होंने धीरे से कहा—"अच्छा, अब जाओ, देर होगी।" मैंने चुपचाप प्रणाम किया और नीचे उतरकर मझोली पर सवार हो गया।

मझोली तक पहुँचते-पहुँचते मेरे मन में कई प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते रहे। प्रधानतया यही विचार मेरे मन में आता था कि जब मैं पिता जी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं, जब मैं उनकी स्वर्ग-प्राप्ति या मोक्ष का साधन नहीं बन सकता, जिसके लिए उनके मतानुकूल मृतकश्राद्ध तथा तर्पणादि आवश्यक हैं, तब मुझे क्या अधिकार है कि उनके कमाये धन में हिस्सेदार बनूँ? मुझे चलते समय पिता जी ने पचास रुपये खर्च के लिए दिये थे। मैंने वे रुपये एक कागज में बाँध-

कर अपने एक सम्बन्धी के हवाले किये और कह दिया कि दूसरे दिन सवेरे वह उस धन को मेरे पत्रसहित पिता जी के आगे पेश कर दे। पत्र में केवल इतना लिख दिया कि "जब मैं आपके मन्तव्य के विरुद्ध मत रखता हूँ तो मुझे कोई अधिकर नहीं कि सुपात्रों के भाग में से कुछ लूँ। जीवन शेष है तो आपके चरणों में अपनी भेंट रक्खूँगा ही।" मैं रुपये देकर चल दिया। अभी एक मील भी गाड़ी नहीं गयी थी कि घोड़ा सरपट दौड़ाते हुए वही सम्बन्धी आते देखे। मैंने मझोली खड़ी करा दी। घुड़सवार ने पहुँचते ही रुपयों की पोटली मेरे हवाले की और पिता जी का मौखिक सन्देश सुनाया—"तुम प्रतिज्ञा करके गये हो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओं से मुख नहीं मोड़ोगे। यह मेरी सांसारिक आज्ञा है कि यह रुपया ले-जाओ और बराबर व्यय के लिए रुपया मुझसे मँगाते रहो।" पिता जी के इस सन्देश ने मेरे हृदय की डाँवाडोल अवस्था को ठीक करने में बड़ी सहायता दी।

बात यह हुई कि मेरे सम्बन्धी जी ने दूसरे दिन की प्रतीक्षा करने के स्थान में उसी समय रुपयों की पोटली, मेरे पत्रसहित, पिता जी के आगे रख दी जिसका परिणाम ऊपर की घटना हुई। पिता जी से इस प्रकार विदा होकर मैं उसी शाम को जालन्धर पहुँचा। वहाँ देवराज जी से ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थिति में पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री आये थे जिनके व्याख्यान सर्दार विक्रमसिंह आहलूवालिया के स्थान में हुए, किन्तु वे ठहरे लाला बालकराम जी के पास थे। भाई बालकराम जी ने उस समय उनकी निर्बलताओं को खूब समझा और मुझे कहा कि यद्यपि हमारे यहाँ ठहरकर यह आदमी आर्यसमाज के विरुद्ध नहीं बोलता, तो भी यह किसी-न-किसी दिन गुरुडम पर हाथ मारेगा और स्वामी दयानन्द और आर्य-समाज के विरुद्ध बोलेगा। भाई बालकराम जी 'आदमी आदमी के अन्तर' को खूब पहचाननेवाले थे और उनका निदान बहुत-कुछ ठीक बैठता था। इसके अतिरिक्त यइ भी ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थिति में आलाराम संन्यासी भी जालन्धर से व्याख्यान दे गये हैं और उनके व्याख्यानों में सर्दार विक्रमसिंह आहलूवालिया आई०-सी० एस० भी आया करते थे। मुरलीमल की धर्मशालावाले आर्यसमाज के मकान में एक आदित्यवार की ईश्वर-प्रार्थना और उपदेश का आनन्द उठाकर मैं लाहौर पहुँच गया।

लाहौर में परीक्षा की तैयारी

आश्विन संवत् १९४२ के मध्य में (सितम्बर सन् १८८५ की समाप्ति पर) मैं लाहौर लौट आया। हमारे कानूनी प्रोफ़ेसर श्री पारकर के लाहौर से बदल जाने के कारण उनके स्थान में कारस्टीफ़न[1] साहब हमारे प्रोफ़ेसर नियत हुए। ये बड़े शान्त-स्वभाव तथा जनप्रिय थे। मैंने वकालत परीक्षा की तैयारी फिर बड़े जोर-शोर

१. Mr. Carr-Stephen

से आरम्भ कर दी। मेरे दूसरे साथी भी सब लौट आये। आर्यसमाज के कामों में यद्यपि मैं विशेष सहयोग देने के योग्य न था, तथापि मैं सभी साधारण तथा असाधारण अधिवेशनों में अवश्य सम्मिलित हुआ करता था।

लाहौर में इन दिनों मलेरिया ज्वर का बड़ा जोर था। मैं ज्वर से पीड़ित हुआ, यहाँ तक कि तापमापक यन्त्र का पारा १०६ दर्जे तक पहुँच गया। उसी शाम को वच्छोवाली के आर्यसमाज मन्दिर में एक असाधारण अधिवेशन होनेवाला था जिसमें एक सर्दार साहब को अभिनन्दनपत्र देने का निश्चय हुआ था। इसलिए कि वह अपनी बड़ी भारी सम्पत्ति एक आर्यस्कूल को स्थापित करने के लिए आर्यसमाज की भेंट करने लगे थे। मेरी उत्कट इच्छा थी कि मैं इस अधिवेशन में अवश्य सम्मिलित होऊँ। मेडिकल कॉलिज के एक मेरे मित्र विद्यार्थी ने चार घण्टे में साठ ग्रेन कुनीन खिला दी। ज्वर न चढ़ा परन्तु निर्बलता अत्यन्त हो गयी। उसी अवस्था में मैं आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचा और यद्यपि कानों में सनसनाहट इतनी थी कि वक्तृताएँ स्पष्ट न सुन सका, फिर भी हृदय को शान्ति रही।

इस प्रकार बलात्कार से ज्वर उतारने का सौदा मेरे लिए महँगा पड़ा। दूसरे दिन फिर जोर का ज्वर चढ़ा। तब भाई सुन्दरदास जी मुझे एक यूनानी हकीम के पास ले गये। उनका नाम हकीम मुहम्मद शुजाउद्दीन था। हकीम जी का चेहरा देखते ही मुझे विश्वास हो गया कि मैं उनके इलाज से स्वस्थ हो जाऊँगा। पहले तो उनकी धैर्य बँधानेवाली बातों ने मुझे मोहित कर लिया और जब शायद दो माशे लाल सफूफ[1] वाली दो पुड़िया देकर शहद के साथ खाने की हिदायत हुई तो मेरा दिल बाग-बाग हो गया। हकीम जी ने एक नुस्खा भी दिया जिसका सेवन पुड़िया से पहले करना था। छह तोले मगज-तरबूज, छह तोले बनफशा बराबर की मिसरी के साथ घोटकर पीने से तीन हल्के जुलाब हो गये। उसके पीछे आधा घण्टा ठहरकर लाल पुड़िया खा ली और घण्टे पीछे दूसरी खाते ही बुखार हिरन हो गया। दूसरे दिन सचमुच हकीम जी की भविष्यवाणी के अनुकूल मैं टहलता हुआ उनके पास गया। हकीम जी ने प्रातः-शाम खाने के लिए सफेद रंग की दो पुड़ियाँ दीं। तीसरे दिन थोड़ी-सी शेष बची निर्बलता को दूर करने के लिए नुस्खा लिखना शुरू किया और साथ-साथ परहेज की हिदायत करते गये। मैंने बीच में बात काटकर कहा—

"हकीम जी ! एक बात पहले ही सुन लीजिए। मैं मांसभक्षण को पाप समझता हूँ।" मेरा इतना कहना ही था कि हकीम साहब खिलखिलाकर हँस पड़े। कहने लगे "जनाब बाबू साहब ! अगर आप गोश्त खाने के आदी होते तब भी मैं आपसे कहता कि मेरी दवा के असीर-पिजीर[2] होने के लिए आप गोश्त खाना छोड़ दें। गोश्त तो बड़ी मुज़िर-गिज़ा[3] है।"

---

१. चूर्ण, २. प्रभावकारी, ३. हानिकारक भोजन।

हकीम जी का नुस्खा भी मुझे मोहित करनेवाला था। मजेदार ओषधियों का पुंज कूट-छानकर बहुत-से दूध में काढ़ा किया गया। जब उसका खोया बन गया तो प्रातः-सायं चार-चार तोला दूध के साथ खाने की हिदायत हुई। मैंने अभी एक शाम ही ओषधि का सेवन किया था कि मेरे साथी मेरी १५ दिन की ओषधि को एक ही दिन में समाप्त कर गये। मैंने उस ओषधि का नाम 'अमृत बाण' रक्खा था और हकीम साहब को शाहशुजा की उपाधि दे रक्खी थी। वकालत के उम्मीदवार प्रायः ऋतुज्वर (फसली बुखार) से पीड़ित थे, उनमें 'शाहशुजा' की धूम मच गयी।

संवत् १९४२ (सन् १८८५ ई०) तक वकालत की परीक्षा मार्गशीर्ष के अन्त (दिसम्बर के मध्य) में हुआ करती थी। उसी वर्ष के आषाढ़ (जून) मास में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कॉलिज खुल चुका था, श्रीमान् हंसराज जी कॉलिज की सेवा के लिए जीवन प्रदान कर चुके थे, और मियानी-निवासी श्री लाला ज्वालासहाय जी के ८००० रुपये के दान ने कॉलिज का खुलना सम्भव कर दिया था। इन घटनाओं के पश्चात् मार्गशीर्ष के मध्य में (नवम्बर के अन्तिम) शनिवार तथा आदित्यवार के दिन लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हुआ। यद्यपि रोग से निवृत्त होने के पश्चात् निर्बलता हो गयी थी तथा परीक्षा की तैयारी का बोझ अधिक था, फिर भी अपने धर्मसमाज के लिए हृदय में प्रेम का ऐसा भाव था कि वार्षिकोत्सव से एक पल के लिए भी बिछुड़ना असम्भव प्रतीत होता था। यह पहला ही अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त को मैंने दयानन्द कॉलिज के लिए लाहौर आर्यसमाज की वेदी पर से अपील करते सुना। उसी व्याख्यान से मेरा चित्त पण्डित गुरुदत्त की ओर आकर्षित हो गया और अधिक मिलने से मैंने शनैः-शनैः अनुभव किया कि यही एक आत्मा है जिसके साथ मेरे आत्मिक भाव ऐक्य को प्राप्त हो सकते हैं। जब मैं दूसरे दिन विशेष प्रकार से पण्डित गुरुदत्त से मिलने गया तो उन्होंने भी अपने भावों से यही प्रकट किया कि हम दोनों एक-दूसरे को समझते हैं।

परीक्षा का भयानक भूत

अब परीक्षा के दिन समीप आ रहे थे इसलिए मैं उसी कार्य में लग गया, किन्तु मेरे सहपाठी मुखतार साहबान मुझे एक विचित्र जानवर समझते थे। मैंने परीक्षा से दो दिन पहले ही पढ़ना छोड़ दिया था। जब मैंने परीक्षा आरम्भ होने के समय से एक घण्टा पहले उन्हें रटन्त लगाते देखा तो मुझे उनपर दया आयी और मैंने कई मित्रों को तोते से फिर मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु मुझे इस प्रेम का पारितोषिक क्या मिला ? केवल गालियाँ और कुछ नहीं।

परीक्षा में एक बात और मेरे सहपाठियों को चकित करती थी। मैं बारम्बार तीन घण्टे के परचे का उत्तर तथा पुनरावलोकन डेढ़ घण्टे में ही समाप्त करके चल

देता था, केवल राजव्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्नपत्र बड़ा लम्बा था जिसके सब प्रश्नों के उत्तर मैं ढाई घण्टे में लिखकर बाहर आया। उस पर्चे के सब प्रश्नों के उत्तर कोई भी विद्यार्थी तीन घण्टे में समाप्त नहीं कर सका था। सब लेखबद्ध परीक्षाओं में मैं उत्तीर्ण हुआ किन्तु फौजदारी कानून की मौखिक परीक्षा में मैं दो अंकों के लिए अनुत्तीर्ण रहा। इसकी भी एक कहानी है, जिसके सुने विना पाठकों की समझ में कुछ और कहानियाँ न आ सकेंगी। मौखिक परीक्षा के समय गवर्नमेंट कॉलिज लाहौर का परीक्षाभवन विद्यार्थियों से भरकर उन्हें कच्ची हवालात में कर दिया जाता था, फिर एक-एक विद्यार्थी को परीक्षक के कमरे में बुलाकर परीक्षा ली जाती थी। वहाँ से निकलकर कॉलिज की बड़ी सीढ़ियों पर से बूट चरचराता हुआ विद्यार्थी बाहर चला आता था। मेरे पहले कुछ विद्यार्थी फ़ेल होकर बाहर आ चुके थे और उनके तथा अन्दरवालों के इष्ट-मित्र उनके साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे थे। जब मैं परीक्षकके सामने गया (जिनका नाम बाबू योगेन्द्रनाथ वसु था और जो बड़े देशभक्त समझे जाते थे) तो पहले प्रश्न पर ही उनसे कुछ विवाद हो गया। फिर उन्होंने मुझे किसी प्रश्न के लिए भी एक मिनट से अधिक सोचने का समय न दिया। एक प्रश्न ऐसा था जो पाठ्य-पुस्तकों से बाहर का था और जिसपर हाई-कोर्टों की परस्पर-विरुद्ध सम्मतियाँ थीं। उसके उत्तर में मैंने पंजाब चीफकोर्ट तथा कलकत्ता हाईकोर्ट की सम्मति से मतभेद प्रकट करके मद्रास हाईकोर्ट के साथ सहमति प्रकट की। उस उत्तर के लिए मुझे शून्य मिला और इस प्रकार ५० में २३ पाकर दो अंकों के लिए मैं अनुत्तीर्ण हुआ। इसपर मैंने महाशय से पूछा—"किस प्रश्न के उत्तर के लिए मुझे शून्य मिला है?" देशभक्त परीक्षक महाशय ने उत्तर दिया—"मुझे इस सम्बन्ध में वादविवाद करना मंजूर नहीं है।"[1] फिर तो मोहर लग गयी और प्रसन्नतापूर्वक कमरे से बाहर हुआ। बड़ी सीढ़ियों पर से प्रसन्नवदन उछलते हुए मुझे आते देख मित्रों ने समझा कि मैं पास होकर आया हूँ। कत्लेआम की धूम में मेरे इस प्रकार आने से मित्रों को कुछ ढाढस हुआ, किन्तु जब मैंने यह सुनाया कि दो अंकों के लिए मैं अनुत्तीर्ण हुआ हूँ तो मेरे मित्र मुझे बोलने से रोकने लगे। उन्होंने ऐसा करने से मुझे क्यों रोकना चाहा, इसका रहस्य भी आगे चलकर खुलेगा।

देशभक्त के मुकाबिले में एक विदेशी के बर्ताव की कथा लिख देनी भी उचित ही है। दीवानी की मौखिक परीक्षा हिगिज्ज साहब बैरिस्टर ने ली थी। पहले तो मैं एक विषय में फ़ेल होकर दूसरे विषय की परीक्षा में शामिल होने की आवश्यकता ही नहीं समझता था। फिर जब मित्रों के आग्रह पर अन्दर गया भी तो बेपरवाही से प्रश्नों को सुनने लगा। किन्तु जब परीक्षक का प्रेमभरा बर्ताव देखा तो लज्जित होकर सीधे उत्तर देना आरम्भ किया। चार प्रश्नों के उत्तरों के लिए जब ४० अंक

१. I refuse to argue on this point.

मिल चुके तो अन्तिम प्रश्न पर मैंने कह दिया कि मैं इसका उत्तर नहीं जानता। मि० हिगिज्ज ने मुझे पाँच मिनट सोचने को दिये। मैंने फिर वही उत्तर दिया। तब प्रेम-भरे शब्दों में उन्होंने कहा, "मैं तुम्हें दो मिनट और देता हूँ, प्रयत्न करके उत्तर दो, आधे अंक अवश्य दूँगा। मुझे निराश न करो।" उसी समय उत्तर स्मरण हो आया, पाँच अंक और मिल गये।

परीक्षा देकर मैं बाहर आया। बहुत-से उम्मीदवार घबराये हुए थे। देशभक्त श्री लाला लाजपतराय जी भी उसी वर्ष वकालत की परीक्षा में बैठे थे। मेरे डेरे पर सब परीक्षा के सताये हुए घायल जमा हुए। हम सब मि० कार स्टीफन साहब के मकान पर गये और एक प्रार्थनापत्र मेरे द्वारा पेश हुआ। साहब मुझे अलग ले गये और कहा—"(कानून फौजदारी में) तुमने सबसे अधिक अंक पाये हैं। तुम अकेले प्रार्थना करोगे, तो मैं सिफारिश करूँगा, किन्तु सबके साथ कुछ भी सुनायी न होगी।" मैं चुपचाप लौट आया और जुदा प्रार्थनापत्र भेजना अमानत का अपमान समझकर चुप हो रहा।

मैं तो अपने हिसाब से परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो चुका था और अन्त को परिणाम भी वही निकला, किन्तु मेरे साथियों में से कइयों की आशाएँ पाँच-सात दिनों के पश्चात् ही बँधने लग गयी थीं और उनमें से कई उत्तीर्ण होकर पूरे वकील बन भी गये। यह कैसे हुआ और उस घटना का मेरे साथ कितना सम्बन्ध रहा, इसकी कहानी ही निराली है जो 'लार्वेण्ट' गर्दी की कथा के साथ सम्बद्ध है।

कलियुगी साधु

यहाँ पर यदि मैं एक नये मित्र के साथ सम्बन्ध होने का वृत्तान्त न लिख दूँ तो इस वर्ष की कथा पूर्ण न समझी जाएगी। मेडिकल कॉलिज लाहौर में मेरे बंगाली विद्यार्थी मित्र का एक युवक सम्बन्धी घर से निकल गया था। उसके साधु-वेश में अमृतसर में व्याख्यान देने का समाचार लाहौर पहुँचा। मैंने अपने साथ रहनेवाले दो-तीन व्यक्तियों को उनके पीछे कर दिया। रात के समय सब उस विचित्र साधु को लेकर लौटे। मैं भी नये अतिथि को देखने गया तो एक काषाय वस्त्रधारी को नरेला[1] पीते तथा हास्य-विनोद में निमग्न पाया। मुझे सुनाया गया कि साधु जी ने पोठोहार और माझा सारा रगड़ मारा है। रात को मशालें जलवाकर खलिहानों में जाटों को देशभक्ति में मस्त कर देते रहे हैं। अमृतसर में आप दर्बार साहब के पास वृक्ष पर बैठकर अपनी व्याख्यानरूपी रामकहानी सुनाया करते थे। अंग्रेजी-पढ़े साधु होने के कारण सरकारी गुप्तचर भी आपके पीछे लगे रहते थे।

इन युवक साधु जी को उसी समय पुनरावृत्ति करायी गयी। किसी ने श्वेत धोती, किसी ने कमीज और किसी ने कोट दिया और यह सब धारण कर साधु जी,

---

१. नारियल (हुक्का)

बाबू कालीप्रसन्न चैटर्जी का रूप धारण कर घर को चल दिये। यह वही काली बाबू हैं, जिनके हँसानेवाले व्याख्यान लाहौर के अनारकली आर्यसमाज मन्दिर की शोभा बढ़ाते रहे हैं। काली बाबू रुला भी सकते हैं और लाहौर से बाहर के श्रोताओं को उन्होंने समय-समय पर आठ-आठ आँसू रुलाया भी है, किन्तु लाहौर के श्रोता उनको हास्यरस के अवतार के रूप में देखने के ऐसे आदी हो गये हैं कि उनकी बड़ी ही हृदय-वेधक अपील पर भी हँस ही पड़ते हैं।

काली बाबू के साथ मेरे द्वारा जालन्धरियों का प्रगाढ़ प्रेम हो गया जिसका वर्णन समय-समय पर आवेगा। पौष संवत् १९४२ के प्रथम सप्ताह में मैं जालन्धर पहुँचा। पिता जी ने मुझे पहले ही लिखा था कि मेरे जालन्धर लौटने पर वह पेंशन लेने आएंगे और मुझे अपने साथ तलवन ले-जाएँगे। पिता जी के उतरने का प्रबन्ध मुंशी कन्हैयालाल की नयी कोठी में किया गया। जालन्धर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि स्थानीय आर्यसमाज का साप्ताहिक अधिवेशन रात को हुआ करता है। सायं-काल तक मेरे पिता जी न आये। रात में उन्हें देखने के लिए एक आदमी बैठाकर मैं अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। मैंने ईश्वरप्रार्थना के पश्चात् एक उपदेश दिया और वेदी से उतरकर अभी बैठा ही था कि भृत्य ने आकर पिता जी के पहुँचने की सूचना दी। मैं उसी समय भागा और पिता जी की मझोली को रेल के फाटक के पास जा पकड़ा। नमस्कार करके पाद स्पर्श किया। पिता जी ने पूछा—"क्या समाज का अधिवेशन समाप्त हो गया?" मैंने कुछ संकोच से उत्तर दिया—"केवल भजन और आरती रह गयी थी, आपका आगमन सुनकर भाग आया।" पिता जी ने बड़े प्रेमभरे शब्दों में कहा—"क्या जल्दी थी! समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था।" मुझे इन शब्दों ने कुछ विस्मित-सा कर दिया। कहाँ तो पिता जी मेरे तलवन से चलते समय मूर्ति के आगे चढ़ावा चढ़ाने से इन्कार करने पर इतने रुष्ट थे और कहाँ यह कृपा और प्रेम! कुछ समझ में न आया, किन्तु दूसरे ही दिन सारा भेद खुल गया।

सत्य का प्रभाव

तलवन में ८ रुपये पानेवाले जो नायब मुदर्रिस[1] थे उनका नाम काशीराम था। वह जन्म के ब्राह्मण और संस्कृत पढ़े हुए थे, किन्तु उन दिनों संस्कृत की पूछ-ताछ कहाँ थी? पण्डित काशीराम का परिवार बड़ा था, क्योंकि **'दशास्यां पुत्रान्'** की मर्यादा के उल्लंघन की सीमा पर पण्डित जी पहुँच चुके थे, और वेतन कुछ भी नहीं बढ़ा। इसलिए इधर-उधर के मनुष्यों से दान लेकर ही उनका यत्किंचित् निर्वाह होता था। पिता जी से उन्हें विशेष सहायता मिलती थी, क्योंकि जब से पिता जी की आँखों पर स्तम्ब रोग का आक्रमण हुआ था तब से धर्मग्रन्थों का पाठ उन्हीं

१. सहायक अध्यापक।

से सुना करते थे। लाहौर जाते समय 'सत्यार्थप्रकाश' तथा 'पंचमहायज्ञविधि', मेरी दो पुस्तकें पिता जी की बैठक के कमरे में छूट गयी थीं। मैं उन दिनों 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का स्वाध्याय कर रहा था, इस कारण उन पुस्तकों के अभाव का मैंने अनुभव नहीं किया। पिता जी ने मेरी इन पुस्तकों को देखकर पण्डित काशीराम से इनका पाठ सुनाने के लिए कहा। जब पण्डित जी सुनाने को उद्यत हुए तो पिता जी ने कहा—"पहले इनकी देखभाल कर लो तब सुनाओ, हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ सुनना नहीं चाहते।" पण्डित काशीराम जी थे आदमी चतुर, उन्होंने सबसे पहले ब्रह्मयज्ञ का पाठ अर्थसहित आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों पिता जी सुनते, उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती। जब पण्डित काशीराम ने सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम समुल्लास सुनाया, तब पिता जी ने कहा—"पण्डित जी! हम तो अविद्या में ही पड़े रहे, हमारा मोक्ष कैसे होगा? हमने तो निरर्थक क्रियाएँ ही कीं, अब से वैदिक सन्ध्या करेंगे।" बस फिर क्या था, पिता जी ने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थ कण्ठ करना आरम्भ कर दिया। अब वैदिक सन्ध्या और पंचायतन अर्थात् पाँच देव-मूर्तियों की पूजा साथ ही साथ होने लगी।

पिता जी की यह मानसिक अवस्था थी, जब वह जालन्धर में मुझे मिले। पिता जी उस समय मुझे फिर बहुत प्यार करने लग गये थे, मानो जो अप्रसन्नता पहले प्रकट की गयी थी उसका प्रतिकार हो रहा था।

पिता जी के साथ मैं तलवन चला गया। उनके पास कुछ दिवस शान्ति से बिताने का विचार था, किन्तु एक सप्ताह के पश्चात् ही जालन्धर से मेरे एक माननीय वृद्ध का बुलावा गया। मैंने जालन्धर पहुँचकर सुना कि पंजाब यूनिवर्सिटी के नये रजिस्ट्रार साहब मिस्टर लार्पेंट ने रिश्वत लेना आरम्भ कर दिया है। मुझे सन्देशा दिया गया कि मुझसे बहुत नीचे नम्बरवाले दो विद्यार्थियों ने पाँच-पाँच सौ घूस देकर कृतकार्यता का प्रबन्ध किया है, और लार्पेण्ट साहेब मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं यदि दो-ढाई सौ भी दे दूँ तो मुझे पास कर देंगे। मैंने ऐसा करने से सर्वथा इन्कार कर दिया और साथ ही लार्पेण्ट साहब को पत्र लिख दिया कि यदि वह ऐसे परीक्षार्थियों को पास करेंगे जो अपना अनुत्तीर्ण होना स्वयं मान चुके हैं तो उनकी पोल समाचारपत्रों में खोली जाएगी। इसके साथ ही एक बड़ी मूँछोंवाले यूरेशियन ने (जिनका नाम मि० ब्रैण्डन था और जो कहीं क्लर्क थे) लाहौर पहुँचकर धमकी दी कि उनको भी धलुए में पास करा दिया जाए नहीं तो वह आकाश-पाताल एक कर देंगे। परिणाम यह हुआ कि मैं भी और न घूस देनेवाले यूरेशियन—हम दोनों पास हुए, किन्तु ऐसा नहीं कि घूस देनेवाले पास न हुए हों।

जालन्धर आर्यसमाज के उपप्रधान उस समय लाला भक्तराम बी० ए० थे, जो मिशन स्कूल जालन्धर के हैडमास्टर भी थे। इन्होंने मुखतारी की परीक्षा दी थी और वसु बाबू के वार से घायल पड़े थे। इनसे घूस माँगी गयी और इनके एक

सम्बन्धी ने इन्हें २५० रुपये घूस के लिए लाकर दिये भी, किन्तु धार्मिक भक्तराम ने इस प्रकार पास होने को पाप समझा। यह तो समझा, किन्तु एक और आर्य सामाजिक भाई को यही २५० रुपये उधार दे दिये जिसने बहुत-से स्थानों से पाँच सौ से कुछ अधिक रुपये उधार लेकर लार्पेंट देव के चरणों में जा रक्खे और एल०-एल० का सर्टिफिकेट लेकर हजारों के वारे-न्यारे शुरू कर दिये।

उन दिनों एल० एल० की भी मिट्टी खूब पलीद हुई। एल० एल० से तात्पर्य तो 'लाइसेंशीएट-इन-लॉ' था किन्तु लोगों ने इसका मतलब गढ़ा 'लार्पेशियन लायर' अर्थात् ऐसा वकील जो लार्पेण्ट को घूस देकर कृतकार्य हुआ है, अस्तु। लार्पेंट की कहानी यहाँ पर ही समाप्त नहीं होती, क्योंकि वह पंजाब के विद्यार्थियों के विशेषत: कानूनी परीक्षा के हताश विद्यार्थियों के साथ जोंक की तरह एक वर्ष तक और चिपटा रहा। संवत् १९४२ के पौष की परीक्षा को अन्तिम आहुति देते हुए केवल इतना लिखना शेष रह गया है कि उस वर्ष जो महाशय वकालत की परीक्षा में प्रथम थे उनसे मेरे पूर्णांक शायद ५० के लगभग अधिक थे, किन्तु इससे होना क्या था जब कि गृह-देवता की पूजा ही न की गयी।

मुख़तारी और दूकानदारी

संवत् १९४२ के अन्त में मैंने सूदों के चौक में एक दूसरी मंजिल का मकान किराये पर लिया और मुखतारी का काम जोर-शोर से आरम्भ कर दिया। इसके साथ ही आर्यसमाज के काम में भी मैंने बड़ा हिस्सा लेना शुरू किया। एक बड़ी मनोरंजक बात थी। मैं था आर्यसमाज का प्रधान और मुझे हिन्दूसमाज की कुरीतियों के विरुद्ध काम करना पड़ता था, किन्तु मैं रहता था लाला वसन्तराय कोहली के मकान में जो उसी वर्ष पौराणिक (सनातन!) धर्म-सभा के मन्त्री बने थे और जिनकी दुकान मेरे मकान के नीचे ही थी। वह बड़ा ही आनन्ददायक दृश्य था कि जो विज्ञापन नीचे लिखा जा रहा है उसका खण्डन उसके ऊपर तैयार हो रहा है।

मेरे कानूनी मुंशी

यह ठीक है कि वकालत की गाड़ी खींचने के लिए वकील घोड़े के समान हैं, किन्तु यदि गाड़ी में पहिये न लगे हों, तो घोड़े बेचारे भी सटपटाकर ही रह जावेंगे। इसी प्रकार वकालत की गाड़ी घिस्से की तरह घिसटती फिरे यदि टीपटाप-रूपी पहिये उसके नीचे लगकर उसे सुगमता से चलने-फिरने के योग्य न बनावें। कैसी ही उत्तम वक्तृता क्यों न दे सकता हो, उसकी समझ कैसी ही तीक्ष्ण क्यों न हो, पर यदि उसकी बैठक सजी हुई न हो, यदि उसकी आलमारियों में पुस्तकों का जमघट पर्याप्त न हो (इससे कोई मतलब नहीं कि वे पुस्तकें कानून की हैं, धार्मिक हैं वा

किस्से-कहानियों की), यदि वह शानदार बग्घी पर दनदनाता हुआ जाने के बदले जूतियाँ चटकाता हुआ कचहरी में पहुँचे, यदि उसका सूट और बूट भड़कीला न हो तो कोई भी मुवक्किल (मुकद्दमेवाला) उसके पास न फटकेगा।

मेरे पास उस समय इतना धन न था कि मैं ऐसा सामान इकट्ठा कर सकता किन्तु पिता जी पेंशन लेकर आते समय अपना सारा सवारी का सामान साथ लाये थे। मुझे बरेली कार्ट और मुश्कन तेज घोड़ी दे देने पर भी उनके पास एक वैगनट, दो घोड़े और मझोली, बैलादि बच रहे थे। संवत् १६४१ की कमाई में से जो कुछ बचता, पिता जी की भेंट करता रहा, इसलिए उनकी कृपा से कुर्सी-मेज़ इत्यादि सामान भी मिल गया था। यद्यपि कानूनी पुस्तकों को अभी खरीदना ही शुरू किया था फिर भी पढ़ने में अधिक अनुराग होने से मेरे पास साहित्य, इतिहास, विज्ञानादि की पुस्तकें पहले से काफ़ी थीं। उसके साथ जब ऋग्वेद के ऋषि दयानन्दकृत भाष्य भी मिल गये तो मानो सोने पर सुहागा चढ़ गया। मेरे मुंशी जी बेखटके (मेरी अनुपस्थिति में) कह सकते थे कि मैं बड़ा वकील हूँ, क्योंकि मेरे पुस्तकालय से बढ़-कर दो ही तीन वकीलों का पुस्तकालय था।

मैंने वकालत को गाड़ी बतलाया, टीपटाप को पहिये बतलाया, वकील को घोड़ा कल्पना किया, किन्तु अभी तक अलंकार पूरा नहीं हुआ। बिना कोचवान के घोड़े कैसे ठीक चल सकते हैं? इस वकालत-रूपी गाड़ी को कोचवान भी चाहिए। वकील कैसा ही योग्य हो, चलतापुर्जा भी हो, किन्तु काम सरलता से चलाने के लिए उसे अपने मुंशी से शिक्षा लेनी ही पड़ती है। इसलिए वकालतरूपी गाड़ी का कोच-वान मुंशी ही होता है। यदि मेरे इस लेख को कोई नया वकील पढ़ेगा तो मेरा अलंकार तत्काल ही उसकी समझ में आ जाएगा। पुराने वकील भी यदि अपनी स्मरणशक्ति को कुछ कष्ट देंगे तो उनके सामने अपनी उम्मीदवारी के समय का चित्र घूम जाएगा। वकील जज के सामने खड़ा है, मुंशी कान में कहीं जिरह के सवाल फूँक रहे हैं और कहीं कानूनी उज्र उठाने पर जोर दे रहे हैं। यह माना कि कभी-कभी मुंशी जी की बदौलत बेचारे नये वकील को अदालत से झाड़ भी खानी पड़ती है, कभी सामने के अनुभवी वकील से लज्जित भी होना पड़ता है, किन्तु बहुत बार कसे हुए शिकंजों से भी तो बस, मुंशी जी की हिदायत पर अमल करके निकल जाता है। मुंशी जी वकालत की जान, उसकी अन्तरात्मा हैं। मुंशी जी की महिमा का कहाँ तक वर्णन किया जाए! कई अवस्थाओं में तो मुंशी जी का ही नाम बिकता है, वकील बेचारे को कोई जानता भी नहीं। जालन्धर में हमारे स्वर्गवासी भाई तेलूराम जी एक वकील के मुंशी थे, वकील साहब के मुवक्किल से यदि पूछा जाता कि इसने कौन वकील किया है तो उत्तर मिलता "तेल्लू मुंच्छी दा वकील कित्ता है।" एक-दो नहीं, ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे।

इतनी लम्बी भूमिका के पश्चात् अब मैं अपने पाठकों को अपने उस समय के

मुंशी साहब से भेंट कराता हूँ। मेरे मुंशी साहब का नाम अमीर खाँ था। वह पठान थे और खानदानी समझे जाते थे। स्वयं मेरी समझ में भी यह कभी नहीं आया कि संसार में कोई बे-खानदानी मनुष्य भी होते हैं। अस्तु, अमीर खाँ साहब केवल खानदानी ही न थे, वह भले मानस, शरीफ़ भी समझे जाते थे। फिर प्रश्न होगा कि उसका मुंशीगिरी से क्या सम्बन्ध? किन्तु क्या सब मुंशियों के लिए एक ही आदर्श हो सकता है? बात ऐसी नहीं है। वकील के मुंशी का उस्ताद होना आवश्यक है चाहे वह किसी फ़न का उस्ताद हो। मुंशी अमीर खाँ उस्ताद थे। शब्बेरात पर जो हमारे मुहम्मदी भाई टोटखे चलाते हैं उनके मुंशी साहब उस्ताद थे। रात-भर टोटखे चलवाते और शागिर्दों से वाह-वाह लूटते। टोटखेबाजी में आपके चेहरे पर दो बार घाव लगे, जिनके चिह्न उनकी उस्तादी के प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

मुंशी अमीर खाँ की योग्यता का एक और प्रमाण लीजिए। जब मैं संवत् १९४१ के अन्त (सन् १८८५ के आरम्भ) में वकालत पढ़ने लाहौर गया तो मेरे कुछ मुकद्दमे बचे हुए थे। मेरे वकील मुखतार मित्रों ने कृपापूर्वक उनकी पैरवी कर दी। मुंशी साहब केवल उन मुकद्दमों की ही फ़ीस वसूल न करते रहे प्रत्युत और मुकद्दमे भी लेते और मेरे वकील भाइयों को यह चकमा देकर उनसे पैरवी कराते कि वे पुराने मुकद्दमे हैं। मेरे पाठकों की समझ में न आएगा कि मेरी अनुपस्थिति में कैसे नये मुकद्दमे मिल सकते होंगे, पर जब वे मुंशी जी की अपूर्व बुद्धि की व्याख्या सुनेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जाएगा। जब कभी कोई पुराना मुवक्किल आता तो मुंशी जी कहते, "यदि तुम और कोई वकील करना चाहो तो कर लो किन्तु तुम्हारा भला इन्हीं को (मुझे) वकील करने में है।" तब मुवक्किल पूछता कि "जब बाबू जी यहाँ नहीं हैं तो मेरे मुकद्दमे की पैरवी कौन करेगा?" इसपर मुंशी अमीर खाँ साहब कहते, "अरे भोले! यह सब वकील जहाँ से पढ़के आये हैं वह बड़ा भारी मदरसा है। वहाँ वही पढ़ाते हैं जो सारे पंजाब के वकीलों का शिरोमणि है। इस समय वह एक वर्ष की छुट्टी पर गया है। सरकार को सिवाय हमारे बाबू जी के उसकी जगह के लिए कोई योग्य वकील न मिला, वह वकीलों को पढ़ाने गये हैं। यदि उनके पीछे दूसरे वकील ने मुकद्दमा हरवा दिया तो भी लौटकर वह अपील तो कर लेंगे।" बहुत-से मुवक्किल तो इस प्रकार काबू में नहीं आये किन्तु कुछ तो चंग पर चढ़ ही गये।

मेरे मुंशी साहब तो मेरे लौटने पर इस कहानी की कहानी से इन्कार ही करते रहे, किन्तु मेरे एक-दो वकील मित्रों ने इसका समर्थन किया था।

अमीर खाँ बेचारे मर चुके हैं। उनकी प्रशंसा में एक बात अवश्य कहना चाहता हूँ। उन्होंने मेरे साथ कभी भी असत्य व्यवहार नहीं किया। यदि कुछ झूठ बोला वा मेरी दृष्टि में अनुचित काम किया तो अपनी समझ के अनुसार भले के लिए ही। शराब से उनको कुछ वास्ता न था, व्यभिचार के वह समीप नहीं फटकते थे और

अन्य सब बातों में वह सदाचारी थे। एक मुंशीगिरी के रोग में फँसकर उनसे झूठा व्यवहार कभी-कभी हो जाता था।

अन्य वकीलों की तरह मेरे पास भी दो मुंशी रहा करते थे। जिस प्रकार गाड़ी के लिए कोचवान के साथ साईस या नायब कोचवान की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार हैड मुंशीसाहब के साथ वकील को नायब मुंशी की आवश्यकता रहती है। जोड़-तोड़ मिलाने, गवाहों को सिखाने-पढ़ाने और अर्ज़ी, जवाबदावे, मुजिबातें,[1] अपील आदि लिखने के लिए तो हैड मुंशी, और लिफाफे सँभालकर ले-जाने, मुकद्दमों की तारीखें लेने, मुवक्किलों को दिलासे से सँभालकर रखने के लिए नायब मुंशी थे।

मुंशी अमीर खाँ के समय और उसके पश्चात् भी मेरे पास कई नायब मुंशी आये और कई गये, मुझे उन सबके नाम याद नहीं।

अब मेरे विषय में कल्पना कर लीजिए कि मैं सूदों के चौकवाले दोमंजिले, सिह[2]-मंजिले मकान में स्थित, सूट-बूट और बग्घी का स्वामी हूँ, हैड तथा नायब बराबर हाज़िरी में रहते हैं, और मुखतारी का काम शुरू हो गया है। दूसरी ओर आर्यसमाज के काम में भी पूरा भाग लेने लग गया हूँ। मेरे नीचे एक ओर सनातन धर्मसभा के मंन्त्री लाला वसन्तराम जी रहते हैं और दूसरी ओर उन्हीं मन्त्री जी से दुकान किराये पर लेकर कुछ बनिये रहते हैं, जिनके एक छोटे भाई का नाम शालिग्राम है, जो इस समय तक गुरुकुल के 'भण्डारी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इतनी अनुभूमिका के पश्चात् आगे की घटनाओं को समझना सुगम हो जाएगा।

जिसकी पहल उसी की जय

एक पुरानी कहानी है कि दो राजकुमार युवक किसी राजसेना के घुड़सवारों में नौकर थे। दोनों युद्ध की लूटमार समेट घर को लौट रहे थे। रास्ते में दो स्त्रियाँ मिलीं, उन्होंने इनसे विवाह की याचना की। वे सुन्दरी रमणियाँ दोनों जंगी सवारों के साथ विवाह के लिए यह प्रतिज्ञा लेकर उद्यत हुईं कि विवाह के पश्चात् उनके पति नित्य प्रातः स्त्रियों के सात जूते खाया करेंगे। दोनों का विवाह होने पर जब पहला ही सवेरा हुआ तो उनमें से एक ने उठते ही बिल्ली को अपना रास्ता काटते देखा। तलवार म्यान से झट बाहर हुई और बिल्ली का सिर धड़ से अलग हो गया। यह चमत्कार जब सवार की धर्मपत्नी ने देखा तो सहमकर रह गयी, और दोनों का जीवन धर्मानुसार व्यतीत होने लगा। पन्द्रह दिनों तक दोनों मित्र न मिल सके। जब मिले तो एक-दूसरे का हाल पूछा। बिल्ली का सिर काटनेवाले ने जब मित्र से सुना कि वह नित्य जूतियाँ खाता है तो अपनी कथा सुनायी। दूसरे मित्र ने अपनी निर्बुद्धिता पर शोक करके प्रतिज्ञा की कि वह भी अपनी पत्नी को धर्मपत्नी बना

१. मुकद्दमों के उत्तर, २. तीन।

लेगा। दूसरे ही दिन सवार महाशय तलवार बाँधकर तैयार हो गये। इस विचित्र घटना को उनकी जोरू ने आश्चर्य से देखा किन्तु जब मियाँ तलवार खाँ ने तलवार का वार करके बिल्ली को घायल कर दिया तो 'बीवी' ने मुस्कराकर कहा—

'गुर्बा कुश्तन् बरोज़े अव्वल बायद।'

अर्थात् 'बिल्ली मारने का पहला ही दिन था।'

पछताए क्या होत जब चिड़ियाँ चुग गई खेत !

उपर्युक्त जनश्रुति के चरितार्थ करने का समय मेरे लिए मुखतारी का काम दूसरी बार प्रारम्भ करते ही आ पहुँचा था। एक ओर तो मुंशी अमीर खाँ थे, दूसरी ओर मेरे बड़े-बड़े पदाधिकारी मद्यप मित्र। दोनों के साथ 'गुर्बा कुश्तन्' वाला समय समीप आया। मकान अथवा यों कहिए कि कानूनी दुकान का फटरा (साइन-बोर्ड) तैयार कराने की आज्ञा मैं मुंशी जी को लाहौर से ही भेज चुका था। आप फटरा तैयार कराकर लाये, जिसपर मेरे नाम के साथ मुखतार के स्थान में लीगल प्रैक्टीशनर (कानूनी व्यवसायी) लिखा हुआ था। ऐसा करने पर मैं पहले स्वयं दो-तीन मुखतारों को शरमिन्दा कर चुका था। मैंने मुंशी जी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उत्तर मिला कि उन्होंने मेरे भले के लिए ही ऐसा किया था। मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि यदि इस प्रकार की कार्यवाही होगी तो उनका रास्ता दूसरी ओर होगा। मुखतार शब्द लिखे जाने के लिए मैंने फटरे को लौटा दिया। मुंशी जी ने एक बार चालाक कोचवान की तरह मुझे फ़िर काबू करना चाहा और एक प्रस्ताव पेश किया जो मुझे अनुचित प्रतीत हुआ, किन्तु जब देखा कि घोड़ा अड़ियल है और शायद कोचवान को उल्टे मुँह गिरा दे तो मुंशी अमीरखाँ ने लगाम को घोड़े की ही गर्दन पर डाल दिया।

इस प्रकार एक विरोधी शक्ति से तो छुटकारा हुआ किन्तु दूसरी ओर मामला बड़ा बेढब था। ११ माघ संवत् १९४१ (२४ जनवरी सन् १८८५) की रात को मैंने, मद्य की बची हुई बोतल तोड़कर, सदा के लिए मद्य को तिलांजलि दे दी थी। लाहौर में विद्यार्थी-अवस्था ने मेरी सहायता की। जब कुछ दिन जालन्धर ठहरा तो आर्यसमाज के कामों की फँसावट ने रक्षा की। किन्तु जब मैं फिर सभ्य समाज में मिला तब परमेश्वर के बिना मेरा और कोई रक्षक न था।

एक दिन प्रातःकाल मेरे एक पुराने मद्यप मित्र के यहाँ दावत थी। मेरे मेज-मान एक्जिक्यूटिव इंजीनियर थे। जब उनके शानदार मकान की सजी हुई बैठक में पहुँचा तो दो डिप्टी कलक्टर, एक मुंसिफ, दो-तीन वकील और उनके हमपेशा एक्जिक्यूटिव इंजीनियर बैठे गप्पें हाँक रहे थे। मुझे स्वप्न में भी यह न सूझ सकता था कि ऐसे सभ्य पुरुष दिन-दहाड़े शराब ढालने का हौसला करेंगे। किन्तु मेरा पहुँचना ही था कि शोर मच गया और चारों ओर से आवाजें आने लगीं—"देखो !

खूब काबू आया है, अब इसके धर्म-वर्म की खबर ले-डालो ! देखें, कैसे छूटता है ?" इत्यादि। मेरे हाथ-पाँव पकड़ लिये और एक महाशय प्याले में शराब भरने लगे। मैंने कहा कि मेरे अन्दर अब शराब डालना असम्भव है। भला शराबी किसी की काहे को सुनने लगे ! कइयों ने हाथ-पैर थामे और दो ने मुँह खोल दिया। तीसरे ने प्याला उँडेलने को आगे किया ही था कि मद्य की दुर्गन्ध ने अन्दर घृणा उत्पन्न की। एकदम उलटी (कै) हो गयी और मेरे पकड़नेवालों के कपड़े खराब हो गये। वे जरा हिले कि मैं छलाँग मारकर बाहर वाटिका में आया। कूप पर जल से भरा डोल पड़ा था; कुल्ली करके सीधा घर का रास्ता लिया। उस दिन से किसी शराबी का हौसला न पड़ा कि मुझे अपने मत में लाने का प्रयत्न करे।

इन दो घटनाओं ने मुझे बहुत-सी कठिनाइयों से बचा लिया और मैं निर्विघ्नता से अपने धर्म-सेवा-काम में लग गया।

एक रंगे सियार से भेंट

आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन अभी तक मुरलीमल की धर्मशाला में ही होते थे। यह स्थान कैसे हमें मिला और कैसे हमारे हाथों से निकल गया, इसका वृत्तान्त बड़ा ही मनोरंजक है। इस स्थान पर आर्यसमाज की उन्नति के सम्बन्ध में दो घटनाओं का कथन पर्याप्त है, परन्तु उन दोनों घटनाओं के वर्णन से पहले अपने पिता जी की बीमारी के सम्बन्ध में कुछ लिख देना, कथा-शृंखला को टूटने न देगा।

फाल्गुन संवत् १९४२ (फरवरी १८८६ ई०) में पिता जी के पुनः अर्धांग रोग से पीड़ित होने के कारण मैं अपनी जन्मभूमि तलवन को गया। उस समय पिता जी की चिकित्सा एक निरंजनी साधु कर रहा था, जो मुझे हरद्वार की अर्धकुम्भी पर संवत् १९६६ के वैशाख मास में मिला था। यह साधु पिता जी को स्वर्णभस्म तथा कुछ अन्य वस्तुएँ खिलाकर इलाज कर रहा था। यह बड़े से बड़ों को 'लण्डी का' इत्यादि अपशब्दों से याद करता था और प्रसिद्ध कर रक्खा था कि मेरे पिता जी का इलाज मन्त्र द्वारा करता है। इसने यह भी चमत्कार दिखलाया था कि उसके पैर को किसी आग की भी आँच नहीं जला सकती। मैं तलवन पहुँचते ही उसके पास गया और जलते कोयलों की अंगीठी मँगाकर उसे पाँव रखने को कहा। साधु जी सब-कुछ ताड़ गये और कड़ककर बोले—"हम अपने ढंग पर चमत्कार दिखाते हैं।" मैंने कहा "वैसे ही दिखाओ।" साधु जी ने कुछ मोटे उपले मँगवाये, उन्हें जलाकर जब धुएँ का नाम न रहा और उनपर थोड़ी राख जमा हो गई तो एक उपले की राख में ठोककर अपने पैर की एड़ी टिका दी। उनका ऐसा करना ही था कि मैंने अपनी एड़ी दूसरे उपले पर बेपरवाही से टिका दी। मैं जानता था यदि बीच में वायु के संसर्ग का स्थान न रहे तो आँच न सताएगी।

साधु जी का चेहरा उतर गया और उनके भक्तों में मेरी धूम मच गयी। तब मैंने साधु जी से कहा कि अब उनका इलाज न होगा। मैं चला आया किन्तु साधु जी ने अब उपजकी लेना छोड़ दिया। फिर भी इस घटना से अपना ही उल्लू सीधा करना चाहा। सब उपस्थित सज्जनों से कहा कि मैं उनसे भी बढ़कर सिद्धि को प्राप्त हूँ। फिर मेरे पास आकर और सोने की भस्मादि दिखाकर कहा—"मन्त्र बोलना तो एक ढोंगमात्र था, मैं तो मक्खन में ओषधियाँ देता हूँ।" यह ठीक था कि साधु जी मारा हुआ स्वर्ण ही मक्खन में खिलाते थे, किन्तु पिता जी की श्रद्धा उनपर से दूर हो गयी। कुछ धन साधु जी की भेंट कर उन्हें छुट्टी दी गयी और मैंने एक असिस्टैण्ट सर्जन को बुलाकर पिता जी का इलाज शुरू करा दिया।

पिता जी का असीम प्रेम

साधु जी को विदा करके पिता जी ने मुझे एकान्त में बुलाया। बरेली में जब पिता जी संवत् १९३६ के अन्त (१८८० के आरम्भ) में खुर्जे बदलकर आये तब बरेली के भीमा नामक युवक को अपना निजी सेवक बनाकर साथ लाये थे। वही इस समय उनकी सेवा में था। भीमा ने आज्ञा पाते ही एक काग़ज का लपेटा हुआ पुलिन्दा पिता जी के आगे रख दिया और चला गया। पिता जी की आज्ञा से जब मैंने उस पुलिन्दे को खोला तो उसके अन्दर से एक पार्चमेंट का पत्रा और एक साधारण पत्र पर लिखा हुआ वसीयतनामा निकला। वसीयतनामे में मेरे तीनों बड़े भाइयों को केवल मकान और ज़मीन का कुछ भाग देकर शेष सब धन (रोकड़, आभूषणादि) मुझे दिया गया था और कुछ धर्मार्थ कार्य मेरे सुपुर्द किये गये थे। मैं वसीयतनामा पढ़कर इस प्रकार उदासीन बैठ गया जैसे कोई आपत्ति का पहाड़ मुझपर टूट पड़ा हो। पिता जी को आश्चर्य हुआ। मैंने नम्रता से निवेदन किया कि मैं अपने अधिकार से बढ़कर कुछ भी लेने को तय्यार नहीं। पिता जी ने बड़े प्रेम से मुझे समझाया, उन्होंने कहा कि जितना मैं पहले तुम्हारे आर्यसमाज में प्रवेश से असन्तुष्ट हुआ था उससे बढ़कर अब मुझे सन्तोष है और मुझको निश्चय हुआ कि तुम्हीं मेरी धार्मिक आशाओं को पूरा करोगे। बहुत विवाद के पश्चात् पिता जी से मनमानी भिक्षा की याचना की। पिता जी के वचन देने पर मैंने निवेदन किया, "यदि वसीयत कर देंगे तो मैं अपना भाग लेने से भी इन्कार कर दूँगा, किन्तु यदि आप मेरी प्रार्थनानुसार मुझे इस वसीयतनामे को फाड़ देने की आज्ञा दें, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जिन धर्मकार्यों को मुझसे पूर्ण कराने का आपका शुभ संकल्प है, उनकी पूर्ति में ही यथाशक्ति अपने जीवन को लगाऊँगा।" पिता जी ने कहा, "यह पार्चमेंट-पत्रा तथा लिखा हुआ वसीयतनामा तुम्हारा माल है, इनके साथ जैसा बर्ताव चाहो करो।" पिता जी की आज्ञा पाते ही मैंने वसीयतनामा फाड़ दिया और पिता जी के चरणों में सिर रखकर उनसे आशीर्वाद ले जालन्धर लौट आया।

इस बार मैंने अपने ग्राम में 'धार्मिक संशोधन' विषय पर एक व्याख्यान भी दिया था। इसमें तलवन के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुष उपस्थित थे। इस व्याख्यान का वृत्तान्त सुनकर पिता जी बड़े प्रसन्न हुए। पिता जी की सेवा में उस समय मैंने जो मानसिक भेंट रक्खी थी, मेरे शेष जीवन में यदि कोई अच्छा काम मुझसे हुआ है, तो वह उसी गम्भीर घटना के प्रभाव का परिणाम है। उस घटना के स्मरण-मात्र ने मुझे बहुत बार गहरे गड्ढों में गिरने से बचाया है। काम-क्रोधादि के आक्रमणों से कई बार मुझे पिता जी की उस समय की करुणा तथा प्रेम से पूर्ण दृष्टि के स्मरण ने ही सुरक्षित किया है। माता जी के देहान्त के पश्चात् पिता जी ने मुझे मातृप्रेम से अपनाया था। माता के प्रेम का अभाव उन्होंने मुझे अनुभव नहीं होने दिया था और मुझे आज इस बात के अंगीकार करने में ज़रा भी संकोच नहीं कि यदि मेरे अन्दर से कभी मातृप्रेम का प्रकाश पुत्रों तथा पुत्रियों के लिए होता था, तो उस कीर्ति के भागी माता जी से भी अधिक मेरे पिता जी हैं।

शास्त्रार्थ का पहला अनुभव

आर्यसमाज से सम्बन्ध रखनेवाले पुराने अनुभवी पुरुष भूले न होंगे कि संवत् १९४३ के प्रथम तीन मास (सन् १८८६ के मध्यभाग) तक यदि पौराणिक पण्डितों तथा आर्यजाति के संस्कृतज्ञों के साथ किसी प्रकार का धार्मिक विचार होता था, तो उसमें आर्यसमाज के प्रतिनिधि ब्राह्मणकुलोत्पन्न महाशय ही हुआ करते थे। 'आर्य-सन्मार्गदर्शिनी सभा, कलकत्ता' के आक्षेपों का उत्तर अवश्य खत्रीकुलोत्पन्न लाला साईंदास जी ने उर्दू में दिया था, किन्तु संस्कृतज्ञों के सामने आर्यसमाज की ओर से एकाक्षी पण्डित मूलराज वा ऐसे ही अन्य विद्वान् पेश किये जाते थे। इसके अतिरिक्त लाहौर के सिवाय और किसी आर्यसमाज को अधिकार न था कि शास्त्रार्थ आदि के लिए उद्यत हो सके। न केवल यही, प्रत्युत कोई भी गृहस्थ साधु पुरुष लाहौर से बाहर धर्म-प्रचार का साहस नहीं कर सकता था। जब ऐसी दशा थी तो ग्रामों में प्रचार की तो कथा ही क्या कहनी है! जालन्धर शहर आर्यसमाज ने इस सारी प्रथा को ही बदल दिया। किस प्रकार यह प्रथा बदल गयी और किस प्रकार सोई हुई आर्यसन्तान को बड़े-से-बड़े अन्धकारमय कालों में जगाया गया, इसका वृत्तान्त बड़ा मनोरंजक है और उस श्रृंखला में वह शास्त्रार्थ पहली कड़ी है जिसका यत्किंचित् स्मरण रहा हुआ वृत्तान्त मैं यहाँ दूंगा।

पिता जी के रुग्ण होने के कारण मैं प्रत्येक आदित्यवार के साथ एक दिन और मिलाकर उनके दर्शनों के लिए तलवन जाया करता था। एक बार, शायद चैत्र (अप्रैल) में, तीन-चार दिनों की छुट्टी थी। मैं तलवन गया था; जब लौटा तो मेरे बैठक पर पहुँचते ही आर्यसमाज के कुछ सभासद् मिले। उन्होंने यह बतलाया कि अमृतसर के एक श्यामदास नामी पण्डित ने आफत मचा रक्खी है। उस सभासदों ने

शिकायत की कि आर्यसमाज के धनाढ्य पदाधिकारी कानों में रुई डाले बैठे हैं और श्यामदास ने उन्हें खड़ा होने के योग्य नहीं रख छोड़ा है। वह बारम्बार शास्त्रार्थ के लिए ललकारता है और नियोगादि के विषय में अश्लील शब्दों का प्रयोग कर सर्व-साधारण को भड़काता है। आर्य भाइयों को मैंने बैठाया और शास्त्रार्थ की स्वीकृति का पत्र उसी समय लिखकर उनके हवाले किया। सब सभासद् प्रसन्न होकर चले गये। कुछ लिखा-पढ़ी के पश्चात् पण्डित श्यामदास को शास्त्रार्थ का विषय 'मूर्ति-पूजा तथा अवतारवाद का मण्डन' मानना पड़ा और अन्तिम पत्र से तीसरे दिन की तिथि नियत की गयी। आर्यसमाज के सभासदों में से एक काशीराम थे, जो मेरे यहाँ मुंशीगिरी के भी उम्मीदवार थे। मैंने अपने पत्र के साथ उन्हें श्रीमान् लाला साईंदासजी, प्रधान आर्यसमाज, लाहौर के पास भेजा और प्रार्थना की कि शास्त्रार्थ के लिए कोई पण्डित हमें दिया जाए।

अभी तक पंजाब में प्रान्तिक आर्यप्रतिनिधि सभा स्थापित नहीं हुई थी। पंजाब के आर्यसमाजों में यद्यपि राय मूलराज, लाला जीवनदास, लाला लालचन्द आदि अनेक मुखिया समझे जाते थे, किन्तु अन्दरवाले सब जानते थे कि समाजरूपी गृह के कर्त्ता-धर्त्ता उस समय के प्राण—लाला साईंदास ही हैं। काशीराम लाला साईंदास के पास पहुँचे। वहाँ से न केवल यही कि कृतकार्यता न हुई प्रत्युत उत्साह को गिराने-वाले शब्दों की बौछार भी पड़ी। कई लाहौरी भाइयों ने कहा—'छोटे-छोटे आर्य-समाजों को बिना हमारी आज्ञा के शास्त्रार्थ नहीं रख लेना चाहिए।' एक युवक ने जोश में आकर कहा—"यदि साहस नहीं था, तो शास्त्रार्थ की डींग क्यों मारी?" काशीराम फिर क्या ठहरते; वहाँ से लौटते हुए अमृतसर ठहरे। उस समय पण्डित धर्मचन्द जी काश्मीरी उक्त आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नामी एक ब्राह्मण-पुत्र को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया था। उन्होंने उस विद्यार्थी को काशीराम जी के साथ कर दिया। रात को शास्त्रार्थ था और लाजपत जी मेरे पास दोपहर को पहुँचे। ऋषि दयानन्दकृत भाष्यों में से नियत विषयों पर मन्त्रार्थ सरल करने में लगा दिया। रात को जैसे-तैसे शास्त्रार्थ हुआ। लाजपत जी संस्कृत में बोलते थे। पण्डित श्यामदास ने उपस्थित जनता पर प्रभाव डालने के लिए आर्यभाषा में भाषण आरम्भ किया। फिर क्या था! जब उधर से प्रतिज्ञा भंग हुई तो मैंने स्वयं आर्यभाषा में उत्तर देना आरम्भ किया। तब तो पण्डित जी ने इसपर बल दिया कि विद्यार्थी लाजपत जी शास्त्रार्थ करें, किन्तु मेरा उत्तर यह था कि जब दूसरी ओर से संस्कृत में भाषण करने की प्रतिज्ञा एक बार तोड़ी जा चुकी है तो शास्त्रार्थ मैं ही करूँगा। परिणाम क्या हुआ यह मैं नहीं कह सकता, किन्तु इतना कह सकता हूँ कि आर्यसमाज का गौरव सर्वसाधारण की दृष्टि में घटा नहीं।

इस शास्त्रार्थ के दो परिणाम हुए। प्रथम यह कि जब दूसरे दिन काशीराम जी ने लाहौर की सारी कथा सुनायी तो मैंने दृढ़ मानसिक प्रतिज्ञा कर ली कि आगे

कभी अपनी सहायता के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं करूँगा। इस मानसिक संकल्प ने मुझे आर्षग्रन्थों के स्वाध्याय की ओर रुचि दिलाई। इसके पश्चात् के दिनों की 'दिन-पत्रिका' देखने से विदित होता है कि ज्येष्ठ संवत् १९४३(सन् १८८६ ईसवी) के आरम्भ से ही मैंने मूल वेदों की पुनरावृत्ति आरम्भ कर दी थी। दिन में कई बार जहाँ कुछ-न-कुछ धर्म-सम्बन्धी अध्ययन करता, वहाँ प्रातःकाल सन्ध्या-अग्निहोत्र के पश्चात् कम-से-कम २० वेदमंत्रों का पाठ शनैः-शनैः अवश्य होता। वेदभाष्य का देखना भी पीछे आरम्भ किया तो उसके लिए और ही समय निकाला। प्रातः अन्य नित्य कर्मों की समाप्ति पर मूल वेद के पाठ का अभ्यास बहुत देर तक चला। उन दिनों बिना व्याकरणादि जाने भी वेदमन्त्रों के उच्च, गम्भीर और आश्वासक भाव भी कभी-कभी अनुभव में आते थे, यह एक आश्चर्यजनक घटना थी। कई बार मैंने उस समय के प्रसिद्ध पण्डितों के सामने कुछ भाव लेकर जो मूलमन्त्र पेश किए तो उन्हें आश्चर्य होता था और उनमें से कई यह मान लेते थे कि वेदार्थ तक पहुँचने के लिए वेदांगों की सहायता की अपेक्षा मानसिक शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह अवस्था केवल संवत् १९४८ के फाल्गुन मास(१८९१ ईसवी) तक रही। उसके पश्चात् आर्यसमाज के घरू युद्ध में अन्य हानियों के साथ सर्वोत्तम स्वाध्याय का भी लोप-सा होता गया, और उस स्वाध्याय की भूख बारम्बार चमकने पर भी, उसमें विघ्न पड़ते ही रहे।

इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि जालन्धर नगर-निवासियों का ध्यान आर्य-समाज के काम की ओर बड़े जोर से खिंचा। इसके सभासदों पर मतवादियों की ओर से आक्रमण आरम्भ हुए। तपाया हुआ लोहा चोटों से अधिक बढ़ता है, इसी प्रकार आर्य-पुरुषों पर जितने आक्रमण हुए उतने ही उनके हृदय विशाल होते गये। पण्डित श्यामलाल के व्याख्यानों का खण्डन दूसरे दिन से ही आर्यमन्दिर में आरम्भ हो गया। इतनी भीड़ आर्यमन्दिर में पहले कभी नहीं हुई थी। तीस-पैंतीस सभासद् भी बढ़े और उत्साह से काम होने लगा।

बिरादरी से खारिज करने की धमकी

इस उन्नति को देखकर कुछ पौराणिक ब्राह्मणों का हृदय सन्तप्त हुआ और उन्होंने थापर खत्रियों के प्रसिद्ध दीवानखाने में आर्यसमाजियों को जातिच्युत करने के लिए पंचायत बुलायी। पंचायत की धूम मच गयी और जालन्धर के बड़े-बड़े पण्डित व्यवस्था देने को तैयार हुए। नगर की बिरादरियों के सभासद् बड़े भयभीत थे कि अब कैसे छुटकारा हो? उस समय श्री लाला देवराज जी की धार्मिक श्रद्धा बहुत बढ़ी हुई थी। मुझे साथ लेकर वह एक प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित के यहाँ पहुँचे जिनसे उन्होंने यज्ञोपवीत भी धारण किया था। पण्डित जी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि अपनी एक सम्बन्धिनी स्त्री से उनका धर्म-विरुद्ध सम्बन्ध है। दूसरे पण्डित,

जो नगर की ब्राह्मणमण्डली के शिरोमणि तथा लोकमान्य समझे जाते थे, किसी अन्य व्यभिचार के दोषी प्रसिद्ध थे। तीसरे जुएबाज थे, इत्यादि। भाई देवराज जी ने मेरे कुछ न्यायविषय पर बात कर चुकने पर कहना आरम्भ किया—"पण्डित जी! आप मेरे गुरु हैं। आप पंचायत कीजिए। किन्तु हमारा प्रश्न होगा कि जो पण्डित होकर इस प्रकार के व्यभिचार-दोषों से दूषित हों, पहले उनको गधे पर सवार कराके देश-निकाला दिया जाए, तब हम अपने विषय में किये गये प्रश्नों के उत्तर देंगे।"

इधर तो लाला देवराज जी ने सोंधियावाली[1] धमकी दी थी, उधर बहुत-से खत्री चौधरी जिनके पोते, दौहित्र, भतीजे, पुत्रादि आर्यसामाजिक थे, उन ब्राह्मण-कुलोत्पन्न पुरुषों की सूची बनाने लगे, जो निरक्षर भट्टाचार्य एवं गायत्रीमन्त्र से भी अनभिज्ञ थे। परिणाम क्या हुआ? जब पंचायत का समय आया तो पता लगा कि शिरोमणि ब्राह्मण कुलभूषण जी प्रातःकाल की ट्रेन से ही काम के बहाने अमृतसर चले गए और नैयायिक जी जनेऊ कान पर चढ़ा लोटा हाथ में ले जो दस बजे दिशा-जंगल को निकले तो शाम तक घर की सुधि ही न ली! पंचायत का समय ३ बजे था। ४ बजे तक टक्करें मारने पर जब कोई पण्डित न मिला तो पंचायत बुलाने-वाले अपना-सा मुँह लेकर घर लौट गये। ऐसी अवस्था होने पर पण्डित श्यामलाल की, जो भेंट-पूजा लेकर चल दिये थे, एक बार फिर से लाने के लिए देवी दुर्गा के भक्त अमृतसर गये। वहाँ क्या था, नयी भेंट की आशा पण्डित जी को फिर जालंधर घसीट लायी। इस बार पण्डित श्यामलाल ने सत्यार्थप्रकाश को पढ़कर लोगों को भरमाना आरम्भ किया। दैवयोग से उस बार भी मैं पिता जी को देखने तलवन गया हुआ था। दो दिन तो पण्डित जी की धूम रही किन्तु तीसरे दिन जालन्धर पहुँचते ही मैं पण्डित जी के व्याख्यान में गया। उन्होंने उस समय पराशर के उस श्लोक[2] को पढ़कर, जिसका ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में खण्डन किया है, सर्वसाधारण को बतलाया कि दयानन्द गाय से गधी को अच्छी बतलाता है। मैंने बीच ही में टोककर सारी इबारत पढ़ने के लिए कहा। मुझे बन्द कराना पण्डित श्यामलाल की शक्ति से बाहर था। पण्डित जी की दूसरी डाँट पर मैं प्लेटफार्म पर उनके पास जा खड़ा हुआ और उनके हाथ से पुस्तक लेकर असल इबारत पढ़ दी। मेरे कथन में सभ्यता का वर्ताव था, इसलिए पण्डित जी को भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। तब मैंने उच्चस्वर से कहा कि यह सत्यासत्य के निर्णय के कार्य हैं, हार-जीत से विद्वानों का तात्पर्य नहीं होना चाहिए। जैसे आर्यसमाज के सभ्य शान्तिपूर्वक पण्डित जी का कथन सुनते रहे हैं, आशा है पण्डित जी भी कल से

---

१. खत्रियों का एक वर्ग सोंधी कहलाता है। लाला देवराज सोंधी थे।

२. प्रासंगिक श्लोक यह है—पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठः न च शूद्रो जितेन्द्रियः।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी॥

हमारे आर्यमन्दिर में हमारे उत्तर सुनने आवेंगे। पण्डित जी उस समय धार्मिक जोश में थे, उच्चस्वर से बोले "मैं अवश्य आऊँगा।"

दूसरे दिन इधर हमारी सभा लगी, उधर एक घण्टा पहले से ही निष्पक्ष नगर-निवासी, हिन्दू-मुसलमान दोनों पण्डित जी की सेवा में पहुँचे। पण्डित जी उन्हें टालते थे और वे उन्हें लाने का यत्न करते थे। अन्त को जनसमुदाय की विजय हुई और पण्डित जी समेत वे शहर के मध्य से होते हुए चल दिए। हमारे यहाँ उस समय १५० से अधिक जनसंख्या न थी। पण्डित जी के साथ डेढ़-दो सहस्र पुरुष आए। अन्दर-बाहर, छतें, सड़क तक आदमी-ही-आदमी थे। बीस मिनट तक तो स्वमत-स्थापन में गया और पण्डित जी सुनते रहे। किन्तु जब उनके सिद्धान्तों का पुराणों के ही प्रमाणों से खण्डन आरम्भ हुआ तो 'राधाकृष्ण की जय' बोलकर पण्डित जी उठ खड़े हुए। उनके साथ केवल दो-ढाई सौ पुरुष उठे। शेष सब जमे रहे। डेढ़ घण्टे तक व्याख्यान होता रहा। १०-११ सभासद् बढ़े और इस नाटक की दूसरी बार यवनिका गिरी।

पिता जी की शिक्षाप्रद मृत्यु

पिता जी दिनों-दिन निर्बल होते जाते थे। डॉक्टरों के इलाज से भी जब कुछ लाभ न हुआ तो एक बड़े प्रसिद्ध यूनानी हकीम को लाया गया। उसने मेरे पास १५० रु० की लागत का नुस्खा भेजा, जिसमें मोती आदि भी लिखे थे। नुस्खा बँधवाकर भेजा गया। हकीम जी के इलाज से एक-दो दिन कुछ चमत्कार-सा दिखाई दिया, पर पीछे उनकी दशा शोचनीय हो गयी। मैं तलवन पहुँचा और जाते ही लेटे हुए पिता जी को प्रणाम किया। मुझे देखते ही उन्होंने हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद दिया। मैंने देखा कि मेरे सबसे बड़े भाई गिलास में कुछ पीने की वस्तु लिये खड़े हैं। पिता जी ने कहा—"यदि मुंशीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं है तो मैं पी लूंगा, वह मेरे भले के लिए भी झूठ नहीं बोलेगा।" मैं आश्चर्यित हुआ और अलग ले-जाकर भाई साहब से असल बात पूछी। उन्होंने बतलाया कि हकीम जी ने चूज़े (मुर्गी के बच्चे) का शोरबा अपनी दवाई का अनुपान बतलाया है। भाई साहब ने वही बनवाया और पिता जी को बिना बतलाये, चने का पानी कहकर पीने को दिया। उन्होंने एक घूंट लेते ही फेंक दिया और उसके पश्चात् चने का रस आदि ले-जाने पर भी १८ घण्टों तक कुछ भोज्य-पदार्थ ग्रहण नहीं किया। मैंने उसी समय परीक्षा करके निश्चय किया कि वास्तव में उसमें मांस का कुछ भी अंश नहीं है और गिलास पिता जी के सामने पेश किया। उन्होंने केवल दो शब्द कहे—"पी लूं?" मैंने उत्तर दिया—"पी लीजिए।" इसपर उन्होंने उसे पी लिया। मैंने देख लिया कि पिता जी का अन्तिम समय ही है। हकीम जी की भी बुद्धि काम नहीं

करती थी। फिल्लौर का डॉक्टर बड़ा योग्य सुना गया था। उसे भी बुलाया। रात किसी प्रकार से काटी। प्रातः नये डॉक्टर ने भी कुछ यत्न आरम्भ किया। हिचकी बड़ी जोर की थी, उसे बन्द करना कठिन हो गया। दोपहर के बाद उन्होंने मुझे पास बिठाकर उपनिषदों का पाठ करने के लिए कहा। मैंने ईशोपनिषद् को समाप्त करके 'कठ' का पाठ आरम्भ किया। पिता जी ने इशारे से कान अपने मुँह के पास ले जाने को कहा। हिचकी बोलने नहीं देती थी। शब्द कठिनाई से निकले किन्तु थे स्पष्ट—"वैदिक हवन कराओ!" मेरा मुंशी साथ आया था। तेज घोड़ी पर उसे भेजा कि जालन्धर से सामग्री लेकर दूसरे दिन तक पहुँचा जाए।

मध्याह्नोत्तर कुछ शान्ति रही, फिर चित्त अधिक बिगड़ने लगा। कुछ काल के पश्चात् थोड़ा सँभले। सारे परिवार को इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया। मेरे कुछ भाई सांसारिक बातें करने लगे; सबको हटवा दिया और फिर आँखें बन्द कर लीं। रात को खाना-पीना त्याग दिया। पण्डित काशीराम आकर बैठे, कहा—भजन बोलो। वह कृष्णभक्ति के कुछ पद बोलने लगे। कहा—"जो आप न छूटा वह दूसरों को कैसे छुड़ाएगा? मुंशी जी! कोई निर्वाण-पद[1] बोलो।" मुंशी जी ने एक भजन कहा, उसे सुनकर वह बहुत ही सन्तुष्ट हुए। फिर कहा—"मैं तो अब अच्छा हूँ, तुम सो जाओ।" मैं बैठा रहा। तब मुझे निश्चय दिलाने के लिए आँखें बंद कर लीं। मैं कुछ काल के पश्चात् लेट गया किन्तु नींद न आई। फिर पिता जी का श्वास शीघ्रगामी हुआ। उठकर मैं पैर दाबने लगा। फिर मैंने उनका सिर मला। उन्हें नींद आ गई। दो घण्टे तक मैं हल्के हाथों सिर दाबता रहा और वह बराबर सोते रहे। दूरे दिन अच्छे दिखाई दिये। मुंशी सामग्री लेकर न आया और पिता जी ने तीन बार पूछा—"वैदिक हवन कब होगा? शीघ्र होना चाहिए।" शाम से फिर अवस्था बिगड़ने लगी। आठ बजे मेरे हाथ में नाड़ी थी और वेदमंत्रों का मैं पाठ कर रहा था। मेरे बड़े चचा ने गीता का पाठ आरम्भ किया। ९ बजे पिता जी ने प्राण त्याग दिये और नाड़ी बंद हो गई।

उसी समय स्त्रियों का रोना-पीटना आरम्भ हो गया। कुछ काल तो मैं चुप रहा किन्तु फिर इस शोर को हटाकर सारा परिवार कोई तीन सौ नगर-निवासियों सहित मृतक शरीर के पास रतजगा करता रहा। मेरी विचित्र दशा थी, पिता जी के देहान्त से मानो माता-पिता दोनों से वियोग हो गया। न रोना आता था और न आस-पासवालों की बातें समझ में आती थीं। प्रातः फिर भाइयों और बिरादरी में कानाफूसी शुरू हुई। मुझे खयाल हुआ कि शायद मुझे पौराणिक अन्त्येष्टि संस्कार के लिए तंग करें, किन्तु जब आपस की बड़ी हलचल देखकर भी मैं न हिला तो किसी का हौसला मुझे कुछ भी कहने का न पड़ा। बड़े भाई ने पौराणिक रीति से अर्थी के साथ-साथ कार्यवाही शुरू की और घृत-चन्दनादि के लिए आज्ञा दी। पिता

१. अभिप्राय 'निराकार-प्रतिपादक' भजन से है। —सम्पादक

जी के नौकर ने बहुत-सा केशर निकालकर दिया। अब बिना बोले निर्विकल्प समझौता हो गया कि श्मशान भूमि में पहुँचते ही मृतक शरीर के साथ किसी का वास्ता न रहेगा। श्मशान में पहुँचने पर मेरी आज्ञानुसार वेदी बनी और चन्दन की लकड़ी लगायी गयी। मन्त्रपाठ करनेवाले मैं और मुंशी काशीराम तथा आहुति डालनेवाले केवल कुछ मेरे विचार के लोग ही नहीं प्रत्युत मेरे ज्येष्ठ भ्रातादि भी थे। उसी समय सामग्री लेकर मेरा आर्यसमाजी मुंशी पहुँचा। कुछ सामग्री वहाँ डाली गयी और शेष से उस स्थान पर, जहाँ पिता जी का देहान्त हुआ था, सायंकाल को हवन हुआ।

उस समय की और दो घटनाएँ वर्णन करने योग्य हैं। जब मृतक शरीर को जलाने की तैयारी हुई तब अर्थी के ऊपर के कारचोबी के दुशाले पर महाब्राह्मणों में झगड़ा हो गया। एक कहता था कि केवल मेरा ही अधिकार है किन्तु दो और उससे भाग माँगते थे। जबकि हमारा सारा परिवार शोक-सागर में डूबा हुआ था उस समय इन देवताओं का बाजारियों की तरह श्मशान में झगड़ना मुझे बहुत अनुचित प्रतीत हुआ और मैंने मृतक शरीर को कारचोबी के दुशालेसहित चिता में रखकर भस्म करा दिया। दूसरी घटना बड़ी ही हृदय-वेधक थी। पिता जी के देहान्त के समय मेरी एक ही सन्तान अर्थात् मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी थी। वह उस समय ५ वर्ष की होगी। पिता जी को उसके साथ बड़ा ही प्रेम था। भोजन के समय उन्हीं के साथ वह खाती थी। जब प्रातः अर्थी को ले चले तो उसने पूछा—"लाला जी कहाँ हैं?" उस समय माता ने बिलखकर कहा—"लाला जी तो मर गये!" बेचारी कन्या ने न किसी को मरते देखा था, न उसको ऐसी घटना का ज्ञान था। सबको शान्ति से कहती फिरी—"लाला जी मर गये।" पिता जी को सब 'लाला जी' कहकर पुकारते थे, इसलिये पुत्री कुमारी भी ऐसा ही कहती थी। श्मशान से जब लौटकर आये तो पिता जी की बैठक को अन्दर से बन्द करके मैं सोने की चेष्टा करने लगा। उस समय वेदकुमारी नित्य आकर पिता जी से फल आदि मिठाई खाने को लिया करती थी और वह उसकी बालक्रीडा को देखकर प्रसन्न होते और उसे प्यार किया करते थे। नियमानुसार बालिका आ खड़ी हुई। किवाड़ा बन्द देखकर धक्का दिया। फिर पुकारा—'लाला जी, खोलो!' जब किसी ने न सुना तो किवाड़े को पकड़कर चीखने लगी—'लाला जी! कुण्डा खोलो!···हाय खोलते नहीं।' रोने का शब्द सुनकर मैं उठ खड़ा हुआ। किवाड़ा खोला तो बालिका अन्दर को गिर पड़ी। उठकर पलँग से लिपट गयी। तब उसको पता लगा कि मरना किसे कहते हैं, और वह आप-से आप समझ गयी कि लाला जी के शरीर को जला आये हैं। बालिका पलँग के पावे के साथ लिपटी हुई विलाप करने लगी और मैंने भी आठ-आठ आँसू रोना शुरू किया। स्त्री-पुरुषों का एक समूह एकत्र हो गया और धाड़ें मार-मारकर सब रोने लगे। यदि उस समय पुत्री न रुला देती तो शायद मैं पत्थर-सा बना रहता

और शायद किसी बड़े रोग से ग्रस्त भी हो जाता।

ज्येष्ठ भ्राता जी ने गरुड़पुराण की कथा रखायी। मैंने उसी समय जुदा उपनिषदों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। सब सम्बन्धी वगैरह आये थे और रात को इकट्ठे डेढ़ सौ पुरुष भूमि पर शय्या करके सोते थे। इस अवसर पर कइयों ने दस दिनों के अन्दर मेरा विरोध करने का प्रयत्न किया, परन्तु आगे बढ़ने का हौसला किसी का न हुआ।

पिता जी के देहान्त पर मेरी एक प्रकार से कायापलट हो गई। अन्त समय में उन्होंने मेरी सचाई पर जो विश्वास प्रकट किया, उसने मुझे सत्य-पालन की ओर सर्वथा झुका दिया। मैंने दृढ़ संकल्प किया कि पिता जी की मंगल इच्छा के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। यह इसी का परिणाम था कि जब सारे भाई इस सन्देह में थे कि जो तालियाँ पिता जी के देहान्त से बारहवें दिन भीमा ने, उनकी अन्तिम आज्ञानुसार, मेरे सामने रख दी थीं, उनसे ताले खुलने पर उन लोगों को भी कुछ लाभ पहुँचेगा वा नहीं। तब मैंने स्वयं उन्हें जमा करके उनकी इच्छानुसार सबको सन्तुष्ट करने के पश्चात् जो बच रहा वही लिया।

पिता जी का देहान्त १२ आषाढ़ (२६ जून) को हुआ था। एक महीना मैंने खुर्जा, बरेली और बनारस की कोठियों से पिता जी का जमा किया हुआ रुपया वसूल करने में बिताया। बरेली और बनारस में पुराने मित्र भी मिले, परन्तु मेरा उनके रहन-सहन से बहुत भेद हो चुका था। फिर भी सबने मेरे साथ पुराने ही प्रेम का व्यवहार किया। भाद्रपद (अगस्त) मास में नगद रुपया भी बाँट दिया। मेरे तीनों भाइयों ने अधिक नगदी ली और मुझे पूरा दाम लगाकर बग्घियाँ और घोड़े दिये गये जिनके कारण मेरा मासिक व्यय पहले से बहुत बढ़ गया। सारी सामग्री को तलवन में छोड़कर मैं जालन्धर पहुँच गया।

जालन्धर में मैंने सूदों की चौकवाली बैठक छोड़ दी थी। मेरा परिवार अपने पितृगृह में निवास करता था, मैं भी वहीं जाकर टिका, क्योंकि वकालत की परीक्षा के लिए फिर लाहौर जाना था और मुखतारी का काम पिता जी के देहान्त पर जालन्धर से अनिश्चित-अनुपस्थिति के कारण बन्द हो चुका था। मैं शायद उसी समय लाहौर चला जाता किन्तु दशहरे के मेले की मण्डी पर तीन में से दो जानवर 'एक घोड़ा और एक घोड़ी' बेच देने का विचार था। इसलिए भी दशहरे के मेले तक ठहरना पड़ा। घोड़े का बाँकपन और शान देखकर म्यूनिसिपैलिटी की ओर से इनाम तो मिल गया, किन्तु सौदा एक जानवर का भी न हुआ, इसलिए सब जानवरों के पालन का बोझ सिर पर रख मैं लाहौर को चल दिया।

मेलों में वैदिक धर्म-प्रचार

यह शायद पहली बार था कि जालन्धर में दूसरे मेले पर ईसाइयों के साथ-

साथ आर्यजाति की किसी संस्था की ओर से धर्मप्रचार का प्रबन्ध किया गया था। उस समय महाशय भक्तराम बी० ए०, मिशन स्कूल के हैडमास्टर, जालन्धर आर्यसमाज के उपप्रधान थे। रामलीला का मेला उस सूखे तालाब पर लगा करता था, जिसे अब गांधी मण्डप कहते हैं। उसी तालाब के ऊपर बड़े प्रसिद्ध स्थान पर आर्यसमाज की ओर से खेमा लग रहा था। ईसाई मिशन के मुकाबिले में उन्हीं के स्कूल के हैडमास्टर का अपने हाथों 'ओ३म्' का झण्डा गाड़ना तथा खेमे के खूंटे ठोकना बड़ा ही विचित्र दृश्य था। आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ। मैं भी बोलता था किन्तु श्री देवराज जी के व्याख्यान सर्वसाधारण पर बहुत असर डालते थे। बड़ी बात यह थी कि जालन्धर प्रान्त के सबसे बड़े जमीन्दार और साहूकार के पुत्र को सादा जीवन व्यतीत करते हुए, धर्म की सेवा में निमग्न देखकर पत्थर दिल भी पसीजकर उस ओर झुकते थे। ईसाइयों का प्रचार उस वर्ष बिलकुल फीका पड़ गया। जब ईसाई प्रचारक के पास दो-तीन आदमी मुश्किल से रह जाते तो वह स्वयं हमारे कैम्प में आ जाता। जालन्धर आर्यसमाज के प्रचारों में एक विशेषता आरम्भ से ही रहती थी। उसके काम से किसी भी अन्य मतावलम्बी व्यक्ति को असभ्य व्यवहार की शिकायत का अवसर नहीं मिला। जालन्धर आर्यसमाज के उस समय के पदाधिकारियों को यह अभिमान था कि वे असभ्य विरोधियों को भी सभ्य बनाने में कृतकार्य होते हैं।

दशहरे के पश्चात् हम सबने पारिवारिक उपासना का प्रचार प्रारम्भ किया। प्रत्येक सप्ताह, शायद मंगलवार को, सब भाई किसी सभासद् के घर इकट्ठे होते। मुहल्लेवाले स्त्री-पुरुष भी आ बैठते। भजन-कीर्तन के पश्चात् ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना, और तत्पश्चात् कभी-कभी धर्मोपदेश भी होता था। इस प्रथा के चलाने का सारा यश श्री देवराज जी को ही मिलना चाहिये। यही क्यों, और भी हृदय पर अधिक प्रभाव डालनेवाले कार्यों का आरम्भ श्री देवराज जी के ही अनुकूल हृदय से हुआ करता था।

एक विस्मृत धर्मोपदेशक

लाहौर आर्यसमाज में संवत् १९४३ से "आटा-फण्ड" बड़े जोर-शोर से चला था। लाहौर से ही अन्य आर्यसमाजों ने भी "आटाफण्ड" चलाने की शिक्षा ली थी। धर्मकार्यों के लिए इस प्रकार आर्थिक सहायता एकत्र करने की प्रथा यहाँ तक चली कि अब तक आर्यप्रतिनिधि सभा ने गिरते-पड़ते भी अपने बजट से "आटा-फण्ड" को नहीं काटा। यह आटाफण्ड कैसे चला? संवत् १९४२ की गर्मियों में

जब लाहौर आर्यमन्दिर की ड्योढ़ी के ऊपरवाले मकान में साप्ताहिक अधिवेशन हो रहा था, एक साधारण लम्बा-दुबला साधु आया और घुटने टेककर बैठ गया। सत्यार्थप्रकाश की कथा समाप्त होते ही उसने एक मर्मस्पर्शी वक्तृता दी और यह प्रस्ताव किया कि प्रत्येक आदित्यवार को आर्यसामाजिक सभासद् चुटकी-चुटकी आटा घर से भिक्षा करके लावें और आर्यसमाज का काम चलावें। इसका प्रचार इतना हुआ कि दयानन्द कॉलिज की आमदनी का यह एक सन्तोषजनक भाग बना। बहुत-से घरों में 'धर्म-घट' रख दिये गये, गृहपत्नियाँ प्रातःकाल आटा गूँधने से पहले एक मुट्ठी आर्यसमाज के निमित्त निकालकर धर्म-घट में डालती रहीं।

यह साधु, जिसने ऐसा प्रभाव डाला, कौन था? जब साधु बोल चुका तो आरती होने पर वह बड़े प्रेम से मुझसे मिला। लाहौर आर्यसमाज के प्रधान श्री साईंदास ने मुझसे जी साधु जी का नाम पूछा। मैंने बतलाया कि इनका नाम "रमताराम" है और यह कुछ काल से जालन्धर के श्रीमान् सर्दार विक्रम-सिंह सी० एस० आई० के यहाँ ठहरे हुए हैं; आर्यसमाज से बड़ा प्रेम रखते हैं और श्री देवराज जी के और मेरे साथ इनका गहरा धार्मिक सम्बन्ध है। रमता-राम जी कुछ काल लाहौर में रहे, फिर वहाँ से न जाने कहाँ चले गये। एक बार उनकी उड़ती-सी खबर एक स्थान से आयी थी, फिर कुछ पता न लगा। रमताराम जी का देवनागरी तथा अंग्रेजी अक्षरों का लेख अत्युत्तम था। स्वामी योगेन्द्रपाल की तरह वह वेदमन्त्रादि लिखते रहते थे। जालन्धर में उन्होंने कभी सर्वसाधारण के सामने वक्तृता नहीं दी थी। लाहौर को उन्होंने हिला दिया था। उनके अन्दर धर्म के लिए बड़ी श्रद्धा थी और उनका हृदय जोश की अग्नि से प्रज्वलित रहता था। रमताराम जी एक धूम्रकेतु की तरह आये और वैसे ही चल दिये। न जाने कितने धूम्रकेतु आये और चले गये जिनको आर्यसमाज में न किसी ने देखा और न पहचाना। परमात्मा करे कि ऐसे चमत्कारों से भी शिक्षा लेने का पाठ आर्य भाई पढ़ें और अपनी संशोधक शक्ति को बढ़ाएँ।

धर्म-घट का निर्माता कौन था?

यह ठीक है कि धर्म-घट रखवाने का प्रचार लाहौर में पहले-पहले स्वामी रमताराम जी ने कराया, किन्तु उक्त स्वामी जी इस विचित्र विचार के निर्माता न थे। वह खयाल पहले श्री देवराज जी के काल्पनिक मस्तिष्क से निकला था। उन्होंने जालन्धर आर्यसमाज के मन्त्रित्व के अधिकार से अपनी अन्तरंग सभा में सबसे पहले यह प्रस्ताव पास कराया कि सब सभासदों के मकानों में एक-एक घड़ा रक्खा जाए जिसमें प्रातः एक मुट्ठी आटा आर्यसमाज के कामों के लिए डाला जाए। इसका नाम देवराज जी ने ही अपनी विचित्र भाषा में 'चाटी सिस्टम' रक्खा, क्योंकि आटा रखने के बड़े मुँहवाले घड़े को जालन्धर में 'चाटी' कहते हैं। देवराज

जी की कल्पना-शक्ति की यहीं तक समाप्ति न थी। उन्होंने 'चाटी सिस्टम' के साथ 'रद्दी फण्ड' भी खोल दिया। इसका मतलब यह था कि सभासदों के घरों में महीने के अन्दर जितनी रद्दी इकट्ठी हो, वह सब आर्यसमाज का चपरासी उठाकर ले जावे और उसे बेचकर एक धन जमा कर लिया जाए। जहाँ तक मुझे याद है इसी 'रद्दी फण्ड' की आमदनी से जालन्धर आर्यसमाज के पुस्तकालय के लिए पुस्तकें तथा समाचारपत्र मँगाये जाते थे।

जालन्धर आर्यसमाज में उस समय बड़े बल तथा उत्साह से कार्यारम्भ हो गया था। जहाँ मंगलवार को गृह-उपासना हुआ करती थी वहाँ प्रत्येक बुधवार को सायंकाल एक वाग्वर्धिनी सभा भी हुआ करती थी। इस सभा में केवल युवक ही नहीं बोला करते थे, प्रत्युत अधेड़ से लेकर बूढ़ों तक व्याख्यान दिया करते थे।

विजयादशमी से एक सप्ताह पश्चात् मैं लाहौर चला गया। वकालत की परीक्षा फिर से देनी थी, क्योंकि यह मेरे लिए अन्तिम ही अवसर था। इसके पश्चात् बिना बी० ए० पास किये कोई भी वकालत की परीक्षा नहीं दे सकता था। मैंने अपने गत वर्ष के ही कुछ साथियों के पास डेरा किया। जिस बड़े द्वार के अन्दर से अनारकली का बड़ा आर्यसमाज मन्दिर दिखाई देता है, उसके बायीं ओर मकान में मैं अन्य विद्यार्थियों के पास ठहरा। इस मकान के ऊपर की छतों पर उन दिनों वर्तमान देवसमाज के प्रवर्त्तक पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री अपने परिवारसहित रहते थे। उस समय तक उनका सम्बन्ध ब्रह्मसमाज के साथ ही था, किन्तु उन्होंने उसी वर्ष की ग्रीष्मऋतु में (मेरी लाहौर से अनुपस्थिति में) लोगों को ब्राह्ममन्दिर में ही इकट्ठा करके लाहौर गवर्नमेण्ट स्कूल की ड्राइंग मास्टरी छोड़कर स्वर्गवासी बाबू नवीनचन्द्रराय से संन्यास धारण किया था और अपना नाम शिवनारायण के स्थान में 'सत्यानन्द' रख लिया था। हाँ, संन्यास लेने के पहले और पीछे भी यह अग्निहोत्र की छाया तक से डरते हुए अग्निहोत्री ही बने रहे।

पाठकों के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि जब संन्यास ही ले चुके तो परिवार कैसा? किन्तु उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह संन्यासी भी अनोखा ही था। अग्निहोत्री जी की पहली धर्मपत्नी जब मरी थी उस समय शायद उनके दो या तीन पुत्र थे। उसके पश्चात् आपने एक बंगाली विधवा से विवाह किया। थोड़े ही काल बाद उसका भी देहान्त हो गया, तब आपने १५० रुपये मासिक की नौकरी छोड़कर विज्ञापन दे एक बड़ा जबर्दस्त व्याख्यान दिया और भगवे कपड़े धारण कर लिये, किन्तु बाल-बच्चों के साथ वैसा ही सम्बन्ध जोड़े रहे। इसीलिए मैंने इसे अनोखा संन्यास लिखा है।[1]

---

१. द्रष्टव्य—नवीनचन्द्री अग्निहोत्री का गृहस्थ संन्यास, ले० मुन्नालाल शर्मा उप्रेती, १८८८ ई०

उन दिनों अग्निहोत्री जी थे तो ब्राह्मसमाज के ही मिनिस्टर[1] किन्तु ब्राह्मसमाज ने अलग होने की तैयारियाँ कर रहे थे। इसका पहला चिह्न इनका स्वतन्त्र चेले मूँडना था। जिन दिनों का हाल मैं लिख रहा हूँ उन दिनों होत्री जी ने सबसे पहले दो चेले मूँडे थे। एक का नाम झण्डासिंह और दूसरे का चुन्नीलाल था। झण्डासिंह तो पहले अमरसिंह हुए और फिर देवसमाज की बुनियाद पड़ते ही अमरदेव हो गये। ज्येष्ठ चेला होने के कारण गद्दी के अधिकारी वही थे, किन्तु सुना गया है कि अग्निहोत्री जी के पुत्र हरनारायण ने वर्षों की उदासीनता के पश्चात् पिता का चेला बनकर, गद्दी से उन्हें वंचित कर दिया है। दूसरे चुन्नीलाल का नाम रक्खा गया था ब्रह्मदास, वह ब्रह्मदास से ईसादास बन चिरकाल से अपना स्थान रिक्त करके चले गये हैं।

इन दोनों चेलों को अनुताप का खूब पाठ पढ़ाया जाता था। प्रातःकाल उठकर अग्निहोत्री जी तो सैर को चले जाते और इन दोनों को रोने-चिल्लाने के लिए हमारे गले मढ़ जाते। प्रातःकाल स्नान करके जब मैं सन्ध्या करने बैठता तो ऊपर से शब्द आते "मैं पापी हूँ! मैं महापापी हूँ! हाय मर गया! गुरुजी, शरण में लो! हाय! हाय!! हाय!!!" "धड़ाम" गिरने का शब्द आता और हममें से एक ऊपर को दौड़ पड़ता, किन्तु किवाड़ बन्द पाता, करता तो क्या करता! एक दिन इन दोनों नए चेलों के अनुताप का विचित्र दृश्य देखा। मैं तीन-चार मित्रों सहित इरावती (रावी) नदी के परले पार जहाँगीर का मक़बरा देखने गया। मकबरा देखकर हम सब शाहदरा ग्राम में चले गये। आगे बाजार में तिरमुहानी पर लोगों का जमघट दिखाई दिया। समीप जाकर देखा तो दो मनुष्य भूमि पर लोटपोट हो रहे हैं। मैंने समझा कि कोई दंगा हो रहा है, किन्तु लोगों को हँसते ठठ्ठा करते देखकर कुछ अधिक सावधानता से दृष्टि डाली तो पता लगा कि हमारे पड़ोसी झण्डासिंह और चुन्नीलाल ने माया रच रक्खी है। एक व्याकुल होकर दूसरे के पैर पकड़कर चिल्लाता है— "भाई जी! मैं बड़ा पापी!" दूसरा अपना पैर छुड़ा पहले के चरण घसीटकर चिल्लाता है—"नहीं भाई जी! मैं बड़ा पापी!" मैं ऐसा नहीं समझता कि वे जानबूझकर कोई ढोंग रच रहे होंगे। उन्हें यही बतलाया गया था कि इस प्रकार गलियों में पाप को प्रख्यात करके प्रायश्चित्त से वे निष्पाप हो जाएँगे।

इन्हीं दिनों उद्धवराम कवाडिये की भतीजी कुमारी देवकी जी संन्यासी सत्यानन्द जी के यहाँ उनसे पढ़ने आती थीं, और बहुधा भोजन बनाने का भी काम करतीं और वहीं रह भी जाती थीं। ऐसे दिनों में गरीब झण्डासिंह और चुन्नीलाल तो चार बजे ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर गलियों में अनुताप का राग अलापने के लिए चले जाते और अग्निहोत्री जी परिवारसहित छः-सात बजे तक निद्रा का आनन्द लेते रहते थे। एक दिन जब अग्निहोत्री जी गुजराँवाले गये हुए थे, मैंने उनके

१. ब्रह्मसमाज मे मिनिस्टर शब्द आचार्य के अर्थ में लिया जाता था।

हरनारायण से छोटे लड़के की विचित्र शोचनीय अवस्था देखी। मैं सीढ़ी के पास वाले कमरे में दोपहर को पढ़ रहा था कि ऊपर का दरवाजा जोर से बन्द हो गया। कान्तिनारायण ने उसको खड़खड़ाना और ऊपरवालों को गन्दी गालियाँ देना आरम्भ किया। जब वहाँ कुछ पेश न गयी तो सड़क पर खड़ा होकर ईंटें फेंकने लगा। जब बाहर के द्वार भी बन्द हो गये तो झपटकर ऊपर को चला। मेरा उन दिनों अग्निहोत्री जी से मिलने का सम्बन्ध था। मैंने सीढ़ी में जाकर बच्चे को दिलासा देकर चुप कराना चाहा, किन्तु वह बालक क्या था, आफत था! मुझसे छूटकर ऐसी गालियाँ देने लगा कि मुझे कान बन्द कर लौटना पड़ा। तब दूसरी ओर से मैंने झण्डासिंह को कहा कि आप हम सब पर दया करें और अपने गुरुपुत्र को अन्दर लेकर स्वयं उसकी अमृतमयी वाणी का पान करें। उन्होंने कृपा कर किवाड़ खोल कान्ति को अन्दर कर लिया। उन्हीं दिनों अग्निहोत्री जी ने "जात-पाँत और उसकी खौफनाक बुराइयाँ" शीर्षक से एक व्याख्यान दिया था, जिसे मैंने बहुत पसन्द किया था। किन्तु उसी समय वक्ताओं के गुह्य रहस्य भी मुझे ज्ञात हुए जिनका अनुकरण मैं कभी नहीं कर सकता। जो व्याख्यान अग्निहोत्री जी ने दिया, उसका बहुत-सा भाग उन्होंने मेरे सामने अपने 'धर्मजीवन' अखबार के लिए लिखाया था। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि बड़े वक्ता सारी वक्तृता पहले लिख लेते हैं और कंठस्थ करने का भी प्रयत्न करते हैं। किन्तु यदि कुछ और-का-और बोल जाएँ, तो भी छपता वही है जो उन्होंने विचारकर लिखा हो। कुछ भी हो, मैं उस समय तक अग्निहोत्री जी को एक देशभक्त तथा धार्मिक आदमी समझता था।

किन्तु उनके तीसरे विवाह से उनके प्रति जो सम्मान का भाव था वह मेरे दिल से जाता रहा। जिस रात संन्यासी स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री ने तीसरी बार गृहस्थी में प्रवेश करने की तैयारी की और अपने संन्यास के गुरु बाबू नवीनचन्द्र राय के घर पर कुमारी देवकी जी के साथ विवाह पढ़वा रहे थे, उसी रात, उसी समय, पण्डित लक्ष्मणप्रसाद ब्राह्मसमाज में उनकी इस करतूत के विरुद्ध बलपूर्वक व्याख्यान दे रहे थे। उस व्याख्यान में मैं नहीं गया था और इसीलिये मैंने एक दूसरा दृश्य देखा। रात के शायद ११ बजे थे, मैं परीक्षा की तैयारी में निमग्न था कि बाहर अग्निहोत्री जी के द्वार पर बहुत-से पैरों की आहट सुनायी दी। बाहर देखा तो अग्निहोत्री जी रेशमी भगवी पोशाक धारण किये श्रीमती देवकी जी को दुलहिन की पोशाक पहिनाये साथ लेकर ऊपर चढ़ रहे हैं और उनके सुपुत्र हरनारायण जी लालटेन ऊँची किए और एक हाथ पतलून की जेब में डाले कह रहे हैं—* "आइ ऐम ग्लैड टु सी इट, ह्वाट इज़ इट?" (मैं इसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। यह क्या है?) तब ऊँचे स्वर से पढ़ने लगे—"सत्यानासी! हाय-हाय!!···चेली ब्याही" इतना पढ़कर हरनारायण रुक गये और अग्निहोत्री जी ऊपर आये। एक विज्ञापन

* I am glad to see it. What is it?

कोई लगा गया था। अग्निहोत्री जी ने दृष्टि डाली और अपने बनावटी गम्भीरस्वर में कहा—"इसे उतार लाओ! हमारी जिन्दगी में यह भी एक यादगार रहेगी।"

दूसरे दिन सवेरे से ही धूम मच गयी। जिस दरवाजे पर जाओ, दोनों ओर वही पोस्टर लगा हुआ है। प्रत्येक बाजार, गली-कूचे में वही इश्तिहार—"सत्यानाशी हाय! हाय!! कहाँ वह चालीस, हाय! हाय!! कहाँ यह सोलह, हाय! हाय!!··· चेली ब्याही हाय हाय! कच्चा योगी, हाय! हाय!! पक्का भोगी, हाय! हाय!!" इत्यादि। मैंने इस विज्ञापन को बहुत ही बुरा समझा, और इसलिए मुझे यह सुनकर बड़ा कष्ट हुआ कि लोग इस विज्ञापन का मुद्रण कुछ आर्यसमाजियों की ओर से समझ रहे हैं। मुझे यह विश्वास नहीं होता था कि इस कर्म के लिए अग्नि-होत्री जी के साथ मनभेद रखते हुए भी आर्यसामाजिक पुरुष ऐसी असभ्यता के भागी बनेंगे। मैंने यह दोष आर्यसमाज के गले मढ़ना जनापवाद मात्र ही समझा और श्री लाला साईंदास जी के पास पहुँचकर उनसे प्रार्थना की कि इस अपवाद का खण्डन करें। लाला साईंदास जी ने उत्तर दिया कि जब राय मूलराय एम० ए० ने अपनी पहली धर्मपत्नी के देहान्त के पश्चात् दूसरा विवाह किया था तो अग्निहोत्री जी ने अपने पाक्षिक समाचारपत्र 'विरादरे-हिन्द" में उनके विवाह का सियापा छापा था जिसकी टेक थी 'एम०ए० बी० ए०, हाय! हाय!!" लाला जी ने कहा कि राय मूलराज का केवल इतना ही दोष था कि उन्होंने ग्यारह वर्ष की कुमारी से इसलिए शीघ्र विवाह कर लिया कि उसे सुशिक्षिता बना सकें। यदि राय मूलराज के मित्रों से किसीने बदला लेने के लिए अग्निहोत्री का सियापा करा दिया तो हम क्या कर सकते हैं? लाला जी के इस कथन से मेरी तसल्ली तो न हुई, किन्तु मैं चुप होकर लौट आया।

मैं समझता हूँ कि यह पहला ही अवसर था जब कि अग्निहोत्री जी के अन्दर आर्यसमाज के प्रति द्वेषाग्नि अधिक भड़क उठी। यह सच है कि श्री स्वामी दयानन्द जी से दो बार (एक बार सामवेद में कहानियों का दावा करके न निकाल सकने पर और दूसरी बार भाई दित्तसिंह का प्रश्न न समझकर श्री स्वामी जी को ताना देने पर) झाड़ें खाने के कारण पण्डित शिवनारायण के मन में आर्यसमाज काँटा-सा खटक रहा था, और यह भी ठीक है कि गेरुवे वस्त्र पहनकर ऋषि दयानन्द के बन्धेज का पटका बाँध श्री स्वामी सत्यानन्द के अन्दर अभिमान और दुराग्रह की मात्रा बढ़ चुकी थी; किन्तु अनुमान यह होता है कि अन्य धर्म-समाजों की अपेक्षा आर्यसमाज से अधिक शत्रुता की प्रेरक यही घटना हुई, और शायद इसी घटना का परिणाम था कि स्वा० सत्यानन्द अग्निहोत्री ने ब्राह्मसमाज मन्दिर में वह विष से भरा हुआ व्याख्यान दिया जिसने सब गुप्तचरों के लश्कर से बढ़कर आर्यसमाज को हानि पहुँ-चायी। उस व्याख्यान का शीर्षक था—"स्वामी दयानन्द और उनका नया पन्थ"। अग्निहोत्री जी ने इस व्याख्यान की हजारों कापियाँ उर्दू, अंग्रेजी और आर्य-

भाषा में छपवाकर बाँटीं।

एक समय आया था जब परम गुरु को जवाब देकर केवल देवगुरु की पूजा ही शेष रह गयी थी; उस समय अग्निहोत्री जी ने आर्यसमाज के विरुद्ध मुद्रित किये सारे साहित्य को जला देने की घोषणा की थी, किन्तु इस मनुष्य-पूजा-भञ्जक समाज पर फिर भी अग्निहोत्री जी की क्रूर दृष्टि बनी ही रही और भारतवर्ष में आये संवत् १९६४ (सन् १९०७) के भौंचाल में अग्निहोत्री जी के चेलों से बढ़कर और किसी गुप्तचर ने काम भी नहीं किया।

जालन्धर आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव

अमृतसर और लाहौर के आर्यसमाजों के उत्सवों में सम्मिलित होने के बाद मैंने वकालत की परीक्षा दूसरी बार दी। परीक्षा से निवृत्त होते ही मैं जालन्धर पहुँचा और स्थानीय आर्यसमाज के पहले वार्षिकोत्सव की तैयारी में लगा। मुरलीमल वाली धर्मशाला से हम सब उठकर कपूरथला के वकीलखाने के सामने उस मकान में आ गये थे जिसकी बुनियाद पर इस समय सर्दार अमरसिंह का मकान खड़ा है। इस नये मकान का आँगन बहुत बड़ा था। इस आँगन में शामियाने खड़े करके खूब सजावट की गयी थी। इसी उत्सव के समय जालन्धर की पौराणिक धर्म-सभा का जन्म हुआ। आर्यसमाज ने तो दो वर्षों की लगातार कोशिश के पीछे अपने पहले वार्षिकोत्सव का विज्ञापन दिया, किन्तु हमारे पौराणिक भाइयों ने हमारे वार्षिकोत्सव से १५ वा २० दिन पहले ही धर्मसभा स्थापित करके उन्हीं तिथियों पर वार्षिकोत्सव मनाने का विज्ञापन दे दिया। एक ठठोल ने उस समय कहा था कि धर्मसभावालों के वर्ष जहाँ विस्तृत से विस्तृत होते हैं वहाँ संकुचित से संकुचित भी हो सकते हैं। १५ वा २० दिनों का वर्ष तो शायद उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव में भी नहीं होता होगा।

इस पहले उत्सव का नगर-निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पौष १९४३ में जालन्धर आर्यसमाज का जो पहला वार्षिकोत्सव हुआ वह कई दृष्टियों से स्मरणीय है। प्रथम तो स्थानीय आर्यसमाज के सब अधिकारियों और प्रतिष्ठित सभासदों का स्वयं परमात्मा का गुणनुवाद गाते हुए बाजारों और गलियों में से गुजरना ही एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर रहा था, फिर पंजाब के कुछ श्रीमानों का बाहर से सम्मिलित होना, तिसपर भी नौकर-चाकर रखनेवालों का धर्म की सेवा के लिए हाथ से मजदूरों की तरह काम करना विशेष प्रभाव डाल रहा था।

बाहर से आये हुए भाइयों का उतारा मेरे मकान पर किया गया था। मैंने परिवार को तो अपने श्वशुरगृह भेज दिया और स्वयं समाजमन्दिर में आसन जमाया। उत्सव नगर के दूसरे किनारे पर मनाया जा रहा था और मकान शहर के इस किनारे पर था। नित्य प्रातःकाल सारे नगर में से हरिकीर्तन करते हुए आर्य पुरुष आया करते थे, जिसका बहुत ही उत्तम प्रभाव पड़ता था। इस वर्ष के पश्चात् भी ८-९ वर्षों तक नगर के उसी ओर गवर्नमेण्ट हाई स्कूल के मकान में उतारा किया जाता रहा।

जालन्धर नगर में इस वार्षिकोत्सव ने आर्यसमाज की जड़ों को दृढ़ कर दिया। धर्मसमाज के बहुत विरोध करने पर भी श्रोतागण की भीड़भाड़ बहुत बढ़िया रही। सर्वसाधारण पर इसका भी प्रभाव पड़ा कि जहाँ आर्यसमाज की वेदी पर किसी प्रकार के भी अनुचित कटाक्ष नहीं हुए, वहाँ धर्मसभा की वेदी से गालियों की बौछाड़ होती रही। इसी वर्ष से अन्तरंग सभा नियमानुसार होने लगी और पारिवारिक उपासना में भी नगर-निवासियों का प्रेम बढ़ने लगा। वह समय जब आँखों के आगे आ जाता है तो मन की विचित्र दशा हो जाती है। सप्ताह में ३-४ दिन अवश्य ऐसे आते थे जबकि आर्यपुरुष ८-९ बजे रात को परमात्मा की स्तुति-प्रार्थनादि के भजन गाते हुए बाजारों में से निकलते थे। सायंकाल नित्य बहुधा आर्यपुरुष समाजमन्दिर में इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य-कर्म करते और साथ ही कुछ ज्ञान-चर्चा भी होती। वह ही समय था जब एक-दूसरे की शंकाओं का समाधान होता और क्रियात्मक विचार भी होते थे। जालन्धर में जो कुछ भी आगे हुआ, उसकी बुनियाद उन्हीं दिनों के शुद्ध विचारों पर रक्खी गयी थी। वार्षिकोत्सव के पश्चात् ही मैंने मकान बदल लिया और अहलूवालिया बाजार के अन्त में चौमुहानी पर वह मकान किराये पर लिया जिसमें फिर मिस्टर वैस्टन हैडमास्टर टिके थे और क्रमशः गवर्नमेण्ट स्कूल भी रहा था।

इस मकान में मैं अनुमानतः साढ़े तीन वर्षों तक रहा और इसीलिए इसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दे देना उपयोगी होगा। कोतवाली से जो सड़क जिला अदालतों की ओर जाती है उसके बायीं ओर बस्ती की सड़क पर यह मकान है। सड़क की ओर एक छोटी दीवार से घिरा आँगन है, जिसमें ढाई-तीन सौ आदमी बैठ सकें। फिर सरवसर बरामदा और उसके साथ एक लम्बा कमरा बैठक का, उसके साथ एक छोटा कमरा था जिसमें से अन्दर को दरवाजा था। अन्दर उतने ही मकानों के साथ छोटा आँगन और उसके दूसरी ओर रसोई तथा स्नानादि के गृह थे। इस मकान के साथ ही तबेला था जिसमें मेरी दो बग्घियाँ और दो घोड़े बँधे रहते थे।

—१

कुछ नये नट, नाट्यशाला में

मेरे पुराने मुंशी अमीरखाँ का देहान्त हो चुका था। मैंने उसके पुत्र का पालन करना चाहा और इसलिए उससे काम लेने लगा। किन्तु वह अभी बच्चा था, उससे काम न चला; तब काशीराम को मुंशी नियत किया। ये महाशय आर्यसमाजी बन चुके थे और काम में होशियार थे। इन दिनों बेकार भी बैठे थे, इसलिए इनको मुंशी बनाने से एक पन्थ दो काज सिद्ध हुए।

इस वर्ष भी कुछ नवीन नटों का मेरे जीवन की नाट्यशाला में प्रवेश हुआ। उनमें से पहले थे उस समय के राजा सुकेत 'दुष्टनिकन्दन सेन' के सौतेले भाई राजकुमार मियाँ जनमेजय। काँगड़े के पहाड़ में राजपरिवारों के सब सभासदों को मियाँ कहते हैं। यह उपाधि इन लोगों ने मुसलमानी राज के समय धारण की प्रतीत होती है। जब आजकल बम्बई-मद्रास प्रान्त आदि के बड़े-बड़े पण्डित भी मिस्टर कहलाने में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं तो मुगलों के दास राजपूत यदि मियाँ बनकर उपजकी[1] लेते थे तो उन्हें कौन अपराधी समझ सकता है? राजा दुष्ट-निकन्दन स्वयं बड़ा दुष्ट था। उसने अपने सगे चचा मियाँ शिवसिंह को देशनिकाला देकर उनका भण्डार लूट लिया था। सहस्रों रुपयों का धन इस लूट में उसके हाथ आया। अपने भाइयों को उनके गुजारे के अधिकार से वंचित करके राज से बाहर कर दिया। मियाँ शिवसिंह अपने छोटे भाई मियाँ ज्वालासिंह और भतीजे जनमेजय और उसके भाई सहित जालन्धर में राय शालिग्राम के यहाँ आ रहे थे। मियाँ जनमेजय हम आर्यसमाजियों की संगति से आर्यसमाज के सभासद् बन गये और मेरे साथ उनका पठन-पाठन का विशेष सम्बन्ध हो गया।

इसी वर्ष ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द का मेरे साथ सम्बन्ध हुआ। यह महाशय बिहार प्रान्त के कायस्थ घराने में उत्पन्न हुए थे। २५ वर्ष की आयु में ही घर से उपरत होकर निकल आये और कुछ महीनों में निश्चलदास की पोथी[2] हाथ में लिये घूमते-घूमते अमृतसर की दिवाली देखकर जालन्धर की गुफा पर आ उपस्थित हुए थे। उस गुफा में शंकरपुरी योगी महात्मा का निवास था। उनपर सर्वसाधारण की बड़ी श्रद्धा थी। उनके देहान्त के पश्चात् उनकी समाधि वहीं बनायी गयी और साथ ही कुछ कूप और कुछ मकान रहने के बन गये। गुफा को भी पक्का बना दिया। स्थान तो योगी का था किन्तु जिस समय का हाल मैं लिख रहा हूँ उस समय भोगी निवास करते थे। यह स्थान काचूकटियों[3] का गढ़ बना हुआ था। 'ऐन-पुरी' जो सर्वभक्षी और मद्यप था, इस स्थान का अध्यक्ष बना हुआ था। मुझे पता

---

१. मौज, आनन्द।
२. पुस्तक; यहाँ नव्यवेदान्त के ग्रन्थ 'विचारसागर' से अभिप्राय है।
३. एक सम्प्रदायविशेष, जिसका वर्णन आगे किया गया है।

लगा कि धूर्त दुराचारियों में एक सच्चा साधु आकर उतरा है। हम गये तो एक काले २५ वर्ष के युवा साधु को भगवा ओवरकोट पहने गुफा में 'विचारसागर' पढ़ते पाया। एक घण्टे की ही बातचीत ने साधु जी को हमारी ओर आकर्षित कर दिया और वे आर्यसमाज मन्दिर में आकर रहने लगे।

इस स्थान में ही मैं गुफावाले काचूकटिये साधुओं का विशेष परिचय अपने पाठकों को देना चाहता हूँ। ये साधुवेशधारी नास्तिक लोग संख्या में बहुत कम हैं। ईश्वर, वेद-वेदान्त, द्वैताद्वैत, किसी विचार में भी इनकी श्रद्धा नहीं देखी जाती थी। कपड़े ये स्वच्छ, श्वेत पहनते और प्राय: हुक्का पीनेवाले होते थे। एक काचूकटिये की दिनचर्या का वर्णन बड़ा ही मनोरंजक होगा इसलिए अपने देखे अनुसार लिखे देता हूँ। भाई देवराज के घर मैं टिका हुआ था, तभी एक-दो काचूकटिये रात काटने उनके मकान पर आये। अतिथि समझकर उनका सत्कार किया गया और भोजन कराया गया। जब भोजन से निवृत्त हुए तो उन्हें खटिया की सूझी। पहले नवार का पलँग माँगा, वह खाली न होने पर जो खटियाँ दिखाई गयीं उनपर लेटकर पहले उन्होंने अपने नाप की खटियाँ चुन लीं, फिर अपना स्वच्छ बिस्तरबिछाकरबैठ गये। बातचीत पर बोले 'असीं तेरा वेदान्त वेद सब चुल्हे विच धक्क दित्ता ए, कोई अकल दी गल्ल कर।' रात के भोजन के पश्चात् अपने नाप की खटिया पर बैठकर हुक्का पी काचूकटिया सो जाएगा। प्रात: उठकर पहला काम मिट्टी के हुक्के को खूब धोकर साफ करना, फिर चिलम तैयार करके हुक्का गुड़गुड़ाना, शौच से निवृत्त होने पर पहले जूता साफ करना। काचूकटिया जूते से पहचाना जा सकता है। सप्ताह में दो बार जूते को तेल देना ये अपना धर्म समझते हैं। जूता साफ करके फिर कपड़ों की बारी आती है। यदि साबुन पास नहीं तो बनिये की दूकान पर गये और हाँक लगायी—'ओ लाला! दे इक टिक्की साबुन दी। तेरा साबुन गया, साड्डे कपड़े दी मैल गयी।' अर्थात् पुण्य की कोई बात नहीं, एक प्रकार का सौदा है। लाला जी की क्या मजाल कि साधु जी को मना करे! यहाँ तो 'भेख को नमस्कार' है। गृहस्थी से अनोखा किसी प्रकार का भी कपड़ा क्यों न पहने हों उसका ही श्राद्ध और तर्पण हिन्दू अपना कर्तव्य समझते हैं। शायद इसीलिए कैदियों को पुलिस के पञ्जे में जाते हुए देखकर कई हिन्दू बुढ़िया उन्हें दूर से नमस्कार करती हैं। साबुन लगाकर काचूकटिया केवल कौपीन धारण करके सब कपड़ों को साबुन से धोकर सूखने डाल देता है और दूसरा दौर हुक्के का शुरू होता है। हुक्के के तीसरे दौर तक कपड़े सूख गये और ग्यारह पर चोट लगी, तब काचूकटिये को स्नान की सूझती है। पैर-हाथ मलने में आध घण्टा व्यतीत कर साधु जी तैयार हुए तो सौ बिस्वे भोजन लिये कोई श्रद्धालु 'भेख पूजक' तैयार बैठा नजर आएगा। यदि कोई न हुआ तो जिस पहले घर में हाँक लगायी कि 'चल माई, तेरी रोटी गयी साड्डी भक्ख गयी, लेखा बराबर है" वहाँ ही पाँच प्रकार के

भोजन तैयार मिलेंगे।

भोजन के पश्चात् हुक्का पीकर वृक्ष तले सो जाना। तीसरे पहर फिर उठकर हुक्के के दम और फरागत और फिर कपड़े डाटकर सैर। बस, यहाँ पर नास्तिकपन की दलीलों से आवारा लड़कों को फाँसने का समय आता था। यही काचूकटिये के दफ्तर वा समाज वा सत्सग वा कर्तव्यपालन का समय समझ लो। इस समय किसी-किसी काचूकटिये के हाथ में काला नाव का-सा खप्पर उसकी शान को दोबाला करता और किसी-किसी के शिर पर वही शोभायमान होकर, उसके अविश्वास की मुस्कराहट के साथ मिल, पूरा पश्चिमीय प्रसिद्ध कवि मिल्टन के चरित्रनायक की झलक दिखलाता था। रात को फिर भोजन, हुक्का और अपने नाप की चारपाई और इस दृश्य पर यवनिका गिर जाती है।

स्वाध्याय का अभ्यास

पण्डित गुरुदत्त के थोड़े-से ही सत्संग ने मेरी काया पलट दी। मुझे जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव की समाप्ति के दूसरे दिन से ही स्वाध्याय का अभ्यास हो गया। पं० गुरुदत्त की यह साक्षी मेरे लिए बहुत उत्तेजक हुई कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों की प्रत्येक नयी आवृत्ति पर नये भाव विदित होते हैं। जालन्धर आर्य-समाज में भी जीवन पड़ने लगा और उसके सब कार्य नियमपूर्वक होने लगे। संवत् १९४४ के आरम्भ में वर्तमान जालन्धर आर्यसमाज मन्दिर की भूमि में ही एक कनाल[1] के लगभग स्थान मिल गया था। उसी में दो कच्चे कोठे बनाकर कच्ची ईंटों का बड़ा आँगन घेर लिया गया और इस प्रकार उन पौराणिकों के विरोध से छुटकारा मिला जो सदैव किराये के मकानों के मालिकों को हमें निकाल देने के लिए भड़काया करते थे।

वकालत और सचाई का मेल दुस्तर

मेरी मुखतारी का काम इस वर्ष के आरम्भ में खूब चमका। उस समय जालन्धर में फौजदारी के प्रसिद्ध धड़ल्लेदार वकील बूढ़े बीची साहब थे। उनकी भी आस-पास धूम मची हुई। सब अभियुक्त उन्हीं की प्रायः सहायता चाहा करते थे। वे रंगीले, चार्वाक के चेले थे इसलिए फ़ौजदारी करनेवाली जाट अदि जातियों में यह प्रसिद्ध था कि जो दुनिया के सब भागों में निःशृंखल नहीं है वह फ़ौजदारी का अच्छा वकील नहीं हो सकता। मैं मद्य-मांस का विरोधी होने से फ़ौजदारी के कमरे से बहुधा वंचित रहता था। अकस्मात् मुझपर विश्वास रखनेवाले एक जाट सर्दार ने मुझे एक मुकद्दमे में अभियुक्त की ओर से भुगताया। मिस्टर बीची ने मुझे उस मुकद्दमे में पैरवी करते देखा। उनको मेरा काम पसन्द आया और कुछ दिनों

१. लगभग १८५ मीटर।

पश्चात् अपने बड़े मुकद्दमों में सहायता के लिए उन्होंने मुझे अपने साथ रखवाया। बस फिर क्या था, धूम मच गयी और मुखतारी में ही मेरी आमदनी बहुत-से वकीलों से भी बढ़ गयी, क्योंकि मेरे पास दीवानी का भी काम काफ़ी आता था।

किन्तु यह सारी कमाई हुई प्रसिद्धि कुछ महीनों के पश्चात् ही अप्रतिष्ठा में बदल गयी। इसका कारण यह था कि मेरे पास मुंशी एक मुकद्दमा लाया। बही-हिसाब से १००० रुपये का साधारण दावा करना था। मैंने वही देखी तो १००० रुपये की बाकी पर टिकट न था, इसलिए कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलने का एक और सीधा ढंग था, वह भी साहूकार महाशय को बतला दिया। उस समय तो साहूकार महाशय चले गये किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकी पर अपनी ओर से टिकट लगाकर अर्जीदावा लिखा दायर करवा दिया। पहली पेशी के दिन मेरे मुंशी से मिलकर मुखतारनामे पर हस्ताक्षर करा लिये।

इन हस्ताक्षरों की कहानी भी बड़ी मनोरंजक है। यदि प्रातःकाल ही मुझसे हस्ताक्षर माँगे जाते तो मैं बही को देखना चाहता, इसलिए जब मैं कचहरी के लिए बग्घी में चढ़ने लगा तो मुंशी जी ने मुखतारनामा पेश किया। मैंने पूछा कि वही आदि देखनी चाहिए। मुंशी साहब बोले—"हजूर! मामूली बही-हिसाब पर १००० रुपये का दावा है। ५० रुपये फ़ीस देता है, २५ रुपये वसूल हो चुके हैं, सिर्फ एक पेशी का काम है।" हजूर इसपर क्यों चूँ-चिरा करने लगे थे! जिस मुकद्दमे में २० रुपये की आशा हो उसमें ५० रुपये मिलें तो सिवाय इसके और क्या हो सकता था कि मुखतार साहब रासों को हिलाकर बड़ी कचहरी की राह लेते।

बड़ी कचहरी से काम करके मुंसिफी में लौटा तो उसी मुकद्दमे के लिए मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। मुंसिफ अछरूराम साहब मेरे बड़े कृपालु थे। जवाब-दावा मेरे हाथ में देकर कहा कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर दूँ। मुद्दालेह का जवाब-दावा पढ़कर मुझे सन्देह हुआ। मैंने अपने मुवक्किल मुद्दई के मुँह की ओर देखा और बही का हिसाब निकाला। बस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहब की सब कारस्तानी है। मैंने मुंसिफ साहब से कह दिया कि मुकद्दमे में ज़ालसाजी होने के कारण मैं उसमें पैरवी नहीं करूँगा और मुंशी को आज्ञा दी कि २५ रुपये प्राप्त किये हुए वापस कर दे। मुंसिफ साहब ने अंग्रेजी में बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उलटे प्रकार की हो जाएगी और मेरी आर्थिक दशा को हानि पहुँचेगी, किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया।

मेरी इस (सर्वसाधारण की दृष्टि में) निर्बुद्धिता का असर दूसरे दिन ही प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। जो मुकद्दमेवाला मेरे पास आने को तैयार होता, अन्य वकीलों-मुखतारों के मुंशी उसे यह कहकर विचलाते—"अबे! अपने मुवक्किलों का गला घुटवाने के लिए सब फ़न-फ़रेब खेलने को तैयार हो।" मुझे धोखा देनेवाला मुंशी दूसरे ही दिन चलता कर दिया गया। मेरे पास केवल काशीराम आर्यसमाजी ही रह

गये थे। दूसरे मुंशी की आवश्यकता न रही, क्योंकि काम ही कम हो गया। उधर काशीराम भी मेरी नौकरी छोड़ने को तैयार हो गये। वेतन मैं उन्हें १० रुपये मासिक देता था, किन्तु प्रति मुकद्दमा एक वा दो रुपये ऊपर से लेने पर उनकी आमदनी ३५ रुपये वा ४० रुपये तक पहुँच जाती थी। अब भूखों मरने लगे तो आर्यत्व का पक्ष कहाँ तक करते ! मैंने मासिक १५ रुपये करके उनका कुछ सन्तोष किया किन्तु मेरी आमदनी ५०० पये से उतरकर १५० के लगभग ही रह गयी।

किन्तु **"सब दिन रहत न एक समान"**—दो मास में ही मेरी करतूत को सब भूल गये। मैदान में नयी खेती बोते हुए मेरी आमदनी फिर बढ़ने लगी।

वकालत की परीक्षा में रिश्वत

मार्गशीर्ष संवत् १९४३ के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर सन् १८८६ ई० के आरम्भ) में मैंने वकालत की परीक्षा दी थी और परिणाम महीनों तक रुका रहा। इसका कारण यह था कि पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार मिस्टर लार्पेण्ट ने इस वर्ष दोनों हाथों से लूटना शुरू कर दिया था। गतवर्ष तो अभी साहब बहादुर नव-शिक्षित थे इसलिए कोई इक्का-दुक्का ही उनके काबू चढ़ा; इस वर्ष वे किसी को सूखा छोड़ना नहीं चाहते थे। वकालत में पास होने के लिए १५०० रुपये प्रति याचक की खुली शरह थी। साहब बहादुर ने दलाल वा एजेण्ट भी रख छोड़ा था जिसका नाम गण्डासिंह था। २०० रुपये भाई गण्डासिंह की भेंट होते ही १३०० रु० अंग्रेज देवता की पूजा में स्वीकार हो जाता और वकालतरूपी स्वर्ग-प्राप्ति की अदृश्य हुण्डी उसी दम मिल जाती। मुखतारी के प्रार्थियों से शायद १००० रुपये, बी० ए०, एम० ए० से कुछ कम लिया जाता था। कोई-कोई एफ० ए० भी लार्पेण्ट-गर्दी के चक्कर पर चढ़ने से न बच सके। कोई-कोई तो अक़्ल के ऐसे पुतले निकले कि पास होने तक ही शान्त न हुए प्रत्युत पहले-दूसरे होने की ठान ली। वकालत में पहले होनेवाले के लिए ३५०० और दूसरे होनेवाले के लिए २५०० रुपये। यह चढ़ावा केवल उन्हीं को नहीं चढ़ाना पड़ा जो सचमुच अनुत्तीर्ण थे, बल्कि जो पास थे उनके भी घर पहुँच-पहुँचकर साहब के दूत ने उनकी जेबें भी खाली कीं। यह रोग यहाँ तक बढ़ा कि मेरे कुछ मित्रों ने मुझे पत्र लिखकर लाहौर बुलाया, क्योंकि गण्डासिंह मुझे ढूँढता और कहता फिरता था कि यद्यपि मैं पास हूँ, तो भी बिना १००० रुपये दिये मुझे भी प्रमाणपत्र से वंचित रहना पड़ेगा। मैं यह दृढ़ संकल्प करके लाहौर पहुँचा कि इस अनाचार का भण्डा फोड़कर रहूँगा, किन्तु मेरे पहुँचने से पहले ही हिसार के प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणि ने गण्डासिंह की खूब खबर लेकर सर विलियम रैटिंगन (उस समय के वाइस चांसलर) के यहाँ दुहाई जा मचायी। वाइस चांसलर ने उसी समय सायंकाल को परिणाम की सारी फाइल सँभाल ली। लाला चूड़ामणि भाग्यशाली थे कि पहल उनकी ओर से हुई। विश्व-

विद्यालय सभा ने अकेले लाला चूड़ामणि को पास करके बाकी सबको फेल कर दिया, और मैं भी बलवे की भीड़ में निरपराध बालक की तरह गोली का शिकार हो गया।

लार्पेण्ट साहब पर फिर अभियोग चला। आन्दोलन समिति के सामने विचित्र साक्षियाँ भुगतीं। जो-जो महाशय नतीजा जब्ज होने की खबर सुनते ही लार्पेण्ट की कोठी पर पहुँचकर उसे धमकाने लगे उनका तो तेरह-तेरह सौ रुपया जुदी-जुदी पोटली में बँधा-बँधाया मिल गया, किन्तु जब दिन चढ़ने पर झण्डे तले के गण्डासिंह ने पहुँचकर घबराए हुए साहब बहादुर को तसल्ली दी तो साहब ने अपनी दुष्टता से कमाये धन का बड़ा भाग मुकद्दमा लड़ने और जीवन का शेष भाग सुख से व्यतीत करने के विचार से बचा लिया। लार्पेण्ट को तो अपने किये का कुछ दण्ड मिला ही, किन्तु मुझ समेत बहुत-से निरपराधियों को भी उसके कामों का फल भुगतना पड़ा। इसमें भी परमात्मा को मेरी कुछ भलाई मंजूर थी, क्योंकि इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण होते ही मेरी रुचि कानून से हटकर 'धर्मान्दोलन' की ओर अधिक झुक गयी। एक ओर तो अपने पेशे में सचाई से काम लेने का परिणाम यह हुआ कि ५०० रुपये से १५० रुपये की आमदनी रह गयी और दूसरी ओर इतने परिश्रम का फल यह वज्रपात! ऐसे निराशाजनक समय में जालन्धर धर्मसभा में पण्डित दीनदयालु जी का पौराणिक मतपोषक के रूप में आना और व्याख्यान देना मेरे लिए नयी आशाओं का केन्द्र सिद्ध हुआ। जब पण्डित दीनदयालु जी ने जालन्धर धर्मसभा की ओर से नौहरियों के ठाकुरद्वारे के आँगन में आर्यसमाज के मन्तव्यों का खण्डन आरम्भ किया, उस समय मैं अपने जन्म-स्थान तलवन में था। संवत् १९४४ का शायद ज्येष्ठ मास था। मेरे पास आदमी पत्र लेकर गया जिसमें लिखा था कि आर्यसभासदों को नगर में मुँह दिखाना कठिन हो रहा है। पण्डित दीनदयालु जी की दूसरे पक्ष को उलटे रूप में दिखाने और उपहास से उड़ाने की शक्ति उस समय पूरे यौवन पर थी। मैं पत्र देखते ही चल दिया और १२ बजे अपने मकान पर मैंने मुंशी काशीराम से सारा वृत्तान्त सुना। उन्हीं दिनों लाला तेलूराम राहों-निवासी के गुणों का मुझे पता लगा। इन्होंने पण्डित दीनदयालु जी के व्याख्यानों के शब्द तक नोट कर रखे थे। शहरी सभासदों ने समाज के बाहर धनाढ्यों की बड़ी शिकायत की जिन्होंने ऐसे में सहायता न दी। सारे शहर में प्रसिद्ध था कि आर्यों को चुल्लू-भर पानी डूब मरने को नहीं मिलता, बेचारों के पास कोई उत्तर नहीं।

मैंने भोजन पीछे किया, सबसे पहले पण्डित दीनदयालु जी के नाम शास्त्रार्थ का चैलेंज लिखकर मुंशी काशीराम के द्वारा भेज दिया और साथ ही अपने पत्र की नक़ल उक्त पण्डित जी के हस्ताक्षरों के लिए भेज दी। पण्डित जी ने टालने का बहुत प्रयत्न किया। काशीराम भी एक मार्के का आदमी था। उसने पण्डित जी के हस्ताक्षर लेकर ही उन्हें छोड़ा। इतने पर भी सारे शहर में चर्चा फैल गयी। अभी

शास्त्रार्थ हुआ नहीं और सर्वसाधारण को आर्यों में जानें दीखने लगीं। फिर चार घण्टों के अन्दर ही दूसरे दिन के मेरे व्याख्यान के सैकड़ों हस्तलिखित विज्ञापन लग गये और साढ़े पाँच बजे अपने बहुत-से आर्यभाइयों को, जो कई दिनों से मुँह छिपाये फिरते थे, साथ लेकर मैं व्याख्यान-मण्डप में जा पहुँचा। मेरे पहुँचते ही धर्मसभा के प्रधान श्री लाला हरभजराय जी बहुत सभ्योंसहित उठ खड़े हुए। व्याख्याता महाशय ने समझा कोई प्रतिष्ठित सनातनधर्मी आये हैं। सबके बैठ जाने पर उन्होंने फिर से एक पत्र की व्याख्या आरम्भ की, जो उनके हाथ में था। जिस पत्र की व्याख्या वर्तमान व्याख्यानवाचस्पति श्री पण्डित दीनदयालु जी कर रहे थे वह मेरा ही भेजा हुआ था। पण्डित जी ने पत्र-लेखक पर एक हँसी की बौछाड़ करके कुछ भाग छोड़कर पढ़ना चाहा जिससे लेख की श्रृंखला टूटती थी और पण्डित जी के पूर्वकथन का खण्डन होता था। मैंने निवेदन किया कि बीच में कुछ और भी है वह भाग भी पढ़ दिया जाए। मेरा इतना कहना था कि खलबली मच गयी। लाला हरभजराय जी (प्रधान धर्मसभा) ने उठकर पण्डित जी के कान में कुछ कहा। पण्डित जी कुछ सँभले—और बलिहारी है उनकी योग्यता की कि मेरी एक घण्टे की उपस्थिति में उनको सिवाय वैराग्य के और कोई विषय ही न सूझा।

पण्डित जी के व्याख्यान की समाप्ति पर एक आर्यसभासद् ने ऊँचे स्वर से कह दिया कि दूसरे दिन से पण्डित दीनदयालु जी के व्याख्यानों का उत्तर आर्यसमाज-मन्दिर में दिया जाएगा। जिस प्रकार हमारे प्रधान यहाँ आये हैं, उसी प्रकार उन्हें भी पधारकर सुनना चाहिए। जोशीले सनातनियों ने शोर मचा दिया—"हमारी सभा में क्यों बोल रहे हो? अपने यहाँ बोलो!" इत्यादि। इसपर उत्तर मिला—"हमने सूचना दी है, सुनने का हौसला न हो तो मत आना।" सर्वसाधारण खिल-खिलाकर हँस पड़े और सभा विसर्जित हुई। सारे नगर में ढोल पिट गया—"ये आर्य बड़े जबर्दस्त हैं, दूसरे के घर पहुँचकर खबर ले-डालते हैं!"

भला कोई पूछे कि पहले क्या हुआ था और अब क्या हो गया? किन्तु दुनिया भेड़िया-धसान है, जिधर एक भेड़ चल पड़े उसी के पीछे शेष भेड़ें भी चल पड़ती हैं और सचाई को कोई पूछता नहीं जब तक उसके फैलाने का प्रयत्न न किया जाय।

दूसरे दिन आर्यसमाज-मन्दिर में सहस्रों की उपस्थिति थी। कुछ नगर के सभ्य पण्डित दीनदयालु जी को लाने को गये, किन्तु डेरे पर जाकर उन्हें पता लगा कि पण्डित जी छावनी चले गए हैं। मैंने उस दिन का व्याख्यान समाप्त करके कह दिया कि यदि पण्डित जी दूसरे दिन आयें तो उनके साथ धार्मिक विषयों पर विचार होगा, नहीं तो एक अनोखा व्याख्यान होगा। पण्डित जी की ओर से तो कोरा जवाब आया परन्तु आर्यसमाज की ओर से विज्ञापन लग गये जिनमें व्याख्यान का विषय रखा गया—'चाऊ-चाऊ का मुरब्बा'। इस विचित्र शीर्षक को देखकर सर्व-

साधारण ऐसे उत्सुक हुए कि समाजमन्दिर की छत और दीवारें तक मनुष्यों से भर गयीं। पण्डित जी के व्याख्यान क्रमबद्ध किसी विषय पर नहीं थे, इसलिए उनका नाम यही रखकर उनके उत्तर दिए गये।

उस समय पण्डित दीनदयालु जी बिना कोई भेंट लिये और बिना व्याख्यान दिये ही विदा हो गये। आर्यसमाज कुछ भी घाटे में न रहा, क्योंकि उसे इस समय ३० के लग-भग नये सभासद् मिले। किन्तु सबसे बढ़कर लाभ मुझे हुआ। 'चाऊ-चाऊ के मुरब्बे' का मज़ा सर्वसाधारण को चखाने के दूसरे दिन ही, एक सर्दार मुझे एक बड़े मुकद्दमे में १००० रुपये फीस पर नियत करके ५०० रुपये नकद दे गये। मुझे आश्चर्य हुआ कि दूसरी ओर जालन्धर के सबसे बड़े दो वकीलों के होते हुए इस भोले सर्दार ने मुझ मुखतार की क्यों शरण ली, किन्तु यह आश्चर्य मेरे मुंशी के ठीक कहानी सुनाने पर दूसरे आश्चर्य में परिवर्तित हो गया। सर्दार साहब वकीलों को देखभाल कर वकील करना चाहते थे। कचहरी में जाकर सब वकीलों की वक्तृताएँ सुनीं। अभी कुछ निश्चय नहीं किया था कि आर्यसमाज-मन्दिर में मेरा व्याख्यान सुनने पहुँच गये। मेरी वक्तृता पर वह लट्टू हो गये और दूसरे दिन ही मुझे जा सँभाला। कानून और मत-सम्बन्धी विचार का कुछ सम्बन्ध न था और सर्वसाधारण को रिझानेवाले न्यायालयों में सदा कृतकार्य भी नहीं हुआ करते, किन्तु सर्दार साहब बाल की खाल उतारनेवाले दार्शनिक न थे। संसार के इतिहास की तह में भी विचित्र घटनाएँ काम करती हैं, यदि सारे इतिहास की तह को देखनेवाला कोई त्रिकालज्ञ मिल जावे तो शायद वर्तमान समय के सारे ऐतिहासिक भण्डार को जलाकर, संसार के सब छापेखानों को दिन-रात चला एक नया ऐतिहासिक पुस्त-कालय ही स्थापन करना पड़े।

आमदनी बढ़ने का पुनः आरम्भ होते ही पण्डित गुरुदत्त के सत्संग का प्रभाव फिर दूर होने लगा। हाँ, सामाजिक संशोधन की ओर ध्यान अधिक खिंचा। मेरी धर्मपत्नी कुछ थोड़ा लिख-पढ़ सकती थी, उनको पढ़ाने तथा पर्दे आदि की कुरीतियों से निकालने का प्रयत्न मैंने आरम्भ कर दिया। इस समय मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी की आयु ७ वर्ष की और उससे छोटी अमृतकला की (जिसका नाम उस समय हेमन्तकुमारी) अनुमान से ४ वर्ष की थी।

बम्बई की पहली यात्रा

विक्रमीय संवत् १९४४ की ग्रीष्म में मेरी धर्मपत्नी ने अपने धर्मग्रन्थों के पाठ के अतिरिक्त मेरे अन्य विचारों में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया था और अपनी बड़ी पुत्री को स्वयं शिक्षा देना शुरू कर दिया था। झूठे पर्दे के बन्धन भी उन्होंने तोड़ दिये थे और बच्चों सहित मेरे साथ भ्रमण के लिए भी जाया करती थीं। वह समय था जब मेरी धर्मपत्नी के भ्राता भक्तराम की इंगलैण्ड-यात्रा की तैयारी होने

लगी। रायज़ादा भक्तराम बैरिस्टर आज बड़े आदमी हैं और उनकी योग्यता का सिक्का पंजाब के सारे न्यायालयों पर बैठा हुआ है, किन्तु मुझे यह कहने का अभिमान है कि वे मेरे शिष्य रह चुके हैं। मास्टर 'मटरूमल' के बीसों शागिर्द डिप्टी, वकील और जज बन जाते हैं और मास्टर जी एक इंच ऊपर नहीं उठते, फिर भी वे सबके उस्ताद ही कहाते हैं। भक्तराम जी से तो मेरा सम्बन्ध होने के अतिरिक्त प्रेम भी असीम था। मैं कह सकता हूँ कि उस समय इनसे बढ़कर मेरा प्यारा मित्र शायद ही कोई और हो। आजकल के आर्यसमाजियों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि रायज़ादा भक्तराम उस समय जालन्धर आर्यसमाज के अग्रणी चालकों में एक थे और उनकी श्रद्धा वैदिक धर्म पर ऐसी दृढ़ थी कि जब विदेश को विदा करते हुए जालन्धर आर्यसमाज के एक अधिवेशन में उन्हें 'पंचमहायज्ञविधि' आदि पुस्तकें भेंट देकर प्रधान ने अन्तिम शब्द कहे तो भक्तराम जी का उत्तर उपस्थित सज्जनों की आँखों में प्रेम के आँसू भर लाया।

भक्तराम जी को बम्बई से जहाज पर चढ़ाने उनके भाई बालकराम और मैं गये थे। उन्हीं दिनों कपूरथला के स्वर्गवासी दीवान मथुरादास जी के पुत्र दौलतराम जी जानेवाले थे। इनके अतिरिक्त मुकुन्दलाल और जगमोहनलाल जी हमारे मित्रों के ही पुत्र थे, जो दिल्ली से मिल गए। वह समय कभी भूलता नहीं जब शायद भाद्रपद के मध्य (अगस्त के अन्त) बादलों से घिरे आकाश की भीषण शोभा देखते हुए सब जालन्धर शहर रेलवे स्टेशन से चले। दीवान रामजस जी तथा राय शालिग्राम सैकड़ों रईसों सहित छोड़ने आये थे। दीवान रामजस जी की सरलता और अपनी धृष्टता का मुझे अबतक स्मरण है। अपने पौत्र दौलतराम के लिए सदाचार को स्थिर रखने का उपदेश देते हुए श्री दीवान जी ने कहा, "हाथ-पैर धोने को मिट्टी अवश्य जहाज में रख लेना!" मैंने कहा कि दो गदहे मिट्टी के जहाज में डलवा दूंगा। अस्तु।

प्रातः दिल्ली पहुँचे और वहाँ नाना प्रकार की मिठाइयों तथा फलादि सहित हम पाँचों ने दो कमरे सेकण्ड क्लास के रोक लिये और आनन्दपूर्वक बातचीत करते और ताश-शतरंज खेलते तीसरे दिन बम्बई पहुँचे। बम्बई में बहुत-से नये दृश्यों, बहुत-से नये मिलापों और बहुत-सी नयी घटनाओं में से गुजरना पड़ा, जिन्होंने मुझे विशेष शिक्षा दी। हम सब दीवान मथुरादास जी के पास रिटायर्ड जज महाशय कर्सेट जी (खुर्शेद जी) मानिक जी के यहाँ उतरे। ये महाशय आठ बार सारे भूमण्डल की यात्रा कर चुके थे और बड़े देशभक्त तथा जातिसेवक थे। ७५ वर्ष की आयु में आँखों की ज्योति कुछ कम हो जाने पर भी कभी उदास नहीं होते थे। मैंने उनका मुख सदा हँसता और माथा खुला देखा। प्रातःकाल 'आसा' और सायंकाल 'कल्याण' आलापते इस बूढ़े को सुनकर मुझपर जादू का असर होता और फिर आत्म-त्याग कितना! अपनी जन्मभर की कमाई की सारी बचत से एक कोठी

बनाई थी, उसे एक लाख रुपये में बेचकर रुपया तो 'पारसी कन्या विद्यालय' के अर्पण कर दिया और स्वयं उसी मकान के नये मालिक के किरायेदार बनकर रहने लगे। इन्हीं जज मानिक जी की पुत्री मिस मानिक जी उक्त पुत्री पाठशाला की सेवा के लिए मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहीं। उस समय मिस मानिक की आयु ५० के लगभग थी, जब मानिक ने मुझे अपनी प्राचीन रागविद्या से पुनः प्रेम कराया।

इसी बार पहले-पहल मैंने महाशय छबीलदास लल्लूभाई के दर्शन किये जो महर्षि दयानन्द जी के अनन्य भक्त थे और जिन्होंने ऋषि की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपनी ही भतीजी[1] का विवाह निर्धन श्यामजीकृष्ण वर्मा के साथ कर दिया था। उस देवी के भी मैंने उन्हीं के रमणीक भवन में दर्शन किए थे जो समुद्र के किनारे पर मनोहर छवि दिखा रहा था। बम्बई-समाज के पुराने मन्त्री और ऋषि दयानन्द के विश्वासपात्र भक्त महाशय सेवकलाल कृष्णदास से भी वहीं भेंट हुई थी। आर्यसमाज मन्दिर का उन दिनों केवल चबूतरा ही बना हुआ था जिसपर मैंने व्याख्यान भी दिया था। बम्बई में घूँघट के अभाव के कारण स्त्री-पुरुषों का शुद्ध व्यवहार और पारसियों की साड़ी का उत्तम पहराव देखकर मैं और बालकराम जी घर की स्त्रियों के लिए साड़ियाँ खरीद लाये थे और उनका रिवाज चलाया था।

अग्निबोट में बैठ हम सभी अपने भाई भक्तराम को जहाज में छोड़ने गये। भक्तराम की आँखें दुःखती थीं, तिसपर बिछोड़े का रोना! बालकराम जी भी भर आए। किनारे पर आकर खड़े हुए तो जहाज लंगर उठाकर चल दिया। जबतक भक्तराम का रूमाल हिलता रहा तबतक टकटकी लगाये खड़े रहे; जब जहाज आँखों से ओझल हुआ उसी समय हम दोनों भी उदासीन डेरे को लौट आये।

एक बात लिखना मैं भूल गया। कुछ पारसी महाशयों ने हमारे विलायत जाने-वाले को सहभोज दिया था। उस समय की एक घटना मुझे स्मरण है। भोजन के पश्चात् हमारे मेज़बान के युवक पुत्र ने बैंजो बजाना आरम्भ किया और उनकी धर्मपत्नी एक अंग्रेजी गीत गाने लगी। मैंने प्रार्थना की कि कोई स्वदेशी गीत गाया जाए। इसपर गुजराती कहरवा छिड़ गया। मैंने फिर कहा कि मेरा मतलब पारसी गीत से था, क्योंकि पारसियों की भाषा पारसी होनी चाहिए। इसपर हमारे मेज़बान ने हँसकर उत्तर दिया—"हम सताये हुओं को जिस भूमि ने अपनाया हमारा वही देश है। हम हिन्दू हैं और इस स्थान की मातृभाषा गुजराती है।" इस पुरानी कहानी से सिद्ध होता है कि दादा भाई नौरोजी और अन्य पारसी महानुभावों के अन्दर देशभक्ति का अंकुर कुछ नया नहीं था, इसकी बुनियाद शायद भारतवर्ष में पारसियों के आने की तिथि से पड़ चुकी की।

ऊपर वर्णित सहभोज में बहुत-से पारसी बच्चे हमारे परिचित हो गये थे।

१. वस्तुतः पुत्री, जिसका नाम भानुमति था। --सम्पादक

अपने भाई को छोड़कर लौटने पर बालकराम के आँसू बन्द नहीं होते थे। अपने कमरे में पहुँचकर वह फूट-फूटकर रोने लगे और मैंने गले में हाथ डालकर उन्हें धैर्य देना आरम्भ किया। यह दृश्य था जब कुछ पारसी बच्चे कूदते-फाँदते हुए मेरी ओर आये। उनके लिए विलायत जानेवाले के वियोग में रोना एक हास्यजनक दृश्य था। सब बच्चे खिलखिलाकर हँसने लगे। बालकराम जी ने झेंपकर आँसू पोंछे और मुस्कराने लगे। बच्चों ने बड़ी मौज की। जो बड़ा आवे उसे कहें—"देखो स्त्रियों की तरह रोते हैं!" बालकराम जी को शायद देर तक होश न आता यदि बच्चों की हँसी का 'छूमन्तर' शोक के जादूगर को चकनाचूर न कर देता।

भक्तराम को विदेश विदा करने के पश्चात् हम तीन दिन बम्बई और ठहरे। इन तीन दिनों के लिए बूढ़े जज मानिक जी ने अपनी फिटन गाड़ी हमारे हवाले कर दी और प्रत्येक देखने के योग्य स्थान के लिए पास मँगा दिये। उन दिनों एक जंगी स्टीमर (धुआँकश जहाज) भी बम्बई के बन्दरगाह पर आया हुआ था। उस-पर बूढ़े नौरोजी हमें स्वयं ले-गये। जहाज का कप्तान उनका मित्र था। हमारे बम्बई छोड़ने से पहले दिन आर्यसमाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान हुआ। शायद मैंने ईश्वरोपासना विषय में कुछ कहा था, क्योंकि मुझे स्मरण है कि बम्बई आर्यसमाज के एक पुरजोश सभासद् ने बाहर आकर कहा—"क्या आप जानते हैं कि बम्बई वालों का ईश्वर कौन है? चाँदीवाली जो मूर्ति है, वही इनका इष्टदेव है।" जब वे महाशय चले गये तो लोगों ने मुझे बतलाया कि उक्त महाशय मूर्तिपूजा का खण्डन तो बड़ी प्रबल युक्तियों से करते हैं परन्तु घर पर ठाकुर जी का सिंहासन रक्खा हुआ है।

एक बात मुझे बम्बई के सम्बन्ध में और याद है। जब मैं घर लौटने के लिए रेलवे स्टेशन पर पहुँचा तो वहाँ एक पारसी महाशय पहले से मौजूद थे। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे हार पहनाया और कुछ केले भेंट किए। मैं कुछ विस्मित-सा हुआ तो उन्होंने कहा—"महाशय! आप विस्मित क्यों होते हैं? मैं स्वामी दयानन्द का मतानुयायी तो नहीं हूँ पर उनकी 'गोकरुणानिधि' का भक्त हूँ। आर्यसमाज स्वामी जी के जिस उपदेश को भूला हुआ है, उसका मैं अनुकरण कर रहा हूँ।" यह कहकर उन्होंने गोरक्षा विषय के अपने ट्रैक्ट और अपीलें दीं और बतलाया कि वे गवर्नमेंट से गोहत्या हटाने के लिए निवेदन करना चाहते हैं। मेरे पास अब वह विज्ञापन नहीं है इसलिए कह नहीं सकता कि वह महाशय इस समय के प्रसिद्ध गोभक्त श्रीमान् जस्साँवाला ही थे वा कोई अन्य सज्जन।

जालन्धर लौटकर मैंने पहले की अपेक्षा अधिक नियमानुकूल काम करना आरम्भ किया।

एक उदार डिप्टी कमिश्नर

वकालत की परीक्षा अभी सिर पर काल की तरह खड़ी थी। प्रातःकाल खूब भ्रमण करके लौटता और फिर कानून की पुस्तकों के पीछे लग जाता। मैं प्रायः छावनी की सड़क पर घूमने जाता था, जहाँ एक दिन मुझे सामयिक डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोर्ट साहब मिल गये। वे भी भ्रमण करने जाया करते थे। नित्य मेरा और उनका साथ होने लगा। धर्म-विषय पर बहुत बातचीत होने लगी, क्योंकि कर्नल साहब स्वतन्त्र विचारवाले आस्तिक थे। एक दिन बातचीत में उन्हें मालूम हुआ कि मैं आर्यसमाजी हूँ। यह सुनते ही कर्नल हार्कोर्ट खड़े हो गये और बोले—"आप और आर्यसमाजी! आप तो बड़े धार्मिक आदमी हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।" मैंने उत्तर दिया कि मैं केवल आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्य-समाज का प्रधान भी हूँ। तब साहब बोले—"परन्तु लाहौर आर्यसमाज तो एक पोलिटिकल संस्था है, जालन्धर आर्यसमाज चाहे न हो।" तब मैंने कर्नल साहब को आर्यसमाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि हम लोग आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष बनाना चाहते हैं; इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इसपर साहब बड़े उदार भाव से बोले—"फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।"[1] उन्होंने कहा कि यदि भारत-निवासी हमसे अधिक श्रेष्ठ मनुष्य बन जायँ तो फिर हमें स्वयं बोरिया-बन्धना उठाकर चल देना पड़ेगा।

उपर्युक्त घटना से पता लगता है कि उस समय भी हमारे गोरे हाकिम आर्य-समाज को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

यह सन्देह कैसे फैला?

आर्यसमाज के विषय में पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। इस विषय में लाहौर के पुराने अंग्रेजी के मासिक पत्र 'आर्य' में भी ईसाई पादरियों के ऐसे अनुचित लेखों का वर्णन है। इस समय जो कुछेक ईसाई पादरियों का उदार बर्ताव आर्य-समाज के साथ है उसे देखकर भी जो ईर्ष्या की अग्नि साधारण पादरियों के दिलों में धधक उठती है उससे मेरे इस विचार को पुष्टि मिलती है कि गरीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी मिलने लगी, तब वे ओछी करतूतों पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को यह विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्नमेण्ट को है।

ईसाई पादरियों के डाले हुए इस सन्देह को आर्यसमाज के प्रारम्भिक नेताओं

१. Then, there will be no justification for us to stay here.

के व्यवहार से भी कुछ पुष्टि मिलती रही। मुझे भली प्रकार स्मरण है और इसका संक्षिप्त वर्णन मेरी उस समय की डायरी में भी है कि संवत् १९४५ में जालन्धर आर्यसमाज के एक माननीय सभासद् (जो लाहौर के लीडरों के सत्संग में दो वर्ष तक रह चुके थे) के साथ मेरा इस विषय पर विवाद हुआ था कि लाहौरी लीडर साधारण बातों के लिए भी गुप्त कमेटियाँ करके, बिना प्रयोजन, दूसरों के सन्देह के शिकार बनते हैं। एक और भी कारण इस सन्देह का उत्पन्न करनेवाला था। भाई जवाहिरसिंह (जो खालसा कॉलिज कमेटी के महामन्त्री बने थे) उस समय आर्य-समाज लाहौर के मन्त्री थे, उनकी रुचि अधिकतः राजनैतिक बातों की ओर थी, जैसा कि उनके शाहपुरा जाने के समय के पत्रव्यवहार से सिद्ध होता है। (देखो ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार, पृष्ठ १६, १७ तथा १२०)[1] जब जवाहिरसिंह जी आर्यसमाज से अलग हुए और कुछ समय के पश्चात् खालसा कॉलिज के मन्त्री बने तब इन्होंने आर्यसमाज के साथ बहुत विरोध किया और शायद अपनी पहली करतूत को धोने के लिए पोलिटिकल होने का दोष आर्यसमाज के गले मढ़ दिया।

वकालत की अन्तिम परीक्षा

वकालत की परीक्षा संवत् १९४४ के मार्गशीर्ष-पौष (दिसम्बर सन् १८८७) में होनी चाहिए थी। मैंने अपने काम के साथ-साथ उसकी तैयारी भी शुरू कर दी, और जब लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव समीप आया तो मैं परीक्षा की तैयारी करके सब पुस्तकादि सामान साथ ले लाहौर को चल दिया। २६ और २७ नवम्बर उत्सव के लिए नियत तिथियाँ थीं। २७ नवम्बर आदित्यवार को प्रातः १० बजे मेरे बड़े पुत्र हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। उस समय मैं आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में बैठा हुआ पण्डित गुरुदत्त का वह अपूर्व व्याख्यान सुन रहा था जिसने वैदिक धर्म के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दलों में खलबली डाल दी थी। तीन सहस्र से अधिक जनसंख्या और सन्नाटा ऐसा कि सुई गिरने का शब्द भी सुनायी दे। छोटा-सा शरीर किन्तु मुख पर कान्ति और सूर्य के तेज की शोभा; गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि निकलती है **"इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्"** —इत्यादि। बराबर चार मन्त्रों का ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ३२ में से पाठ होता है। फिर एक-एक शब्द का सरल, जनसाधारण के समझने योग्य अर्थ होता है। (इन्द्र) सूर्य कैसे (वृत्र) बादल को उठाता है, वह कैसे सूर्य को छिपा लेता है और फिर इन्द्र का वृत्र के साथ कैसे युद्ध होता है और फिर इन्द्र अपने वज्र से कैसे वृत्र को मार गिराता है। यह दृश्य खींचकर ऋषि दयानन्द के जीवन का चित्र श्रोतागण के सामने लाया जाता है। ऋषि की शक्तियों का वर्णन करके उनके महान् आत्म-

१. यह पृष्ठ-संख्या म० मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' की है जो १९१० ई० में छपा था।

त्याग की घटना का चित्र जब वक्ता खींचता है तो सैंकड़ों आँखों से आँसुओं का तार बँध जाता है। मुझे सुधि न रही कि मैं पृथ्वी पर हूँ। वक्ता के शब्द कानों को सुनायी देने बन्द हो जाते हैं। आँखें पोंछकर देखता हूँ तो रुपयों की वर्षा हो रही है। दरवाजे पर एक ग्रामीण अधेड़ जंगी जवान दान की प्रेरणा कर रहे हैं। हैं तो सिविल के नौकर किन्तु दिखते जंगी ज़वान ही हैं। ये भाई निहालसिंह हैं जो आर्य-समाज के लिए पुराने भिक्षा माँगनेवालों में अग्रणी थे। तारवाला उन्हें एक तार देता है जिसका लिफाफा लेकर भाई जी मेरी ओर चल पड़ते हैं। तार खोलता हूँ तो यह शुभ समाचार है कि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है। भाई जी शुभ समा-चार सुनते ही झोली आगे कर देते हैं—"कुछ दिलवाइए !" जेब में से निकाल-कर १०० रुपये का नोट उनके हवाले करता हूँ और भाई जी वहीं से ऊँचे स्वर में दान का हाल सुनाकर उसके साथ एक चुटकुला जोड़ देते हैं—"ईश्वर करे, हमारे प्रधानों के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे नित्य दान मिले।"

वार्षिकोत्सव के पीछे अभी दो दिन ही ठहरा था कि बहुत-से वकालत के उम्मीदवारों की दरखास्त पर परीक्षा की तिथियाँ दो मास आगे जा रहीं। लोगों के घर तो घी के दिये जले किन्तु मेरे यहाँ अन्धेरा हो गया। तीसरी बार तो परीक्षा की तैयारी की, अब चौथी बार तैयारी कैसे होगी—यह चिन्ता थी। इसका परिणाम भी यही हुआ कि चौथी बार जब परीक्षा के लिए लाहौर गया तो मैंने सारा समय गप्पों में ही व्यतीत किया और क़िताबों को हाथ भी न लगाया। जब मैं परीक्षा-भवन में गया तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरा मस्तिष्क कानून से सर्वथा शून्य है। किन्तु प्रश्न-पत्र हाथ में आते ही पुराने संस्कार जाग उठे और ग्रामोफोन की भाँति पुराने भरे हुए विचार लेखनी द्वारा बाहर आने लगे। उस समय की अपनी अवस्था पर आध्यात्मिक विचार करने से मुझे अब पता लगता है कि जबतक मनुष्य का आचार दृढ़ न हो जाय तबतक बार-बार की निराशा मनुष्य को बड़ा ही निरुत्साही बना देती है। मुझ-से कोमलहृदय मनुष्य पर बार-बार अकृतकार्यता और विरोध के वज्रप्रहार होने ही चाहिए थे, नहीं तो यह निर्बल शरीर और मन आगामी भीषण घटनाओं में से बचकर कैसे निकल सकता !

मार्गशीर्ष के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर के आरम्भ) में ही मैं जालन्धर लौट आया और अब आर्यसमाज जालन्धर का द्वितीय वार्षिकोत्सव मनाने की चिन्ता उत्पन्न हुई। किराये के मकान को तिलाञ्जलि देकर हम लोग अपने आर्यमन्दिर के वर्तमान स्थान को कच्ची ईंटों की दीवार से घेरकर एक कच्चा कोठा बनाकर उसमें आ गये। मकान को सजाने का काम तो हो सकता था और यथाशक्ति धन भी एकत्र कर लिया था, किन्तु वार्षिकोत्सव के लिए योग्य उपदेशकों की आवश्यकता थी। लाहौर ही उस समय सब-कुछ था। लाहौर से हमें टका-सा जवाब मिला। हमने अपने मित्र काली बाबू को जोर देकर लिखा। वे तो आ गये किन्तु और कोई

उपदेशक न मिला। यह दूसरा अवसर था जब दूसरों पर निर्भर करने से निराश हुए और जालन्धर आर्यसमाज में 'आत्मभरोसे' की इसे ही बुनियाद समझना चाहिए।

हम लोगों ने काम बाँट लिये। दोनों बैठकों में धर्मोपदेश श्री देवराज जी मन्त्री ने दिये। एक व्याख्यान मास्टर भक्तराम बी० ए० उपप्रधान ने दिया, दो व्याख्यान मैंने और दो काली बाबू ने, इस प्रकार उत्सव भली प्रकार मनाया गया। इसी समय से मैंने जालन्धर आर्यसमाज के भाइयोंसहित ग्रामों में जाकर वैदिक धर्म के प्रचार की प्रथा चलायी जो परमेश्वर की कृपा से कुछ वर्षों तक बहुत ही फलीभूत होती रही।

काली बाबू वैसे तो आर्यसमाजी बन गये किन्तु आर्यसमाज के सिद्धान्तों से थे निरे कोरे। जब माघ में मैं पुनः लाहौर गया तो मैंने लाला श्री साईंदास जी से शिकायत की कि काली बाबू अपने सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं जानते, इन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने के लिए बाधित करना चाहिए। काली बाबू का उत्तर विचित्र था, वे बोले "लालाजी मुझे कैसे कह सकते हैं? इन्होंने तो मुझे भाई तारूसिंह और बाघसिंह व घेलसिंह की कहानियाँ सुनाकर आर्यसमाजी बनाया था! तुम्हारी जो मर्जी आवे कहो।" मैंने जोर दिया कि मेरे कहने पर ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ना आरम्भ कर दो! तब काली बाबू ने ऐसा ही किया।

४ माघ संवत् १९४४ (१७ जनवरी सन् १८८८ ई०) को मैं वकालत की परीक्षा देने लाहौर की ओर फिर चला। रास्ते में गुरुदासपुर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर उतरा। मुझे उस समाज की दशा देखकर बड़ा कष्ट हुआ। मेरी दिनपत्रिका (डायरी) में लिखा है—"सायंकाल को गुरुदासपुर, वहाँ के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने को पहुँचा। इस समाज की दशा बहुत शोचनीय है। सब अधिकारी हैं तो धनाढ्य किन्तु सब शराबी, कबाबी और शिकारी हैं। इसलिए समाज की सेवा करने के स्थान में वे उलटे हानिकारक हो रहे हैं।"

इन्हीं शराबी-कबाबी वकीलों में से सवा दो वर्ष के पश्चात् एक ने जो करतूत जालन्धर प्रान्त में की थी उसे यहाँ ही भुगत देना ठीक है। मैंने बड़े परिश्रम से फिल्लौर में आर्यसमाज की स्थापना की थी। प्रधान और मन्त्री को मद्य-मांस की फँसावट से निकालकर वैदिक धर्म का सच्चा भक्त बनाया था। हमारे मंत्री जंगलात के महकमे में एक बड़े ओहदेदार थे। उनके एक गुरुदासपुरी वकील मित्र (ऊपर लिखे आर्यसमाजी शराबियों में से एक) होली पर फिल्लौर आ पहुँचे और न केवल हमारे स्थानिक मन्त्री को गिराकर किराये के समाजमन्दिर में शराब ही ढुलाई प्रत्युत मन्त्री और प्रधान के मना करने और बिगड़कर चले जाने पर भी वेश्या को बुलाकर वहीं मुँह काला किया। तीसरे दिन मैं एक मुकद्दमे की पैरवी में फिल्लौर पहुँचा तो मेरे मित्र सय्यद आबिदहुसैन तहसीलदार ने सारा हाल कह सुनाया।

वेश्या ने फौजदारी में अर्जी दी थी, क्योंकि शराबी वकील उसे बिना कुछ दिये रात की रेल में ही भाग गया था। सय्यद साहब ने हमारे मन्त्री और प्रधान को बदनामी से बचाने के लिए अपने पास से पाँच-दस रुपये देकर अर्जी फड़वा दी। मैंने सय्यद साहब की कृपा को धन्यवाद दिया किन्तु उनसे कहा कि ऐसा करने में उन्होंने पाप किया है। उनके लिए भी मेरा यह उत्तर नया ही था, क्योंकि वे बड़े चकित-से प्रतीत हुए। किन्तु मैंने क्या किया? उसी समय सायंकाल व्याख्यान देने का ढिंढोरा पिटवा दिया और वैदिक धर्म के महत्त्व का सन्देश उपस्थित सज्जनों को सुनाकर अन्त में घोषणा कर दी कि आर्य अधिकारियों के पतित हो जाने से अब फिल्लौर में कोई आर्यसमाज नहीं है।

यह शायद पहला ही अवसर था कि मैंने आर्यसमाज की सेवा की बदौलत एक शत्रु खड़ा कर लिया। फिल्लौर के प्रधान और मन्त्री ने अन्त को अपने किये का प्रायश्चित्त किया और मुझे मिलते रहे। किन्तु गुरुदासपुर के वकील साहब उसी दिन से मेरे विरोधी हो गये। मेरे विरोधी तो हुए, किन्तु आर्यसमाज का पिण्ड उनसे छूट गया और अपनी पौराणिक जाति के महामान्य लीडर बन गये।

माघ के मध्य (जनवरी मास के अन्त) में शनिवार को मैं अमृतसर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने को गया जहाँ मुझे देवराज जी भी मिले। परीक्षा इतनी समीप और मुझे वार्षिकोत्सव में जाने की सूझ रही थी। इसका कारण सर्वथा मेरा आर्यसमाज के साथ अनुराग ही न था। विशेष कारण यह था कि पढ़ने में रुचि न थी और दिनकटी कठिन हो रही थी, इसलिए दिल बहलाने के लिए अमृतसर चला गया।

२४ माघ (६ फरवरी) को मेरी परीक्षा शुरू हुई और २९ माघ (११ फरवरी) को समाप्त हो गयी। प्रश्नपत्रों के उत्तर मैंने अच्छे लिखे थे और परिणाम भी अच्छा ही निकला। कुछ दिनों के पश्चात् जालन्धर समाचार पहुँचा कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूँ।

परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् भी मैं एक सप्ताह लाहौर में और ठहरा। परीक्षा के बाद लाहौर आर्यसमाज की वेदी से मैंने अपना पहला उपदेश दिया, जिसे श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया था, इसलिए मुझे फिर उपदेश देने के लिए बाधित किया गया। इसके अतिरिक्त इन्हीं दिनों विशेष विज्ञापन देकर मेरा एक अंग्रेजी का व्याख्यान रक्खा गया जिसका विषय था 'मैरेज : इट्स रिलिजस, मॉरल एण्ड सोशल एस्पेक्ट'।[१] इस व्याख्यान के विषय में मेरी डायरी में लिखा है—"इस व्याख्यान में मेरी आशा के अनुसार कृतकार्यता न हुई। जनसंख्या केवल २०० के लगभग थी।" साथ ही लिखा है—"इसी दिन अग्निहोत्री के देव-समाज का वार्षिकोत्सव प्रारम्भ हुआ। १६ और १७ फरवरी को मैंने अग्निहोत्री के दो

१. Marriage : its religious, moral and social aspect.　　—१

व्याख्यान सुने।" मैं उन दिनों गुमनाम था, अग्निहोत्री की प्रसिद्धि अपने यौवन पर थी, उनके व्याख्यानों को छोड़ मुझे कौन सुनने आता!

फिर जालन्धर में

६ फाल्गुन (१८ फरवरी) को जालन्धर लौट आया। उन दिनों मुझे पिता से मिली हुई भूमि में एकान्तनिवास के लिए मकान बनवाने और एतदर्थ उस भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने तथा उसके कुछ भाग में वाटिका लगाने की धुन लगी हुई थी। इसी के प्रवन्ध के लिए एक निर्धन सम्बन्धी को कुछ वेतन पर नियत कर रक्खा था। फाल्गुन के मध्य (फरवरी मास के अन्त) में मैं उसी काम की देखभाल के लिए अपनी जन्मभूमि तलवन में चला गया।

फाल्गुन-चैत्र (मार्च के महीने) में मैं साधारणतया अपने काम में लगा रहा। इसी मास में वकीलों और अन्य अंग्रेजी पढ़े-लिखे हुओं को इकट्ठा करके मैंने एक वाग्वर्धिनी सभा (डिबेटिंग सोसाइटी) खुलवायी जिसका मैं ही मन्त्री नियत किया गया। यह सभा कुछ महीनों चलकर ही समाप्त हो गयी। इसी मास में दिल्ली के रायबहादुर मास्टर प्यारेलाल जालन्धर सर्कल के इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स बनकर आये जिनके साथ मेरा बड़ा गहरा सम्बन्ध हो गया। आर्यसमाज के सम्बन्ध में इस महीने एक ही घटना हुई जिसने उसे अनपढ़ों में प्रचार के लिए एक पुरुषार्थी सेवक दिया। लुधियाने का चिरंजीव एक बाँका पहलवान था। वह आर्यसमाजी होकर बैंतुलबाजी[1] किया करता था। एक दिन प्रचार में राहु-केतु आदि की पूजा का खण्डन करता था कि एक ब्राह्मण ने अपने यजमान से लाया हुआ दान सामने किया और कहा—"यदि हिम्मत है तो ले!" बहादुर चिरंजीव ने उपरने में बँधे चावल-नकदी सब ले-लिया और चल दिया। ब्राह्मण हक्का-बक्का रह गया और अपना माल माँगने लगा। चिरंजीव धुतकारकर चल दिया। ब्राह्मण ने पण्डित लक्ष्मी-सहाय मैजिस्ट्रेट के यहाँ दावा दायर किया। वे ब्राह्मण थे। चिरंजीवलाल को कैद का दण्ड मिला। मेरे पास उसी समय आदमी भागा आया। लुधियाने की अपीलें उन दिनों जालन्धर के सेशनजज के यहाँ होती थीं। मैंने अपील दायर की और चिरंचीवलाल बरी होकर मेरे पास पहुँच गया।

धर्म-प्रचार की धुन

वैशाख संवत् १९४५ के दूसरे सप्ताह (अप्रैल १८८८ के अन्त) में फिर अपने ग्राम तलवन में गया। अपने पुत्र के नामकरण संस्कार को केवल अपने दूसरे भाइयों के आग्रह पर रोके हुए था। उनकी इच्छा थी कि मैं उसका नामकरण अपनी जन्मभूमि के गृह में करूँ। इसलिए मैं १४ वैशाख (२७ अप्रैल) को तलवन पहुँचा।

१. कविता कहना और करना।

जालन्धर के दो आर्य भाई भी साथ गये थे और लुधियाने से चिरंजीवलाल पहुँच गया। हमारा कुलाचार यह था कि बालक को चूड़ाकरण से पहले (जो तीसरे वर्ष होता है) कपड़े न पहनाये जायँ। हमारे सबसे वड़े चाचा जीते थे, वह कट्टर सनातनी और क्रोधी थे। मेरे भाइयों को भय था कि कहीं वे कुछ उपद्रव न खड़ा करें किन्तु मैंने उनको भी बुलवा भेजा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ जब कुलाचार के विरुद्ध उन्होंने अपने हाथों से बालक को सिले हुए कपड़े पहनाये और उसका नाम हरिश्चन्द्र रक्खा। मैंने अपने जीवन में प्रायः देखा है कि यदि निरभिमान होकर सरलता ले वर्ताव किया जाय और बिना दूसरों को चिढ़ाये अपने मन्तव्य पर दृढ़ता दिखाई जाय तो कट्टर-से-कट्टर विरोधी की दृष्टि में भी मनुष्य माननीय बन जाता है।

तलवन में इन दिन चिरंजीवलाल की बैतुलबाजी की धूम रही। जालन्धर लौटते हुए रास्ते में नकोदर में प्रचार हुआ। चिरंजीवलाल ही मेरा सबसे बड़ा विज्ञापन था। वह इस प्रकार कि मुझे उस स्थान में बैठाकर जहाँ मैं व्याख्यान देना चाहता, चिरंजीवलाल बाजार में चला जाता। जिस दूकानदार के ऊँचा मूढ़ा देखता वहीं खड़े होकर अपनी सिंहगरज से एक बैंत सुनाता, फिर कहता—"प्यारया, मूढ़ा कुछ चिर लई दे तो होर बैताँ सुनावाँ।" वहाँ इनकार कब था! मूढ़े पर खड़े होकर बैतों द्वारा लच्छेदार खण्डन होने लगा। जब पचासेक आदमी जमा हो जाते तो चिरंजीवलाल मूढ़ा उठाकर २० कदम आगे हो जाता और मूढ़े पर चढ़कर फिर स्वर आलापता। जब १०० हो जाते तो पचास कदम आगे हो, चलकर पिड़ जमाता। इसी प्रकार जनसंख्या बढ़ाते-बढ़ाते चार-पाँच सौ मेरे सामने लाकर खड़े कर दिये और अपने श्रोताओं से कहा—'हुण विदवानाँ दियाँ गल्लाँ सुनो, देखो कही अमृत वर्खा हुंदी है।" लोग सब बैठ गये और मेरा व्याख्यान प्रारम्भ हो गया।

जालन्धर लौटकर मैंने वकालत के काम में जहाँ नियमपूर्वक भाग लेना आरम्भ किया वहाँ जीवन-सुधार की ओर भी अधिक खिंच चला। प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर मैं भ्रमण करने जाता था। उसी समय थोड़ा दौड़ भी लेता था। यह प्रातःकाल का व्यायाम था, इसमें एक घण्टा लगता। फिर स्नान करके सन्ध्या-अग्निहोत्र, जिसके पश्चात् गो-दुग्ध पीता और पत्रों के उत्तर देने में लग जाता। यह अभ्यास मुझे उसी समय से है कि तुच्छ-से-तुच्छ और व्यर्थ पत्र को काम की टोकरी से तबतक अलग न किया जावे, जबतक उसका उत्तर न भेजा जाय। एक विचित्रता मुझमें और भी थी, जो अबतक है। जबतक मेज पर पड़ा नित्य का काम समाप्त न हो जाय तबतक मन प्रसन्न नहीं होता। आठ बजे समाचारपत्र भी पढ़ निवृत्त हो मुकद्दमेवालों को बुलाया जाता और पौने दस बजे उनका सब काम तैयार। मुझे १०-१२ मुकद्दमों की तैयारी में भी इससे अधिक समय कभी नहीं लगा। फिर भोजन करके कचहरी। कचहरी से अपना सारा काम समाप्त होते ही

मैं घर चल देता। अन्य वकीलों की तरह शिकार की प्रतीक्षा में बार-रूम में न बैठा रहता। कभी-कभी घर लौटते समय दो वा ढाई ही बजते, तब छह बजे तक शतरंज चलती। हुक्का और शतरंज, ये दो व्यसन अबतक मुझसे नहीं छूटे थे, और हुक्के के शान्तिप्रद धुएँ का आनन्द लेने के लिए ही मैं शतरंज भी खेलता। जालन्धर द्वाबे के प्रसिद्ध हुकाइयों में से न होते हुए भी मेरा नम्बर कुछ बहुत नीचे न था। शतरंज एक बार छोड़ भी दी थी, किन्तु जब एक दिन लाहौर में आर्यसमाज के दो प्रसिद्ध नेताओं को घण्टों शतरंज खेलते देखा तो घृणा का भाव दूर हो गया और मैं उसी व्यसन में फिर फँस गया। सच है—'**महाजनो येन गतः स पन्थः**।'[1] यदि सब अधेड़ और बूढ़े जवान नेता तक समझ लें कि कोई-न-कोई व्यक्ति अवश्य उनका अनुकरण करेगा तब व्यसनों के फैलने की बहुत कम सम्भावना हो जाय। संवत् १९४५ में कई बार मुझे इन दोनों व्यसनों से, विशेषतः शतरंज से घृणा हुई। एक दिन की दिन-पत्रिका (डायरी) में लिखा है 'मुझे शतरंज के व्यसन से मुक्त होना चाहिए, यह मेरा बहुत समय नष्ट करता है।' फिर लिखा है 'हम शतरंज खेलते रहे। समय को नष्ट करने का बुरा ढंग।' आत्मा की इस जागृति का परिणाम यह हुआ कि शतरंज का खेल चार महीनों में ही बन्द हो गया और हुक्का भी विदा हुआ। हुक्का तो बीच में फिर जारी होकर डेढ़-दो वर्ष चला था किन्तु शतरंज सदा के लिए ही चल बसी।

सायंकाल या तो बग्घी में लम्बी सैर को चला जाता या म्युनिसिपल वाटिका में टेनिस के लिए ठहरता। भोजन के पश्चात् कुछ भाई मेरे मकान पर आते जिनके साथ नित्य सायंकाल ईश्वर-प्रार्थना होती। इसके पश्चात् कुछ धर्मचर्चा होकर सब लोग विदा होते और मैं दस और कभी-कभी ग्यारह बजे तक पढ़ता रहता। इन दिनों 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के साथ मैंने इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विकासवादी लेखक हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ किये थे।

राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध

ज्येष्ठ १९४५ में पहले-पहल मेरा सम्बन्ध नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ हुआ। प्रयाग के 'पायोनीयर' और लाहौर के 'ट्रिब्यून' का मैं बहुत पुराना ग्राहक हूँ इसलिए नेशनल कांग्रेस के विषय में सब-कुछ पढ़ता रहता था, किन्तु इस वर्ष पहले-पहल पंजाब में यह विचार हुआ कि कांग्रेस कमेटियाँ प्रत्येक जिले में बनायी जावें। हमारे मित्र काली बाबू जालन्धर और होशियारपुर का ठेका लेकर हमारे पास पहुँचे। उन्होंने इसे भाजीवाला मामला बना लिया था। हमारे गाढ़े समय में वे आड़े आये थे, अर्थात् जालन्धर आर्यसमाज के द्वितीय वार्षिकोत्सव पर जब सबने आने से इन्कार कर दिया था, तो बाहर के ये ही अकेले व्याख्याता थे। इसलिए

१. महापुरुष जिस मार्ग से चलते हैं वही सुपथ है।

अब अपने पोलिटिकल मिशन में हमसे सहायता माँगना उन्होंने अपना अधिकार समझा। ४ ज्येष्ठ, संवत् १६४५ (१८ मई, १८८८ ईसवी) के दिन बम्बई मेल से काली बाबू जालन्धर पहुँचे। मेरी डायरी में लिखा है—"काली पोलिटिकल उद्देश्य लेकर यहाँ आया है, वह वहाँ काँग्रेस कमेटी स्थापित करना चाहता है। अपने साथ बाँटने के लिए कुछ पैम्फ़लेट भी लाया है। काली विचित्र आदमी है—इसके काम का ठीक मैदान यही राजनैतिक आन्दोलन प्रतीत होता है। धर्म-सम्बन्धी काम उसके अनुकूल नहीं। बालकराम जी भी आ गये। हम नेशनल कांग्रेस कमेटी की स्थापना करने के साधनों पर विचार करते रहे।...एक बजे रात के एक आदमी आया और काली को होशियारपुर ले-गया।" ५ ज्येष्ठ (१६ मई) को होशियारपुर में कमेटी बना काली बाबू ६ ज्येष्ठ (२० मई) आदित्यवार को जालन्धर लौट आये, मन्दिर में उपदेश दिया। उसी दिन से मैं और बालकराम जी काली बाबू को उनके मिशन में कृतकार्य करने की चिन्ता में लगे। ७ ज्येष्ठ (२१ मई, सोमवार) को काली बाबू ने फिर समाज-मन्दिर में व्याख्यान दिया। फिर तो उनकी सहायता में सिरतोड़ प्रयत्न हुआ और एक बड़े आदमी की नयी कोठी में १० ज्येष्ठ (२४ मई, महारानी विक्टोरिया के जन्म-दिवस पर) को एक बड़ी सभा बैठी। और जगहों में तो रईस लोग कांग्रेस का नाम सुनकर कानों पर हाथ धरते थे, किन्तु लाला बालकराम के प्रेरे हुए जालन्धर का आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्युनिसिपल कमिश्नर, जमींदार, सेठ-साहूकार सभी कांग्रेस कमेटी की बुनियाद डालने के लिए इकट्ठे हो गये। कांग्रेस के उद्देश्यों के साथ सहानुभूति के प्रस्ताव खानबहादुर फ़ज़ल करीम खाँ वाइस प्रेज़िडेण्ट, म्युनिसिपैलिटी ने पेश किया जिसका समर्थन सनातन धर्मसभा के प्रधान लाला हरभजराय जी आनरेरी मैजिस्ट्रेट ने किया। इसी प्रकार वकीलादि को अलग रखकर बालकराम जी ने रईसों से ही सारा काम कराया। मैंने दूसरे ही दिन इस अधिवेशन की रिपोर्ट लिखकर 'ट्रिब्यून' के लिए भेजी जो मुख्य लेख के स्थान में छपी और सारे पंजाब में जालन्धर के जलसे की धूम मच गई। किन्तु जिस मकान में दिन को हमारा जलसा हुआ था उसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है—"रात को उस मकान के अन्दर शराबियों में खूब जूतम-पैज़ार हुई। वाह, कांग्रेस की मीटिंग का कैसा शुभ परिणाम निकला!" इससे पता लगेगा कि उस समय भी राजनीति को धर्म के प्रभाव से अलग करना मैं अधर्म समझता था।

१७ ज्येष्ठ संवत् १६४५ (३१ मई सन् १८८८ ई०) के 'ट्रिब्यून' में कांग्रेस-सम्बन्धी सम्मेलन का हाल छप गया। वकीलों के कमरे में धूम मच गई। उन दिनों सर सय्यर अहमद का व्यवस्था-पत्र कांग्रेस के विरुद्ध निकल चुका था। जालन्धर में भी एक अलीगढ़ पार्टी खड़ी हो गई थी जिसके मुख्य नेता वहाँ के एक नये मुँडे हुए वकील थे। इनके बाप-दादा ने कभी गोमांस का स्पर्श भी नहीं किया था, किन्तु अलीगढ़ के पक्षपात का पहला परिणाम यह हुआ कि इन्होंने गोमांस खाया। किन्तु

सृष्टि-नियम भी विचित्र है, गो-मांस खाते ही इनके हृदय-शूल उठा और उनके घरवालों ने भी उस शूल को पाप का फल बतलाया, अस्तु। अलीगढ़-पार्टी को कांग्रेस पार्टीवालों ने खूब छेड़ना शुरू किया, परिणाम यह हुआ कि अलीगढ़ियों ने सब मुसलमान सभ्यों को, दो के अतिरिक्त, कांग्रेस के पक्ष से जुदा कर लिया। दो पक्षपातहीन मुसलमान भाई, जिनकी ओर मैंने इशारा किया है, श्री ख्वाजा साह मुहम्मद साहेब वकील और श्री पीरज़ादा खाँ साहेब मुखतार थे। ये दोनों सदैव मेरे मित्र रहे और इनके लिए मेरे मन में बड़ा ही आदर का भाव था।

इस वर्ष (१८८८ ई०) कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन प्रयाग में होनेवाला था। वहाँ के लाट महोदय सर आकलैण्ड कलविन ने विरोध भी किया था और उस पर काँग्रेस के जनरल सेक्रेटरी मिस्टर ह्यूम ने उनको लताड़ भी खूब बतलायी थी। उस विरोध को दूर करने के लिए पंजाब में बम्बई के महाशय अली मुहम्मद भीम जी भेजे गये थे। उनका पहला व्याख्यान शायद सितम्बर में हुआ था, जब मैं जालन्धर में उपस्थित न था। उस समय अलीगढ़ पार्टी ने बड़ा विघ्न डालने का प्रयत्न किया। बाजार की उस तिनुहानी पर, जहाँ इस समय शराबवाले की दूकान है, महाशय भीम जी का व्याख्यान होनेवाला था। पास ही 'फख़्रे-कौम' मुंसिफ फखरुद्दीन साहब का मकान था। आपने काफी[1] गाने की मजलिस की ठान ली। एक ओर लोग व्याख्यान सुनने को जमा और दूसरी ओर साथ ही सारंगी, तबला, ताऊस और रागियों के गले फाड़ने का शोर-शराबा...भला व्याख्यान क्या होता? इसपर जब मुसलमान रईसों को लानत-मलामत की गयी तो सूबेदार मेजर गुलामहुसैन साहब ने बालकराम जी द्वारा महाशय भीम जी को फिर बुला भेजा। एक बड़े मैदान में उनका व्याख्यान ठहराया गया। मैंने ही अधिवेशन का सारा प्रबन्ध किया था। पहले तो डेढ़ हजार से अधिक पुरुष इकट्ठे हुए जिनमें ५० के लगभग मुसलमान सज्जन थे, किन्तु फिर श्रोताओं ने उठना आरम्भ कर दिया और ७०० के लगभग जनसंख्या रह गयी। इसका भी एक विशेष कारण था जिसका वर्णन पाठकों के लिए बड़ा मनोरंजक होगा। जालन्धर में लिखित विज्ञापनों के अतिरिक्त हम लोग जलसों की सूचना डुगडुगी द्वारा भी दिया करते थे। डुगडुगी पीटनेवाले को 'अली मुहम्मद' और लेक्चर आदि शब्द सब भूल गये और उसने मनघड़न्त हाँक लगानी शुरू कर दी—"ढप! ढप!! ढप!!! बोल, खलक खुदा दी, मुल्क मुल्कां दा, हुकुम कम्पणी बहादुर दा। होर आर्या दा लश्कर भी आएगा ठीक चार बजे लाला सालिगराम की मण्डी विच पण्डित भीमसैन दा समाज हो...वैगा! सब लोग हाजिर हो जाओ!"

इस हाँक को सुनकर बूढ़े, बनिये, ब्राह्मण भी टेढ़ी कमर को लठिया का सहारा

---

१. एक रागिनी।

दिये चल दिए। "चलो ! बड़े स्वामी का चेला पण्डित भीमसेन आया है। बड़ा उत्तम धर्मोपदेश होगा। यह दुर्लभ समय फिर कब मिलेगा !" इसी प्रकार की किंवदन्ती करते सैकड़ों सनातनी पहुँच गये। परन्तु जब लम्बा चोगा और खोजोंवाली पगड़ी धारण किये महाशय अली मुहम्मद के मुँह से अंग्रेजी रिपोर्टों के हवाले निकलने आरम्भ हुए तो इन बूढ़ों की आँखें खुलीं और शनैः-शनैः कांग्रेस और राजनीति से अनभिज्ञ सब पंछी उड़न्छू हो गये।

कांग्रेस के साथ अपना सम्बन्ध जतलाकर उसकी एक वर्ष की कहानी एक स्थान में ही समाप्त करना उचित समझकर बीच की आवश्यक घटनाएँ मैं छोड़ गया था। अब उनको क्रमशः लेता हूँ।

मेरी डायरी से पता लगता है कि मई १८८८ ई० (वैशाख, ज्येष्ठ संवत् १९४५) में ही मैंने वर्णव्यवस्था पर एक लघु पुस्तक लिखनी आरम्भ कर दी थी। १८ ज्येष्ठ (१ जून) को डायरी में लिखा है—"पैम्फलेट का थोड़ा-सा भाग ही लिखा था कि आँधी चल पड़ी और काम बन्द करना पड़ा।" यह वह लघु पुस्तक है जो पहले मैंने उर्दू में छपवाकर मुद्रित की थी।

२० ज्येष्ठ संवत् १९४५ (३ जून सन् १८८८ ई०) का दिन विशेष स्मरण के योग्य है। जो बड़ा मकान मैंने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की सेवा में अर्पण कर दिया है और जिसे वेचकर सभा ने २० हजार रुपये गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा कर दिये हैं उसकी आधारशिला उसी दिन रक्खी गयी थी। मेरे मकान की बुनियाद पड़ने से पहले सड़क की दूसरी ओर इसी भूमि के सामने समाज-मन्दिर का कच्चा आँगन गिर चुका था। तब अपने नैत्यिक कामों का अंग मैंने यह भी बना लिया कि नित्य सायंकाल को अपनी नयी इमारत का काम देखकर ही समाज-मन्दिर में प्रवेश करता। सायंकाल की सन्ध्या भी प्रातः समाज-मन्दिर में होती और नित्य नये भगवेपोष साधुओं से भेंट होती। भारतवर्ष के आधे से अधिक साधु जालन्धर के सोढल स्थानों में घूमने आते हैं। आर्यसमाज में सायंकाल की इसी ज्ञान-चर्चा ने मुझे भारतवर्ष के आधे से अधिक साधुओं से परिचित करवा दिया था।

एक दिन जून (ज्येष्ठ-आषाढ़) मास में नास्तिक रोड्डे साधुओं का गुरु मुकद्दमा लेकर आया। उसकी हँसी उसी प्रकार की थी जैसी इंगलैण्ड के प्रधान कवि मिल्टन ने खुदा के विपक्षी की उपमा में लिखी है। अश्रद्धा की स्वयं मूर्ति होने के साथ ही यह मेलाराम किसी भी बुराई में कम नहीं मालूम होता था। इसको मिलने के पश्चात् ही मुझे रोड्डे साधुओं के आचरणों का अधिक हाल मालूम हुआ।

संवत् १९४५ (सन् १८८८) में ग्रीष्मऋतु में ही आर्य धर्म-प्रचार के लिए हमारे कपूरथला राजधानी पर धावे आरम्भ हुए। पहली बार १६ आषाढ़ (३० जून) को जब मैं आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिवेशन के लिए लाहौर जाने की

तैयारी कर रहा था, कपूरथला से एक आर्यभाई व्याख्यान का निमन्त्रण देने आये। मैं लाहौर के स्थान में उन्हीं के साथ चला और कपूरथले पहुँचकर चिरंजीवलाल को बाजार में भेज दिया, जहाँ उसने अपनी खड़ीबोली की बैंतों द्वारा हलचल मचा दी। चिरंजीवलाल की बैंतुलबाजी ने ही विज्ञापन का काम दिया जो दूसरे प्रात: को व्याख्यान के लिए था।

दूसरे दिन (आदित्यवार को) प्रात:काल चार बजे से वर्षा का आरम्भ हुआ। मेरी डायरी में लिखा है—"भाई देवराज मूसलाधार वर्षा में ही भीगते हुए साढ़े छह बजे पहुँचे। कैसा महत् आत्मसमर्पण! आठ बजे के पश्चात् कुछ बादल उड़े। देवराज जी ने बड़ी जन-उपस्थिति में नयी सराय के अन्दर व्याख्यान दिया। मैंने मूर्तिपूजा विषय पर मास्टर पोल्होमल के साथ शास्त्रार्थ किया। लाला धूमामल जी की बग्घी में हम जालन्धर लौटे। जालन्धर समाज-मन्दिर में मैंने ईश्वरोपासना के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश की कथा की। फिर सुना कि लाहौर के अग्निहोत्री का शिष्य रामजवायामल आया है। कुछ आर्यभाइयों को लेकर उसे सुनने गया। यद्यपि उसका गुरु हमें गालियाँ देना ही अपना धर्म समझता है, तथापि वह हमारा भाई है। जब हम पहुँचे, एक भी श्रोता न था। हमारे जाने पर रामजवाया ने ईश्वर-प्रार्थना की और हमीं लोगों को व्याख्यान सुनाया। मालूम होता है कि इस समय के देवगुरु भगवान् ने, जो उस परमगुरु की उपासना का ढोंग भी रचता था, आर्यसमाज को मसालेदार गालियाँ देनी आरम्भ कर दी थीं।

कपूरथले में वैदिक धर्म-प्रचार के बड़े भारी विरोधी रियासत के अकाउँटैंण्ट-जनरल मिश्र अछरूमल थे। ये महाशय वैसे तो सदाचारी थे किन्तु कट्टर सनातनी होने के कारण आर्यसमाज के पूरे शत्रु थे। इनके मकान की दीवार पर आर्यसमाज के अधिवेशन का विज्ञापन लगाने यदि कोई जाता, तो उसे मारकर भगा देते; यदि कभी आँख बचाकर लगा ही जाता तो सारी दीवार को पानी से धुलवा डालते। १७ श्रावण (२ अगस्त) को एक आर्यभाई की माता के देहान्त पर मैं उसका अन्त्येष्टि-संस्कार कराने फिर कपूरथले गया। दीवान मिश्र अछरूमल ने फिर बड़ा विरोध किया किन्तु श्मशानभूमि में मृतक की अर्थी के साथ चार-पाँच सौ के अनुमान से नर-नारी पहुँच गये। इनपर संस्कार का बड़ा धार्मिक प्रभाव पड़ा और अन्तिम ईश्वर-प्रार्थना तथा उपदेश को सुनकर कइयों ने वैदिक धर्म ग्रहण किया। इस बार दीवान अछरूमल ने कहला भेजा "अबके तो मौत के कारण छोड़ दिया, फिर आवेंगे तो कैद करा दूँगा।" इसी चैलेंज को स्वीकार करके मैं कई बार फिर कपूरथले गया, किन्तु दीवान साहब की धमकी कार्य में कभी भी परिणत न हुई।

अशान्ति में शान्ति

जुलाई के महीने में ही मेरे सबसे ज्येष्ठ भ्राता का एक मुकद्दमा था। एक

मुसलमान ने उनपर मस्जिद का कुछ स्थान अपने तबेले में मिला लेने का झूठा अभियोग चलाया। जब तबेला बन रहा था तो मुसलमान ने धमकी दी कि यदि उसे २०० रुपये न दिये तो वह धार्मिक भावों पर आक्रमण करने के दोष में दावा कर देगा। भाई साहेब ने मेरी सम्मति पूछी। मैंने उन्हें कहा कि झूठे की धमकी की परवाह न कर सत्य पर आरूढ़ रहना चाहिए। मेरी इस सम्मति का यह फल हुआ कि बेचारे दो-तीन महीनों तक अभियोग में घिसटते फिरे। मैंने कानूनी पैरवी तो की किन्तु जब सनातनी ब्राह्मण मैजिस्ट्रेट को मुसलमान ने धमकी दी कि वह उनपर हिन्दू का पक्षपात करने का दोषारोपण करेगा तो मजिस्ट्रेट ने बिना सबूत के ३० रुपये जुर्माना कर दिया। डिविज़नल जज के यहाँ भी यही सिद्ध हुआ कि दावा झूठा है और वह भूमि भी भाई साहब के ही कब्जे में रही, किन्तु मुझे उन दिनों बड़ा मानसिक कष्ट रहा। मेरी डायरी से पता लगता है कि जून और जुलाई (आषाढ़-श्रावण) के महीनों में चित्त बड़ा अशान्त रहा, किन्तु २८ जुलाई (१२ श्रावण) को जब लाहौर गया तो उस बड़े नगर से अशान्ति के स्थान में शान्ति लाया। मेरी डायरी में लिखा है—"पण्डित गुरुदत्त को मिला। मुक्ति विषय में उनके साथ बहुत बातचीत हुई। सर्व मुख्य नियमों में उनकी मेरे विचारों के साथ सहमति है। दूसरे दिन आदित्यवार को लाहौर आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। उपस्थिति ३०० से अधिक थी। वहाँ से लाला साईंदास के मकान पर पण्डित गुरुदत्त सहित गया जहाँ सामाजिक नियमों पर परस्पर विचार होता रहा। प्रिय गुरुदत्त को मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।"

सन् १८८८ का सितम्बर मास (भाद्रपद-आश्विन, संवत् १९४५) मैंने अपने ग्राम तलवन में व्यतीत किया। नैत्यिक सत्संग के अतिरिक्त मैंने एक कन्या पाठशाला भी खुलवा दी, किन्तु आध्यापिका की अयोग्यता के कारण जालन्धर लौटते हुए उसे बन्द करना पड़ा। अपने कुटुम्ब में बहुत-से सामाजिक संशोधनों का भी प्रयत्न किया। अच्छे कामों के लिए जहाँ एक कौड़ी देने का भी अभ्यास न था वहाँ सामूहिक शक्ति से काम करना और उसके लिए धन व्यय करना भी मैंने यथाशक्ति अपनी पुरानी बिरादरीवालों को सिखाया। मास के अन्तिम अर्ध भाग में एक अताई[1] का नुस्खा लेकर मैंने यूनानी जुलाब लिया जिसने मुझे बहुत निर्बल कर दिया। उसी अवस्था में १५ आश्विन (१ अक्तूबर) को मैं तलवन से चल दिया। कुछ स्वस्थ होने पर इसी मास में एक नये काम की बुनियाद डाली गयी जिसने मेरे चिरकाल के विचार को क्रिया में परिणत कर दिया। जिस संस्था का नाम इस समय **कन्या महाविद्यालय जालन्धर** है उसके संस्थापन की कथा बहुत ही साधारण किन्तु शिक्षाप्रद है। जिस समय का मैं वृत्तान्त लिख रहा हूँ, उस समय जालन्धर में एक पहाड़ी वृद्धा स्त्री रहती थी, जिसे 'माइ लाडो' कहकर लोग पुकारते थे।

१. देख-सुनकर सीखा हुआ वैद्य (नीम हकीम)।

जो कुछ भी अक्षराभ्यास हिन्दी का हिन्दू महिलाओं को था, वह इसी माई की कृपा का परिणाम था। मेरी धर्मपत्नी ने भी इसी माई से कुछ पढ़ा था। इस माई को कुछ विशेष लालच देकर ईसाइयों ने अपनी पुत्री पाठशाला में रख लिया। यह अपनी शिष्या स्त्रियों की लड़कियों को लिहाज-मुलाहजे के दबाव से ईसाई पुत्री पाठशाला में ले-जाया करती थी। इसी प्रकार मेरी बड़ी पुत्री को भी उन्हीं की पाठशाला में बैठाया गया। २ कार्तिक, संवत् १९४५ (१९ अक्टूबर, १८८८) की डायरी में लिखा है—"कचहरी से लौटकर जब अन्दर गया, तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीखकर आई थी, सुनाने लगी—

'इक बार ईसा-ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल।
ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया॥'

इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता लगा कि आर्यजाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखायी जाती है। निश्चय किया है कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिए।"

तीसरे दिन आदित्यवार था। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में राय-बहादुर बख्शी सोहनलाल प्लीडर भी सम्मिलित थे। हम दोनों घर को इकट्ठे लौटे। मैंने बख्शी जी से आर्य पुत्री पाठशाला की बात छेड़ी। वह पहले ही से तैयार मिले, क्योंकि उनको भी पता लग चुका था कि उनकी लड़की को क्या पढ़ाया जाता है। फिर क्या था, मैंने उसी रात बैठकर एक अपील लिखी और दूसरे दिन से ही चन्दा लिखाना शुरू हो गया। मेरी डायरी से पता लगता है कि मध्य कार्तिक (अक्टूबर के अन्त) तक मैं बराबर चन्दा इकट्ठा करता रहा। १७ कार्तिक (३ नवम्बर, दिवाली) को ऋषि दयानन्द का मृत्यु-दिवस था। उसी दिन प्रातःकाल अपने घर में बृहद् हवन कराया। ४० महाशय उपस्थित थे। वहाँ कन्या पाठशाला के लिए फिर अपील की गयी। रात को समाज-मन्दिर में ऋषि दयानन्द के जीवन पर मैंने ही व्याख्यान दिया। इन्हीं दिनों एक दूसरे बड़े लाभ की बुनियाद डालने का विचार उपस्थित हुआ। धर्म-सेवा के लिए जहाँ अन्दर से उत्साह उत्पन्न होने लगा, वहाँ साथ-ही-साथ साधन भी प्राप्त होने लगे। इन्हीं दिनों में से, एक दिन राज-मजदूरों को साप्ताहिक वेतन बाँटना था, पास फूटी कौड़ी नहीं थी। बड़ी चिन्ता में था कि तीसरे पहर तक १३० रुपये की आमदनी हो गयी। मेरी डायरी में लिखा है—"मनुष्य को कभी निराश न होना चाहिए, परमात्मा पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।" मुझे इन दिनों अपने विचार सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए किसी साधन की आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्मा ने मार्ग दर्शा दिया और ऋषि-उत्सव के दूसरे दिन ही **'सद्धर्म प्रचारक'** साप्ताहिक उर्दू पत्र के निकालने का विचार दृढ़ हुआ। दूसरे ही दिन पच्चीस-पच्चीस रुपयों के १६ हिस्सेदार

पैदा हो गये और प्रेस का सामान क्रय करने की सूझने लगी। सभी जालन्धरी हिस्सेदार आये थे। इस समय से चैत्र संवत् १६४६ के अन्त तक सब प्रबन्ध होता रहा और १ वैशाख १६४७ को प्रचारक का पहला अंक निकला।

एक ब्रिटिश शासक से भेंट

इन्हीं दिनों शिक्षा-समिति के प्रधान सर चार्ल्स एचीसन महोदय अपने कमीशन का काम समाप्त करके जालन्धर में अपने सम्बन्धी, मैकवर्थ यंग, कमिश्नर को मिलने आये थे जो सर मैकवर्थ यंग बनकर पीछे पंजाब के लाट साहब बने थे। उन्हें मिलने जालन्धर के रईस आग्रहपूर्वक मुझे साथ ले-गये। उस मिलाप का हाल मेरी डायरी में लिखा है—"रईस लोग तो प्रशंसायुक्त अत्युक्तियों पर ही भेंट समाप्त करना चाहते थे परन्तु मैंने स्कूलों और कालेजों में फ़ीस बढ़ाने का विषय छेड़ दिया।" सर चार्ल्स ने मुझे रोकने के लिए कहा—"मैं तो फ़ीस बढ़ाने का पक्षपाती हूँ। जब गवर्नमेण्ट अपनी प्रजा के भोजन का प्रबन्ध नहीं करती तो शिक्षा का प्रबन्ध करना उसके लिए किसी युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।" मैंने उत्तर में कहा—"मनुष्य स्वभावतः भोजन का सामान एकत्र करने को बाधित होते हैं, किन्तु छोटे बच्चों की तरह वे अभी शिक्षा के लाभों से परिचित नहीं। इसलिए दयालु माता की नाईं गवर्नमेण्ट को शिक्षा के लिए लोगों को उत्साहित करना चाहिए।" मेरी डायरी में लिखा है कि सर चार्ल्स ने इसपर विषय को बदल दिया और नगर के समाचार पूछकर सबको विदा किया। इन दिनों मालूम होता है कि अपने नित्यकर्मों में नियम-बद्ध होने के कारण मेरी मानसिक दशा अच्छी रहने लगी थी। समाज के साप्ताहिक उत्सवों में उपदेशादि के अतिरिक्त घर पर कई सज्जनों को सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ भी मैं पढ़ाता था; कन्या पाठशाला के लिए आन्दोलन के अतिरिक्त आर्य-पत्रिका के लिए लेख भी भेजा करता था और रात को शयन से पहले मेरे मकान पर आर्यभाई हरिकीर्तन के लिए भी जमा होते थे।

लाहौर आर्यसमाज का बारहवाँ वार्षिकोत्सव

हम लोग लाहौर आर्यसमाज मन्दिर को एक तीर्थस्थान समझते थे और बड़ी श्रद्धा से वहाँ के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए यात्रा करते थे। ७ मार्ग-शीर्ष (२३ नवम्बर) को नगर-कीर्तन था। उस दिन रात को हम सब अपने घरों से चलकर रेलवे स्टेशन पर पहुँचे। ट्रेन दो बजे प्रातः चलती थी। हम दस-ग्यारह आर्यभाई पहले तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरखाने में गये। भाई देवराज ने आँखें बन्द कर लीं और वेदमन्त्र का उच्चारण करके परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् बल तथा ज्ञान के लिए प्रार्थना की। आँखें खोलते ही पता लगा कि जनसंख्या अच्छी इकट्ठी हो गयी है। मैंने पौन घण्टे तक धर्मोपदेश दिया और दो बजे की ट्रेन से

लाहौर चल दिए। सारा प्रातःकाल भजनों में बिताया। जिस स्टेशन पर रेल पहुँचती, हमारे भजनों को सुनने चुपचाप सब खड़े हो जाते। सन्ध्या से रास्ते में ही निवृत्त होकर ७ बजे प्रातः लाहौर पहुँचे। इन दिनों लाहौर में घोड़े से ट्राम चलती थी। एक ट्राम भरकर भजन गाते हुए उतारे के स्थान पर पहुँचे। वहाँ से लाहौर के बाजारों में भजन गाते हुए समाजमन्दिर में पहुँचे।

इस उत्सव में ही मास्टर दुर्गादास जी का सोलह संस्कारों पर व्याख्यान सुनकर मेरा प्रेम उनके साथ अधिक हो गया था। किन्तु सबसे बढ़कर पण्डित गुरुदत्त का व्याख्यान था जिसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है—"इस व्याख्यान की क्या उपमा दूँ? ऋषि दयानन्द के उपदेशों के पश्चात् यही एक व्याख्यान सुनने में आया है।" यह उत्सव इसलिए भी स्मरणीय रहेगा कि मैंने पहले-पहल पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान के पश्चात् ६ मार्गशीर्ष, संवत् १९४५ (२५ नवम्बर, १८८८) के ११ बजे से हुक्का पीना छोड़ दिया था। १० मार्गशीर्ष (२६ नवम्बर) की डायरी में लिखा है कि सारा दिन तम्बाख नहीं पिया। ११ मार्गशीर्ष (२७ नवम्बर) को लिखा है "तम्बाखू छोड़ने से बड़ा लाभ होगा। अभी पता लगता है कि बहुत-सी सुस्ती दूर हो गयी।" इसके कुछ दिन पीछे भूख अधिक लगने का लेख है। लाहौर से लौटकर मैं अपने ग्राम तलवन में गया। इन दिनों ही सांसारिक ऐश्वर्य तथा सांसारिक मान के संचय करने का विचार यद्यपि शिथिल हो चुका था किन्तु पर्याप्त धन इकट्ठा करके मानसिक जीवन व्यतीत करने के विचार दृढ़ हो रहे थे। इसलिए जहाँ जालन्धरवाले बँगले के नक्शों में उपासनालय के साथ-साथ पुस्तकालय के बड़े कमरे की बुनियाद रक्खी गयी थी, वहाँ विचार के लिए एकान्त-निवासार्थ ग्राम से दूर अपनी भूमि पर वाटिका तथा आश्रम बनाने का काम भी हो रहा था। तीस दिवस जन्मभूमि में धर्म-प्रचार कर तथा नयी वाटिया को हरियावल देकर जालन्धर लौट आया।

इस वर्ष जालन्धर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव भी बड़ी धूमधाम से हुआ। केवल धूमधाम ही न थी, जालन्धर-निवासियों का कायापलट हो गया। उत्सव से पहले एक तो मैंने विविध स्थानों में विशेष धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान दिये, फिर पण्डित लेखराम जी आर्यपथिक से प्रचार कराया। जालन्धर के पौराणिक पण्डित भी ऐसे काबू चढ़े कि एक विशेष अधिवेशन में पण्डित देवीचन्द्र न्यायाचार्य तथा वृद्ध पण्डित रामदत्त तक बाल-विवाह का खण्डन कर गये।

ब्राह्म मुहूर्त में हरिकीर्तन

जब कभी मैं नवयुवक आर्यसमाजियों से पुराने समय अर्थात् संवत् १९५१ (सन् १८९४) की धर्म तथा सदाचार में श्रद्धा का वर्णन करता हूँ तो उनके मुख पर अविश्वास के-से चिह्न दिखाई पड़ते हैं और कोई-कोई स्पष्ट कह देते हैं कि उस

समय सब ढकी-ढकाई बात थी इसलिए वह पुराना समय स्वर्णिम ज्ञात होता है, किन्तु मेरा अनुभव यही है कि जिस समय का मैं वर्णन कर रहा हूँ उस समय कम-से-कम जालन्धरी आर्यों में श्रद्धा की मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। यह स्वयंसिद्ध सचाई है कि जिस समय आराम लेकर सब इन्द्रियाँ स्वस्थ होती हैं उस समय (ब्राह्ममुहूर्त में) मनुष्य के आत्मा पर बुराई वा भलाई दोनों का प्रभाव प्रबल पड़ता है। इसी सचाई को अपना पथदर्शक मानकर कुछ जालन्धरी आर्य हाथों में एकतारा ले चार बजे प्रातः घर से निकलते और 'आसा' के शक्तिदायक आलाप के साथ वैराग्य, श्रद्धा-भक्ति और ईश्वर-स्तुति के भजन गाना आरम्भ करते थे। हमारे काम का ढंग यह था कि मुहल्ले वा गली के बीचोंबीच खड़े होकर एक भजन पूरा करते और एकतारा पर स्वर छेड़ते आगे चल देते। जहाँ तक मुझे याद है पाँच वर्षों तक हम लोग अपने वार्षिकोत्सव से डेढ़-दो महीने पहले ऐसा ही अमल करते थे। कई बार हमारे साथ लाहौर ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध सभासद् लाला काशीराम तथा बाबू अविनाशचन्द्र मजूमदार भी सम्मिलित हुआ करते थे। प्रातःकाल के हरिकीर्तन के समय भी कभी-कभी विचित्र घटनाएँ होतीं। कभी किसी माता को कहते सुनता—'बेचारा बड़ा भला फकीर है, केवल भजन गाता है, माँगता कुछ नहीं', और जब फिर दरवाजा खोलकर उसके निकलते-निकलते मैं चल देता तो आवाज आती—'ऐ भाई! खैर ले-जा!' किन्तु जब मैं लौटकर भीख के लिए आँचल फैलाता, तो देवी को विस्मित देखकर बतला देता कि मैं आर्यसमाज का भिक्षु हूँ और इसलिए फेरी डालता हूँ कि नर-नारी धर्म-पिपासा बुझाने के लिए आर्य-मन्दिर में एकत्र हों। कई देवियाँ तो हमें भिखमंगे समझकर ही अनाज, पैसा, दुअन्नी, चौअन्नी, आँचल में डाल जातीं। मुझे याद है कि एक सवेरे की भीख की कमाई १० रुपये से कुछ अधिक मैंने उत्सव-निधि में दी थी। वे दिन कैसे स्वच्छ और सुन्दर थे, और उन्होंने मेरे आत्मा की उन्नति में क्या किया, उसे स्मरण करके कभी-कभी हृदय मुग्ध हो जाता है और मुझे पश्चात्ताप होता है कि ऐसी शान्ति-दायक सेवा से पृथक् होकर क्यों पत्थरों से टकराने का कठिन काम पकड़ लिया।

शायद यह प्रातःकाल का नगरकीर्तन बहुत वर्षों तक चलता, किन्तु जब कुछ विरोधियों ने ढोलक को गले में डालकर प्रातः रासलीला और आर्यसमाज को गालियों के भजन गाने आरम्भ किए और पंजाबी वाग्-व्यवहार के अनुसार हरि-कीर्तन के स्थान में 'धम्मड़ धस्सा' मच गया तो जालन्धर आर्यसमाज के धर्मप्रचार का एक बड़ा अंग शिथिल हो गया।

जालन्धर आर्यसमाज का तीसरा वार्षिकोत्सव

यह उत्सव मेरे लिए सदा स्मरणीय रहेगा। पहला कारण तो यह है कि उसी उत्सव पर सबसे पहले नगरकीर्तन की शक्ति का मैंने अनुभव किया। लाहौर आर्य-

समाज के उत्सव के पश्चात् जहाँ पहले संन्यासी स्वामी स्वात्मानन्द जी आर्यसमाज को मिले वहाँ श्री स्वामी अच्युतानन्द जी पण्डित गुरुदत्त की विद्वत्ता और उनके धर्मभाव के काबू चढ़कर अपनी बड़ी मण्डली को छोड़ (जिसके वह महन्त थे) शुद्ध वैदिक धर्म की शरण में आ चुके थे। इन सब स्वामियों को साथ लेकर लगभग चालीस आर्यभाइयोंसहित १० पौष, संवत् १९४५ (२५ दिसम्बर, १८८८) के मध्याह्नोत्तर पण्डित गुरुदत्त जी रेल पर से उतरे। स्वर्गीय लाला साईंदास और लाला हंसराज जी बी० ए० भी साथ ही उतरे, किन्तु रात की ट्रेन से ही अजमेर पधार गये। उन्हें परोपकारिणी सभा के सम्बन्ध में पूरा भाग लेने की लगन थी और गुरुदत्त को वैदिक धर्म के प्रचार की। मुझे उन दिनों पता ही न था कि धार्मिक समाज में भी राजनीति के लिए स्थान हो सकता है और इसलिए अजमेर से पत्र प्राप्त होने पर भी मैं जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव की तैयारी में लगा रहा।

नगरकीर्तन क्या था, सारे नगरवासियों के लिए प्रेम और शान्ति का सन्देश था। बाजे के साथ 'ओ३म्' का झण्डा लिये जालन्धर के एक प्रसिद्ध रईस, उनके पीछे पण्डित गुरुदत्त संन्यासी-मण्डल सहित वेदमन्त्रों की अमृतवर्षा करते जा रहे हैं, और उस साधुमण्डल के पीछे गृहस्थों के कई दल हरि-यश गान करते हुए जा रहे हैं। 'आँ-आँ ! ऊँ-ऊँ !' का अलाप-वलाप कुछ नहीं और ना ही बाँह हिलाने से काम, किन्तु नगर-वासियों पर प्रभाव ऐसा कि सारे बाजारों में शान्ति का राज्य दिखाई देता था।

दूसरी स्मरणीय बात उतारे के स्थान में पहुँचकर सब भाइयों का सन्ध्या करना था जिसके पश्चात् सबने इकट्ठे होकर हवन किया। फिर स्वामी स्वात्मानन्द जी ने सन्ध्या की विधि और उसके लाभों पर व्याख्यान दिया और बहुत रात जाते तक आर्यभाई संन्यासी महात्माओं तथा पण्डित गुरुदत्त जी से धर्मविषयक निर्णय करते रहे।

संन्यासियों को सन्ध्या-अग्निहोत्र में सम्मिलित होते देख मुझे सन्देह हुआ था। मैंने पण्डित गुरुदत्त जी से अपनी शंका प्रकट की। पण्डित गुरुदत्त जी ने कहा कि जो संन्यासी, महात्मा, योगी हैं और सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त, अल्पाहारी तथा उच्चकोटि के साधनसम्पन्न हैं उनके इन बन्धनों से सर्वथा मुक्ति का विधान है। किन्तु जो संन्यासी दिन-रात गृहस्थों की सेवा में लगे हुए सब प्रकार के भोजन-छादन में फँसे हुए हैं उन्हें दो काल सन्ध्या तथा अग्निहोत्र करना ही उचित है। इसी समय उन्होंने श्वेताश्वतरोपनिषत्[1] का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया था—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

शायद यही कारण है कि पण्डित गुरुदत्त के सत्संग में रहे हुए सर्व संन्यासी

१. अध्याय २, श्लोक १३

महात्मा दोनों काल सन्ध्या करते हैं जबकि उन संन्यासी महात्माओं से कम साधना-वाले अन्य पुरुष सन्ध्या करने में अपना अपमान समझते हैं।

तीसरी विशेषता यह थी कि इस उत्सव ने सर्वसाधारण को निश्चय करा दिया कि आर्यों में वेदशास्त्र के जाननेवाले प्रगल्भ विद्वान् विद्यमान हैं।

११ पौष, संवत् १९४५ (२६ दिसम्बर, १८८८) के प्रातः स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज का धर्मोपदेश संस्कृत भाषा में हुआ। इस व्याख्यान के लिए पौराणिक पण्डितों को निमन्त्रण-पत्र मैंने अपने हाथ से लिखकर भेजे थे। स्वामी जी ने नवीन वेदान्त का खण्डन करके जब वैदिक मत की स्थापना की तो एक पौराणिक पण्डित, जिसके हाथ में उक्त स्वामी जी का ही पुराना उपनिषद्-भाष्य था, बोला, "इसमें क्या लिखा है और अब आप क्या अनर्थ कर रहे हो ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"वह भी तो मेरा ही ग्रंथ है, अब आँखें खुलने पर मैंने ही उसका संशोधन किया है।" पौराणिक पण्डित चुप हो गया। तीसरे पहर प्रश्नोत्तर (शंका-समाधान) का समय था। पहले जालन्धर के प्रसिद्ध वेदान्ती मौनी जी को लोगों ने वेदी के सामने कुर्सी पर शास्त्रार्थ के लिए बैठा दिया। आर्यसमाज की वेदी पर पं० श्री गुरुदत्त जी आ विराजे। मौनी जी को प्रश्न करने की आज्ञा हुई, किन्तु वह तो मौनी ही निकले—मौन साधके बैठे रहे, कुछ भी न बोले। तब उन्हें संकेत किया गया कि कुर्सी से नीचे आ जाएँ, जिससे दूसरों को शंका-समाधान का समय मिले, किन्तु मौनी जी ऐसे जमे कि जड़-भक्त बन गये। तब उन्हें स्पष्ट कहकर नीचे बैठाया गया। इसी समय किसी ने नियोग और विधवा-विवाह पर प्रश्न किये। स्वामी स्वात्मानन्द जी ने बड़ा उत्तम समाधान किया। बालविधवा के विवाह को पण्डित गुरुदत्त जी ने ऐसी प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया कि करतार-पुर (जिला जालन्धर) के एक प्रसिद्ध साहूकार ने अपनी बालविधवा पुत्री का विवाह कर देने का दृढ़ संकल्प धारण किया। भाई देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी भी उसी समय से बालविधवा-विवाह के पक्षपाती हुए थे।

सायंकाल को पण्डित गुरुदत्त का व्याख्यान था। जालन्धर में उनकी धूम थी। बड़े बीची साहब, स्पैन्सर साहब, वकील और कुछ अन्य अंग्रेज सुनने आये थे। पण्डित जी बड़ी गम्भीर भूमिका बाँध रहे थे। पण्डित जी की भूमिका सर्वसाधारण अनपढ़ों के लिए शुष्क-सी प्रतीत होती थी, किन्तु सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों की तरह जो भद्रपुरुष आधा घण्टे की (उनके लिए नीरस) भूमिका को सहन कर लेते उनको फिर पौन घण्टे तक स्वर्ग के झकोलों का आनन्द आता। मैं किसी काम के लिए उठा और प्रबन्ध एक और महाशय के सुपुर्द हुआ। लोगों ने उन्हें तंग किया कि पण्डित गुरुदत्त का कुछ समय बाबू वेचाराम जी को देकर अन्तिम अपील उनसे करायी जावे। स्थानापन्न सभापति ने लिखकर दिया—

"आपके पश्चात् बाबू वेचाराम जी अपील करेंगे।" संस्था के दास गुरुदत्त ने

पाँच मिनट में ही व्याख्यान समाप्त करके सबको आश्चर्य में डाल दिया।

पण्डित गुरुदत्त का गुरुत्व

बेचाराम बाबू के हाथ-पैर मारने और भाषा की बेजोड़ गढ़न्त पर कुछ जोशीले आर्यसमाजी तो प्रसन्न हुए किन्तु जितने अंग्रेज और अन्य सुशिक्षित पुरुष आये थे वे उठकर चले गये। उन अंग्रेज भद्रपुरुषों ने पीछे मुझसे शिकायत की कि ऐसी विशाल भूमिका के पश्चात् न जाने कैसा सारगर्भित व्याख्यान होना था जिससे उनको वंचित रक्खा गया। १३ पौष (२८ दिसम्बर) को प्रातःकाल ही सब स्वामियों को देवराज जी अपने यहाँ ले-गये किन्तु पण्डित गुरुदत्त जी लाला बालकराम को साथ ले मेरे यहाँ पहुँचे। वहाँ से दुग्धपान करके एक बड़ा चक्कर काटते हुए हम तीनों लाला देवराज के मकान को चल दिये। बालकराम जी को प्रश्नों द्वारा दूसरों की सम्मतियाँ जानने का बहुत अभ्यास था। बहुत-से अन्य प्रश्नों के पश्चात् आपने पूछा—"पण्डित जी, नेशनल कांग्रेस के बारे में आपकी क्या राय है ?" पण्डित जी चलते-चलते खड़े हो गये और बोले, "नेशनल कांग्रेस के बारे में मेरी क्या राय है ? अच्छा, एक बड़े मैदान में लकड़ियों का एक ढेर लगाइए और उनमें आग लगा दीजिए। उस ढेर के चारों ओर ऊँचे मीनारों पर पानी के नल लगा दीजिये। फिर एक ओर तो भड़की हुई आग में ईंधन डालते जाइए और दूसरी ओर पानी के नलकों में से सीधी धारा उस ज्वाला पर छोड़ते जाइए। यह है नेशनल कांग्रेस जिसका उद्देश्य कांस्टिट्यूशनल एजिटेशन (वैध आन्दोलन) है।" लाला बालकराम ने दूसरा प्रश्न न पूछा और हम सब देवराज की हवेली में पहुँच गये।

उसी दिन राय रामलाल ली इंजीनियर ने दूसरे दिन के लिए भी पण्डित-जी को उनके साथियोंसहित भोजन का निमन्त्रण दिया और प्रार्थना की कि पण्डित जी का एक व्याख्यान अवश्य कराया जाय क्योंकि पहला व्याख्यान अधूरा छूटने से शिक्षित दल को शान्ति नहीं हुई। पण्डित जी ने उत्तर में कहा, "मुझे नयी बात सुनाने के लिए सूझी नहीं फिर कैसे कह सकता हूँ कि व्याख्यान दूंगा वा नहीं ?" इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वक्ता जॉन ब्राइट की नाईं पण्डित गुरुदत्त बिना आवश्यकता और अनुभव के बोला नहीं करते थे। अस्तु !

देवराज जी के यहाँ सबने इकट्ठे भोजन किया और फिर विविध विषयों पर बातचीत होती रही। मध्याह्नोत्तर मैं और बालकराम जी धर्म-सभा के जलसे में जो जुआखाने के मैदान में हो रहा था, जाने के लिए तैयार हुए। पण्डित गुरुदत्त ने भी चलने की इच्छा प्रकट की। शायद बालकराम जी ने उन्हें मना करके कहा— "पण्डित जी ! व्याख्यानों की रिपोर्ट हम आपको दे देंगे। आप हमारे शिरोमणि लीडर हैं, आपको हम नहीं ले-जाएँगे।" पण्डित जी का उत्तर घड़ा-घड़ाया था।

संन्यासी स्वामियों की ओर संकेत करके बोले, "गद्दी पर इन सबको बैठने दो, मुझे तो सुनने में ही आनन्द आएगा।" यह कहकर हमारे साथ हो लिये। दशोपनिषद् का गुटका हाथ में था। जलसे में पहुँच, एक ओर खड़े हो गये। एक पण्डित मूर्तिपूजा का खण्डन कर रहे थे; देर तक सुनने के पश्चात् पण्डित जी ने कहा—"लीजिए ! अब जनसाधारण के लिए सन्देश सूझ गया, अब आपका जी चाहे तो नोटिस दे दीजिए।" मेरे इशारा करते ही उसी जन-समुदाय में से २५ आर्यभाई इकट्ठे हो गये। सबको कह दिया कि सभा विसर्जन होते ही निकलनेवालों को पण्डित जी के व्याख्यान की सूचना देते जाएँ। सभा विसर्जित हुई और काम शुरू हो गया। हम लोग तो दूसरी ओर से समाज-मन्दिर को चले और जन-समुदाय ने सीधा आर्य-मन्दिर का रास्ता लिया। हमारे पहुँचते-पहुँचते चार-पाँच सौ आदमी इकट्ठे हो गये। एक भजन समाप्त होने पर आँख उठायी तो दो सहस्र की भीड़ दिखाई दी। राय शालिग्राम, वजीर कर्मचन्द्र मण्डीवाले, पण्डित जविन्दलाल म्युनिसिपल कमिश्नर आदि नगर के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित सज्जन कुर्सियों और बेंचों पर शोभायमान थे। पण्डित गुरुदत्त ने शनैः-शनैः भूमिका उठाकर परमात्मा का निरूपण किया और फिर आत्मा के साथ उसके सम्बन्ध का चित्र खींच निराकार पूजन के मण्डन में ही मूर्तिपूजा का खण्डन कर दिया। फिर जब जनता के लिए प्रेम के भाव से प्रेरित होकर कहा—"मुझे बड़ा कष्ट होता है, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि मेरे पिता के ही पुत्र, मेरे भाई, चेतन के पुत्र होते हुए, जड़ का पूजन करते हैं" तो उस समय लोगों के दिल भर आये। वजीर कर्मचन्द्र की, अन्य सामग्री के अतिरिक्त, एक मन से कम बोझ की मूर्तियाँ न होंगी जिनका वह नित्य पूजन किया करते थे। उन्होंने राय शालिग्राम से कहा—"कल से मैं मूर्तिपूजा कदापि न करूँगा।"

पण्डित जी के पश्चात् औरों के भी व्याख्यान हुए। स्वामी प्रकाशानन्द ने हँसाते-हँसाते लोगों को लोटपोट कर दिया, किन्तु पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान का अन्त तक बड़ा प्रभाव रहा। इस प्रभाव का पता उस वाक्य से लगता था, जो अकस्मात् धर्मसभा के स्तम्भ, पण्डित जविन्दलाल के मुँह से आर्यसमाज मन्दिर से बाहर होते ही निकला; उन्होंने अपने साथियों से कहा—"अज्ज मूर्तिपूजा दी 'बो काटे' हो गयी !" सचमुच जैसे उस्ताद के ढील देने पर अनाड़ी के हाथ की तुक्कल[1] कटकर नाक की सीध पर चल देती है वैसे ही उपस्थित सज्जनों के मनों से मूर्तिपूजा पलायन कर गयी।

पण्डित गुरुदत्त चौमुखी चलते थे

१३ पौष (२८ दिसम्बर) की रात को मैं भाई देवराज जी के यहाँ ही सोया

१. पतंग

था। १४ पौष (२६ दिसम्बर) को प्रातःकाल स्नान, सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत्त होकर पण्डित गुरुदत्त जी को उनके नियत स्थान में न पाया; पूछने पर पता चला कि पण्डित जी दो बजे से ही स्नान करके एकान्त स्थान में दरवाजे बन्द कर अपनी योगक्रिया में निमग्न हैं। ८ बजे जब किवाड़ खुले तो मुझसे एकान्त में बातचीत हुई। मैंने पण्डित जी से पूछा तो पता लगा कि जबतक एकान्त में न्योली कर्म न कर लें तबतक वे अपना अभ्यास नहीं कर सकते। मैंने निवेदन किया कि यदि पूरा अभ्यास जारी रखते हुए बढ़ाना है तब तो व्याख्यान, लेखादि का कार्य बन्द कर देना चाहिए और यदि यह काम जारी रखना है तो अभ्यास को साधारण अवस्था में लौटाकर कुछ काल वहीं स्थित करना चाहिए। पण्डित जी मेरे साथ सहमत होते हुए बोले, "मुंशीराम जी! जानता मैं भी सब-कुछ हूँ, किन्तु एक ओर तो अभ्यास का आनन्द नहीं छोड़ा जाता और दूसरी ओर जब सज्जन आ घेरते हैं तो उन्हें कोरा जवाब देना मेरी शक्ति से बाहर हो जाता है।" मैं इस सरल उक्ति का क्या उत्तर दे सकता था? किन्तु जब-तब भी कभी-कभी रात को एक सर्द आह दिल से निकलती है और हृदय पुकार उठता है—'हा! गुरुदत्त के मूर्ख मित्रो! तथा अन्धे श्रद्धालु भक्तो! यदि तुम जानते कि अपने पूज्य पण्डित जी को दो-दो बजे रात तक पठन-पाठन और शंका-समाधान के लिए जगाकर तुम उन्हें मौत के मुँह में धकेल रहे हो तो तुम्हें कितना अनुताप होता?' किन्तु इसमें भी शायद परम-पिता की ओर से हमारे लिए शिक्षा थी जिसे यदि हम समझते तो कृतार्थ हो जाते।

१४ पौष (२६ दिसम्बर) के सवेरे की दो घटनाएँ मुझे याद हैं। भाई देवराज के कचहरीवाले कमरे में तीन खिड़कियोंवाले ऊँचे चबूतरे पर संन्यासी-मण्डल बैठा हुआ है और उस बड़े दालान के एक ओर एक चारपाई पर पण्डित गुरुदत्त जी लेटे हुए हैं। उनका एक चेला (चौधरी रामभजदत्त) चारपाई की पाटी पकड़े नीचे बैठा है। गुरु-शिष्य में कुछ गोष्ठी हो रही है। अकस्मात् मेरा बुलावा होता है—'मुंशीराम जी! इधर आइए।' मैं जाकर चारपाई पर बैठ जाता हूँ—"कहिए, क्या आज्ञा है?" पण्डित जी ने पूछा—"सच कहिए, क्या एक आदमी वकालत करते हुए काँसेंसस (Conscientious, पुण्यात्मा) रह सकता है?" मेरे उत्तर में एक पल की देर न थी—"मेरा अनुभव यह है कि नहीं रह सकता।" इसपर पण्डित जी ने अपने शिष्य से कहा, "देखो, जिनका तुमने दृष्टान्त दिया था, जब वह भी मानते हैं कि एक धार्मिक मनुष्य के लिए यह पेशा ठीक नहीं तो तुम मुखतारी का खयाल क्यों नहीं छोड़ देते? तुम स्वयं शिक्षा ग्रहण कर कहीं शिक्षक बनो, इस प्रकार तुम सैकड़ों युवकों को सदाचारी बना सकोगे।" रामभजदत्त ने अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर सिर झुका दिया और उसी समय से मुझे इस युवक के साथ विशेष प्रेम हो गया। प्यारे गुरुदत्त! यदि तुम्हें अकालमृत्यु का ग्रास न बनना पड़ता

तो वीर रामभजदत्त सांसारिक प्रलोभनों से सुरक्षित रहकर न जाने किस उच्च पद को प्राप्त होता ! किन्तु—

होइ है सोइ जो राम रचि राखा

एक दूसरी घटना दूसरा रंग लिये हुए थी जिसका वर्णन पण्डित गुरुदत्त जी की सत्यप्रियता तथा निर्भयता का परिचय देगी। यह वही व्यसन था जिसका अनुकरण करते हुए मैंने भी बीसियों शत्रु बना लिये हैं। बिजवाड़ा ग्राम (श्री महात्मा हंसराज जी की जन्मभूमि) के श्री लाला ठाकुरदास रईस धर्मसभा के जलसे पर आये हुए थे। वे हमारे स्वामियों के दर्शनार्थ आये। भाई देवराज ने उनपर काम करना आरम्भ किया—"देखिए लाला जी ! देवी को जगन्माता कहते और फिर उसके स्थान पर बकरे-भैंसे काटते हैं, क्या यही सनातनधर्म है ?" इत्यादि । लाला ठाकुरदास जी बूढ़े अनुभवी पुरुष थे, बात को टाल गये। कुछ देर के पश्चात् देवराज जी से पूछा—"भला जी ! हमारे यहाँ के चिरंजीव हंसराज जी तो आपमें बड़े माननीय हैं।" देवराज जी को और क्या चाहिए था, फिर आलाप शुरू कर दिया, "हंसराज जी तो महात्मा हैं। हम सबमें शिरोमणि हैं। भला बताइए कि सनातनधर्म सभा में उनके त्याग का कोई मुक़ाबिला करनेवाला है? लाला जी ! सनातनधर्म तो हमारा है, वह नहीं जिसे आप समझते हैं।" लाला ठाकुरदास जी बड़ी सरलता से बोले, "हमारे चिरंजीव हंसराज जी मांस खाते हैं, फिर जो आचरण अपना एक शिरोमणि महात्मा करता हो वह पाप कैसे हो सकता है ?" बस फिर क्या था, दो-तीन पल के लिए तो सन्नाटा छा गया। स्वामी अच्युतानन्द जी ने पण्डित गुरुदत्त जी को सम्बोधन करके पूछा कि ऐसे घोर आक्षेप का खण्डन क्यों नहीं करते ? पण्डित जी ने उत्तर दिया, "पाँच दिन हुए तब तो खाते थे, अब छोड़ दिया हो तब तो मुझे ज्ञान नहीं।" यह अपने अन्दर कितना साहस रखता था, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि ऐसे उत्तरों ने पण्डित गुरुदत्त जी के शत्रुओं की संख्या बहुत बढ़ा दी थी और अन्त को वह दिन आया कि जिस दयानन्द कॉलिज की कृतकार्यता के लिए गुरुदत्त ने किसी से कम परिश्रम नहीं किया था, उसके निर्माणकर्ताओं में से उनका नाम ही उड़ा दिया गया।

लाला ठाकुरदास जी बिजवाड़ी के कथन ने मुझे बहुत विस्मित किया। मेरे स्वप्न में भी उस समय तक यह नहीं आ सकता था कि एक मनुष्य आर्यसमाज का सभासद् होता हुआ भी मांसाहारी हो सकता है। श्री महात्मा हंसराज जी के आत्म-त्याग के लिए तो वही श्रद्धा मेरे मन में स्थिर रही, किन्तु मांस-भक्षण के विषय ने लाहौरी आर्य लीडरों पर से मेरी श्रद्धा कम कर दी।

उसी शाम को धर्मसभा के जलसे में पण्डित गुरुदत्त जी फिर गये। दीवान रामजस सी० एस० आई०, कपूरथलेवाले भी वहाँ उपस्थित थे। वे उठकर आये

और पण्डित गुरुदत्त जी को हम लोगों सहित अन्दर ले-गये। दीवान जी ने एक लम्बी वक्तृता में पण्डित जी से पूछा कि जब दोनों सभाओं की माननीय धर्मपुस्तक एक है तो क्या मेल असम्भव है? पण्डित जी ने उत्तर दिया कि असम्भव तो नहीं है किन्तु यदि आप आज रात को मेरा व्याख्यान सुनें और कल मुझे अपना आशय प्रकट करने के लिए दो-तीन घण्टे दें तो बहुत-कुछ हो सकेगा। श्री दीवान जी ने प्रतिज्ञा की कि ऐसा ही करेंगे। किन्तु जब आर्यसमाज मन्दिर के पास बग्घी पहुँची तो उसके खड़े होते ही मिश्र अछरूमल जी ने दीवान जी के पैर पकड़ लिये और कहा—"यदि अब भी तुम उस आर्य का व्याख्यान सुनने जाओगे तो तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।" दीवान जी मजबूर होकर चले गये और पण्डित गुरुदत्त ने अपना अन्तिम व्याख्यान दिया।

पण्डित गुरुदत्त के सत्संग से इस बार मुझे बड़ा लाभ हुआ। जहाँ मैंने एक अपूर्व नया मित्र बनाकर धर्म-प्रचार में उत्साह प्राप्त किया वहाँ पण्डित गुरुदत्त के मेरे विषय में सन्देह दूर हो गए और उनको मेरे साथ प्रीति हो गयी। पण्डित गुरुदत्त को न जाने किसने यह विश्वास दिलाया था कि जालन्धरवालों को मेरे कारण ब्राह्मो स्पिरिट है। शायद उनको यह विश्वास इसलिए हुआ हो कि हम जालन्धरियों का वैयक्तिक प्रेम कुछ ब्राह्मसमाजी भाइयों के साथ था और वे हमारे उत्सवों के संकीर्तन में सम्मिलित हुआ करते थे। पण्डित गुरुदत्त ने अपनी भूल मानकर जो शब्द कहे थे, उसने हम दोनों को हमेशा के लिए एक ग्रन्थि में बाँध दिया। पण्डित जी ने कहा—"यदि मैं यहाँ न आता तो शायद हमेशा के लिए एक सहकारी को खो बैठता।"

जालन्धर आर्यसमाज के इसी वार्षिकोत्सव पर मैंने उपन्यास-पठन (नॉवल-रीडिंग) को हमेशा के लिए 'नमस्ते' कह दी थी। उससे पहले एक वर्ष से मैं इस दुर्व्यसन को त्यागने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु कृतकार्यता न होती थी। शतरंज की तरह इसने भी बहुत-सा समय व्यर्थ खराब कर रक्खा था। परमेश्वर की दया से इसके पश्चात् दोनों ने पिण्ड छोड़ दिया।

इस वार्षिकोत्सव पर बहुत-से नये सभासद् आर्यसमाज को मिले। पण्डित छज्जूराम वकील इसी समय आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए थे। वे चार-पाँच महीनों के पश्चात् ही आर्यसमाज से पृथक् हो गये, किन्तु उनके बिछोड़े ने भी आर्यसमाज जालन्धर के गौरव का प्रमाण दिया। पण्डित छज्जूराम और सब सिद्धान्तों में तो आर्यसमाज के साथ सहमत थे, परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने में उन्हें संकोच था। उनका त्यागपत्र १० वैशाख १९४६ विक्रमी के 'सद्धर्मप्रचारक' में छपा है। शिक्षाप्रद होने के कारण मैं उसका अनुवाद यहाँ देता हूँ—"आप मेरा नाम आर्यसमाज के रजिस्टर में से खारिज कर दीजिए। संक्षिप्त कारण इस प्रार्थना-पत्र का यह है कि मैं तीसरे नियम पर पूरे तौर पर विश्वास नहीं रखता और मैं

यह नहीं चाहता कि जबतक मेरा पूरा विश्वास न हो, अपने-आपको भी आक्षेपों का लक्ष्य बनाऊँ और समाज की सुकीर्ति बढ़ाने का साधन होने के स्थान में उलटा प्रभाव डालूँ। मैं यह भी प्रकट करना चाहता हूँ कि यद्यपि एक नियम पर मेरा विश्वास नहीं है परन्तु मैं बहुत-से अन्य विषयों में आर्यसमाज के सभासदों के साथ सहानुभूति रखता हूँ और रखता रहूँगा।" कैसा स्वर्णीय समय था, जब इस प्रकार सचाई का राज्य था, और कहाँ आज का समय कि दुराचारी और आपापन्थी आदमी भी मुँह छिपाकर समाज से पृथक् होने के स्थान में अपना जत्था खड़ा करके समाज में दनदनाते और उल्टे कोतवाल को डाँटनेवाले चोर के सदृश समाज को कलंकित करते रहते हैं!

इसी समय मेरे दो बड़े भाई और कुछ अन्य सम्बन्धी आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए जिसके कारण मुझे वैदिक सिद्धान्तों पर चलने में अधिक सुगमता हो गयी।

एक अन्तिम लाभ इस उत्सव का एक जैन साधु का आर्य-धर्म में प्रवेश था। पूजमोनी रिख (पूज्य मुनि ऋषि) नकोदर में रहता था। मेरे दो व्याख्यान सुन उसकी रुचि वैदिक धर्म की ओर बढ़ी; अपने दल में ही शास्त्रार्थ करके जालन्धर में आ गया। १३ पौष (२८ दिसम्बर) के दिन दो बजे उसका प्रवेशसंस्कार करके नाम 'ब्रह्मचारी ऋषि' रक्खा गया। इस प्रकार यह वार्षिकोत्सव मेरे लिए अनगिनत आशीर्वादों की वर्षा करके समाप्त हुआ।

कृतकार्यता का मद

जालन्धर आर्यसमाज के तृतीय वार्षिकोत्सव की कृतकार्यता ने मुझे ऐसा उन्मत्त कर दिया कि कुछ दिनों तक सब आर्यसमाजी कामों से उदासीनता को मैंने अपना अधिकार समझ लिया। उन दिनों मेरे आत्मा का क्या आदर्श था, यह बतलाने के लिए मैं अपनी डायरी का अनुवाद नीचे देता हूँ। अनुवाद इसलिए कि उस समय तक कालिजी शिक्षा का प्रभाव दूर नहीं हुआ था और मैं अंग्रेजी में ही डायरी रखने का अभ्यासी था।

"ओ३म्—अब सन् १८८९ का आरम्भ है। पहले महीने (जनवरी) के २५ दिनों तक मैंने वास्तव में कुछ नहीं किया—कुछ भी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समाज ने जो कृतकार्यता इस उत्सव में प्राप्त की उसने मेरी शक्तियों को सर्वथा शिथिल कर दिया। इस वर्ष हमारे समाज पर परमपिता परमात्मा की बड़ी कृपा हुई है। उसके अनुग्रह के आधिक्य ने मुझे विवश कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि हम-से पापियों का स्थापन किया हुआ समाज उन्नत हो रहा है, किन्तु जब सोचता हूँ कि उसी उसी परमपिता का सच्चा अनुग्रह है तो आश्चर्य दूर हो जाता है। हे प्रभो! मुझे सर्वप्रकार की पापकामनाओं से बचाइए; मुझे सत्य की ओर ले चलिए और वह मेधा प्रदान कीजिए जिसकी खोज में प्राचीन ऋषि कई

जीवन अर्पण कर देते थे। हाँ, सचमुच उत्सव की कृतकार्यता ने मुझे शिथिल कर दिया था, जिससे मैंने आज सायंकाल ही मुक्ति उपलब्ध की है।"

फिर डायरी में लिखा है—

"शुक्रवार २५ जनवरी—प्रातः उठकर कल का बचा 'पायोनियर' अखबार पढ़ा। फिर स्नान-सन्ध्यादि से निवृत्त होकर कुछ बहुत ही आवश्यक पत्र लिखे। १० बजे कचहरी गया और न्यायाधीशों की कृपा से १ बजे कार्य समाप्त करके समाज-मन्दिर में आ गया। वहाँ अलावलपुर ग्राम का एक पत्र मिला। व्याख्यान के लिए निमन्त्रण था। उत्तर भेज दिया कि दूसरे दिन आऊँगा। इमारत बन रही है। एक घण्टा समाज का काम किया। देवराज जी आकर मुझे अपने यहाँ ले-गये। वहाँ वजीर कर्मसिंहजी (जिन्होंने मूर्तिपूजा छोड़ दी थी) के साथ बड़ी उत्तम चाय पी, फिर कम्पनी बाग में गया और सर्दार प्रतापसिंह (अहलूवालिया सी० एम० आई०) और राजकुमार मियाँ जनमेजय के साथ टैनिस की तीन बाजियाँ खेलीं। छह बजे घर लौटा। सन्ध्या के पश्चात् सुस्ती छोड़ देने का प्रण किया, फिर भोजन के पश्चात् ६ बजे तक पढ़ता रहा।"

धर्म-प्रचार की लगन

१३ माघ (२६ जनवरी) को जालन्धर आर्यसमाज के अन्य सभासदोंसहित अलावलपुर चल दिया। तीन बजे हम जब अलावलपुर पहुँचे तो लोग प्रतीक्षा में बैठे थे। साढ़े तीन बजे आर्यसमाज के नियमों पर व्याख्यान आरम्भ हो गया। डेढ़ घण्टे तक मैंने आर्यसमाज का उद्देश्य समझाया, जिसके पश्चात् शंका-समाधान के लिए समय दिया गया। बहुत-से प्रश्न हुए जिनका प्रेमपूर्वक उत्तर देकर उसी शाम साढ़े सात बजे जालन्धर लौट आया।

इसके तीसरे दिन १५ माघ (२८ जनवरी) की डायरी में लिखा है—

"गौरीशंकर आज आया, जिससे बातचीत करने पर पता लगा कि लसाड़ा ग्राम में हमारे काम के लिए बड़ा मैदान है। बहुत-से प्रतिष्ठित ग्राम-निवासी हमारे सिद्धान्तों के साथ सहानुभूति रखते हैं। गृहस्थ मुझे अपने अन्तरात्मा की आवाज सुनने से रोकता है, नहीं तो बहुत काम हो सकता। फिर भी जो कुछ कर सकता हूँ उसके लिए परमात्मा को धन्यवाद है।"

इन दिनों अहर्निश वैदिक धर्म को फैलाने की ही धुन लगी रहती। १६ माघ (२९ जनवरी) को दिन-रात वर्षा होती रही। कचहरी के काम के अतिरिक्त शेष समय मैंने नये ब्रह्मचारी मुनि ऋषि को दिया। उसे ब्रह्मचर्य के नियम समझाकर उससे प्रतिज्ञा ली कि वह विवाह के समय तक बराबर इन नियमों के अनुकूल चलता रहेगा। इस ब्रह्मचारी ने जैनधर्म-सम्बन्धी अपनी सब पुस्तकें आर्यसमाज जालन्धर को भेंट कर दी थीं और जब आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की रजिस्ट्री

होकर लाहौर में वैदिक पुस्तकालय खोला गया उस समय वे सब हस्तलिखित पुस्तकें उस पुस्तकालय में रख दी गयीं। मुझे ज्ञात नहीं कि अब उन स्मरणीय पुस्तकों की क्या दशा है।

ब्रह्मचारी से निबटकर मैंने कई भद्र पुरुषों को सन्ध्या की विधि समझायी। इस प्रकार का समयविभाग नित्य ही रहता था। १७ माघ (३० जनवरी) को प्रातःकाल ही अजमेर से पत्र मिला जिसमें लिखा था कि पौराणिकों ने जालन्धर शहर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के विषय में बहुत-कुछ असत्य अपवाद फैलाया है। मैं उसी समय लाहौर की 'आर्यपत्रिका' के लिए उत्सव का हाल लिखने बैठ गया। फिर कचहरी में जो भी समय खाली मिलता रहा उसमें यही काम जारी रहा और मुझे तब तक चैन न आया जबतक कि उस लेख को समाप्त करके चार बजे डाक में न डाल दिया।

१६ माघ संवत् १९४५ (१ फरवरी, १८८९) के दिन जालन्धर में गप्प उड़ी कि सनातन धर्म महामण्डल का लाहौर में बड़ा विजय हुआ है। आर्यसमाज के व्याख्यान बन्द कर दिये गये हैं। जब अपने सभासदों के लाये हुए समाचार पर मुझे विश्वास न आया तो दूसरे दिन वे लोग जालन्धर के एक अनपढ़ ब्राह्मण को ले-आये जिसने आँखों-देखी साक्षी इस प्रकार दी—'कमिश्नर साहब ने आर्यों ते सनातनी पण्डिताँ नूँ बुलाके शास्त्रार्थ कराया सी। खलकत बेशुमार सी। मैं वी सब-कुछ देखदा ते सुणदा सी। दुहाँ पासियाँ दी गल्लाँ सुणके कमिश्नर साहब ने आख्या कि आर्यसमाज मंजूर नहीं, हमान्नूँ सनातनधर्म मंजूर है।' इस बेतुकी हाँक को सुनकर मुझे तो हँसी छूटी किन्तु हमारे सभासद् मेरे पीछे ही लगे रहे। तब उसी रात को रेल में मैं लाहौर चला आया। वहाँ का हाल मेरी २१ माघ (३ फरवरी) की वृत्तान्तपंजिका में इस प्रकार लिखा है—

"साढ़े सात बजे समाज-मन्दिर में पहुँचा। वहाँ चिरंजीव भी था। वहाँ पता लगा कि जो किंवदन्तियाँ फैलायी गयी थीं और जो कुछ 'कोहेनूर' में निकला था वह सब गप्प है। उसी समय सनातनधर्म-मण्डल के उत्तर में बाबू मुन्नालाल और स्वामी स्वात्मानन्द जी के व्याख्यान हुए। तब एक बड़े विद्वान् संन्यासी स्वामी महानन्द जी नें अपनी सेवा आर्यसमाज के अर्पण की। स्वामी जी के बहुत साधु शिष्य हैं और उनकी विद्या की पण्डित गुरुदत्त ने स्वयं प्रशंसा की। उस समय बीस अन्य महाशयों ने समाज में प्रवेश के लिए प्रार्थना-पत्र दिये। यह भी सुनाया गया कि पैंतीस नये सभासद् पहले प्रविष्ट हो चुके हैं। उस समय उत्साह की लहर चल रही थी। सभा ११ बजे विसर्जित हुई।

भोजन के पश्चात् मैं भी लाला साईंदास जी के यहाँ गया। वहाँ स्वामीगण, लाला हंसराज, लाला मुल्कराज और चिरंजीव भी थे। अन्य आवश्यक कार्य उपस्थित हो जाने के पश्चात् मैंने यह विषय उपस्थित किया कि लकीर के फकीर बनते

हुए आर्यसमाजियों को पुरानी संकुचित जातियों में विवाह-सम्बन्ध परिमित नहीं रखना चाहिए, प्रत्युत गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था को व्यवहार में लाना चाहिए। लाला साईंदास जी ने उस समय मुझे परम अत्याचारी (एक्सट्रीम रैडिकल) की उपाधि दी। वहाँ से पण्डित गुरुदत्त के पास गया। वे मुझे पण्डित-सभा में ले-गये, जहाँ पण्डित दीनदयालु जी के मुख से मूर्त्तिपूजा का विचित्र मण्डन सुना। फिर साढ़े आठ बजे की ट्रेन से जालन्धर लौटा।"

इन दिनों आर्यभाइयों को पता लग गया कि मैं धर्म में राजीनामे का सर्वथा विरोधी हूँ। इसका एक उदाहरण मैं अपनी डायरी में से उद्धृत करता हूँ—

"५ फरवरी १८८६, मंगल, वसन्त का दिन। प्रात: सन्ध्या-अग्निहोत्र करके अन्य सभासदों को साथ लेता हुआ समाज-मन्दिर में पहुँचा। प्रथम भजन हुए, फिर सामूहिक हवन किया गया। इस समय वेदमन्त्रों का पाठ वास्तव में अत्युत्तम तथा प्रभावशाली था। फिर साढ़े ग्यारह बजे तक भजन होकर प्रीतिभोजन आरम्भ हुआ। सब भाइयों ने मिलकर सहभोज किया जिससे दो बजे निवृत्त हुए। इसके पश्चात् चार बजे तक अन्तरंग सभा होती रही। अत्यन्तावश्यक विषय इस अधिवेशन में एक रामगोपाल नामी पुरुष की शुद्धि का था, जो कुछ काल से मुसलमान हो गया था। अन्तरंग सभा ने बड़ी निर्बलता दिखाई और उसे स्वयं शुद्ध करने के स्थान में अमृतसर भेज दिया।"

यहाँ यह जतलाने की आवश्यकता है कि अमृतसर आर्यसमाज एक नत्यूराम पण्डित को फाँसे हुए था जो स्वयं दक्षिणा लेकर पतित को हरिद्वार भेज देते थे और वहाँ के पण्डे को पन्द्रह रुपये दिलवा गोबर मलकर स्नान कराने के पश्चात् शुद्धिपत्र दे देते थे जिसपर अमृतसर के आर्यसमाज की 'बूब्वेशाही' मोहर लग जाती थी। कहाँ वह समय और कहाँ आज जबकि आर्यसमाज में जन्म के ईसाई-मुसलमानादि भी बेधड़क सम्मिलित हो सकते हैं।

धर्मपरायणता का पहला दृश्य

१४ माघ (२७ जनवरी) को आदित्यवार था। उस दिन के वृत्तान्त में अपने साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित होने का हाल लिखते हुए मैंने लिखा था—

"देवराज ने सत्य पर बड़ा उत्तम और शिक्षाप्रद व्याख्यान दिया। आज के व्याख्यान में कुछ विशेष बल था।" मुझे स्मरण है कि उन दिनों देवराज जी पर धर्म का एक विशेष रंग चढ़ा हुआ था। शायद वह व्याख्यान किसी आनेवाली घटना की सूचना थी। देवराज जी के पिता ने उन्हें स्पष्ट लिख दिया था यदि आर्यसमाज का प्रचार करना है तो बर्मा आदि की ओर चले जाएँ, जालन्धर में रहकर अपने पिता को मित्रों से उलाहना न दिलाएँ। देवराज जी के सुपुर्द अपने

परिवार की रियासत का खजाना था, परन्तु उन्होंने सब हिसाब ठीक करके अपने निज जेबखर्च के डेढ़ सौ रुपये लिये और बर्मा जाने के लिए कलकत्ते चल दिये। तब पिता को होश आया और उन्होंने आदमी भेजकर उन्हें लौटा मँगाया। उधर मैंने नित्य किसी-न-किसी पास के ग्राम में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। इससे राय शालिग्राम जी को भी पता लग गया कि आर्यसमाज के प्रचार का काम किसी विशेष व्यक्ति पर ही निर्भर नहीं है।

देवराज जी के इस अपूर्व साहस का परिणाम यह हुआ कि धर्म के कार्यों में उनके रास्ते की रुकावटें दूर हो गयीं। पिता जी की दृष्टि में उनका गौरव बढ़ गया और वह बेधड़क काम करने लग गये।

इस अन्तर में अन्तरंग-सभा के अन्दर शुद्धिविषयक आन्दोलन मैंने जारी रक्खा और बहुत-से सभासदों को अपनी सम्मति के अनुकूल कर लिया। किन्तु देवराज जी के लौटने पर मामला ही स्पष्ट हो गया, क्योंकि वे अब "समय के न आने" के ढकोसले से मुक्त हो चुके थे। इन दिनों मेरा अधिक समय नगर के अन्दर प्रचार करने में लगता था, क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि कोई भाई भी देवराज जी की अनुपस्थिति को अनुभव करे। प्रेस और समाचारपत्र चलाने के विचार ने मेरा पत्र-व्यवहार भी बढ़ा दिया था, किन्तु इन सब बढ़े हुए कामों के साथ एक ओर तो मैंने भूमिका लिखकर एक भजन-पुस्तक का आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर हर्बर्ट स्पेन्सर की पुस्तकों के साथ ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य का स्वाध्याय भी आरम्भ कर दिया।

इधर यह सब-कुछ हो रहा था और उधर अपने ग्राम तलवन से दो मील दूर अपनी भूमि में लगवाने के लिए फलों के वृक्ष भेज रहा था, क्योंकि इस समय यही विचार था कि एकान्त-सेवन के लिए वहाँ एक छोटा-सा बँगला बनवाया जावे।

इन सब कामों के अतिरिक्त अपनी प्रस्तावित पुत्रीपाठशाला को भी नहीं भूला था, क्योंकि ६ फाल्गुन (२१ फरवरी) को रायबहादुर मास्टर प्यारेलाल इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स को मिलकर उसके विषय में बातचीत की थी।

'सद्धर्मप्रचारक' का जन्म

जालन्धर आर्यसमाज के तीसरे वार्षिकोत्सव से पहले ही समाज के बढ़ते हुए काम को देखकर अपना एक प्रेस खोलकर समाचारपत्र चलाने का विचार हो रहा था। उन दिनों जालन्धर और होशियारपुर के आर्यसमाजियों का भाईचारे का सम्बन्ध था, इसलिए महाशय रामचन्द्र भी हमारे विचार के साथ सहमत थे। उन्होंने मुझे लिखा कि आर्यसमाज की ओर से समाचारपत्र चलाने के लिए कोई कम्पनी बनायी जावे तो एक हिस्सा वह भी लेंगे। इसपर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर कुल १६ हिस्से पच्चीस-पच्चीस रुपये के स्थिर किये। श्री लाला रामकृष्ण

(वर्तमान प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब) जालन्धर में वकालत करने आ चुके थे और स्थानीय समाज के उप-प्रधान नियत हो चुके थे। वे भी हिस्सेदार हुए। लाला देवराज और लाला सालिगराम वैश्य (प्रसिद्ध भण्डारी, गुरुकुल काँगड़ी), कपूरथला के लाला शरणामल इत्यादि ने भी हिस्से लिये।

प्रयत्न तो पहले से ही हो रहा था, किन्तु जब लाला देवराज जी चले गये तब सभासदों को और भी अधिक जोश आया। २ फाल्गुन संवत् १९४५ (१४ फरवरी सन् १८८९) को हिस्सेदारों की एक बैठक हुई। कपूरथले से लाला गोविन्द सहाय को बुलाया गया था। इन्हीं द्वारा प्रेस आदि का सौदा हो रहा था। उसी शाम को सब-कुछ निश्चित होकर गोविन्द सहाय जी को ५० रुपये बयाना दिया गया।

निश्चय यह हुआ कि प्रेस का नाम 'सद्धर्मप्रचारक' रक्खा जाए और प्रथम वैशाख संवत् १९४६ विक्रमी से 'सद्धर्मप्रचारक' नामी डेमी छोटे आठ पृष्ठों का एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया जाए। लाला देवराज और मैं सम्पादक नियत हुए। कचहरी में प्रकाशन-पत्र (डिक्लेरेशन) देने का काम मेरे सुपुर्द हुआ, इसलिए मैं ही मैनेजर नियत हुआ।

अखबार की नीति के विषय में बड़ा झगड़ा पड़ा करता है। उसका फैसला यह हुआ कि सारी नीति का निर्भर सम्पादकों पर रक्खा जाए। उसमें कोई भी हिस्सेदार हस्तक्षेप न करे। ये सब बातें तय करके ४ फाल्गुन (१६ फरवरी) को मैंने यन्त्रालय तथा पत्र की नीति आदि के विषय में एक लेख लिखा। प्रेस आदि के आने पर वही छपाई का पहला नमूना था, जो हमने सर्वसाधारण के सामने रक्खा। मैंने उस लेख की बहुत ढूंढ की किन्तु वह कहीं भी न मिला। इसमें शक नहीं कि 'प्रचारक' के पहले अंक के एडिटोरियल में देवराज जी ने और मुख्य लेख 'सद्धर्मप्रचारक' में मैंने प्रचारक की भविष्य-नीति तथा उद्देश्य लिख दिये थे, परन्तु पहले विज्ञापन में कुछ अधिक शब्द होंगे, क्योंकि जब चैत्र के उत्तरार्द्ध (मार्च के अन्त व अप्रैल के प्रारम्भ) में विज्ञापन बाँटने के लिए मेरे साथ फीरोजपुर के जलसे पर गये तो उन्हें पढ़ते ही लाला साईंदास जी ने जालन्धरियों को एक्सट्रीम रेडिकल पार्टी (गरम उदार दल) की उपाधि दे दी थी।

जब से प्रेस खोलना निश्चित हुआ तभी से मैंने स्वाध्याय की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। रात को डेढ़ व दो घण्टे पश्चिमीय विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ता। उन दिनों हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थों के अतिरिक्त ड्रेपरकृत 'कनफ्लिक्ट बिट्वीन रिलीजन एण्ड साइंस', वेनकृत 'एजूकेशन इज ए साइंस', गीवोकृत 'हिस्टरी ऑफ सिविलिज़ेशन', ल्यालकृत 'एशियाटिक स्टडीज' आदि तथा इसी प्रकार की अन्य २० से अधिक पुस्तकें छह मास में पढ़ीं; और प्रातःकाल डेढ़ घण्टे तक सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य का स्वाध्याय होता। पहले पढ़ी हुई लघुकौमुदी की पुनरावृत्ति भी आरम्भ हुई। यही कारण था कि जब संवत् १९४२ (सन्

१८८५) के पश्चात् पहली बार लाला लाजपतराय ने मेरा व्याख्यान फीरोजपुर आर्यसमाज के जलसे पर सुना तो पूछा था—"यह इतनी उन्नति संस्कृत में कब की?"

प्रेस जब दो सालों में अधिक घाटे पर चला और पन्द्रह रुपये प्रति हिस्सा बढ़ा देने पर भी घाटा रहा और रामकृष्ण जी-से व्यवहार-निपुण महाशय को प्रबन्ध का कार्य देने पर भी प्रेस चलने की कोई सूरत दिखाई न दी तो सब हिस्सों का रुपया मैंने दे दिया और प्रेस का स्वतन्त्र स्वामी बन गया। यह बात मैं भूला नहीं कि कुछ हिस्सेदारों ने अपने हिस्से के रुपये मुझसे वापस नहीं लौटाये।

'प्रचारक' का आर्यसामाजिक जगत् पर क्या प्रभाव रहा? इसने वैदिक धर्म की क्या सेवा की? सदाचार के फैलाने में इसने क्या भाग लिया और समाचारपत्रों की लेखन-शैली के संशोधन का इसने कितना काम किया? इसका इतिहास कोई सद्धर्मप्रचारक के ऐसे ही प्रेमी लिख सकते हैं जिन्होंने पहले अंक से अबतक के सब अंक सुरक्षित रक्खे हैं।

सद्धर्मप्रचारक यन्त्रालय खुलने के दिनों आलस्य का नाम न था। पहले तो हमेशा किसी-न-किसी की शंकाओं का समाधान करता, फिर कोई ऐसी सभा (आर्यसामाजिक व अन्य) न थी जिसकी बैठक में सम्मिलित न होता। प्रातः-सायं के स्वाध्याय का वर्णन कर ही चुका हूँ और इन कामों के साथ ही एक बाल-विधवा के विवाह की भी चिन्ता थी, उसके लिए भी यत्न होता। २२ फाल्गुन (६ मार्च) की डायरी में लिखा है—"कचहरी से लौटकर देवराज जी के यहाँ गया और उन्हें 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का एक कठिन स्थल समझाया। वहाँ से लौटती बार एक घण्टा समाज-मन्दिर में ठहरा, जहाँ परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप-भेद पर दो भाइयों को उपदेश दिया, फिर ब्रह्मचारी मुनि-ऋषि को आधा घण्टा पढ़ाकर धर्म-सभा के जलसे में गया। वहाँ व्याख्यानों में वेद की महिमा का ही वर्णन था, कोई पन्थाई झगड़ा न था। जालन्धर आर्यसमाज के निष्पक्षभाव का प्रभाव पौराणिकों पर भी पड़ रहा है। धर्मसभा-मन्दिर से अपने निवास-स्थान को गया जहाँ मेरी सन्ध्या में पण्डित बुड्ढामल नूरमहल के बड़े साहूकार सम्मिलित हुए। यह वृद्ध महाशय ऐसे प्रभावित हुए कि अग्निहोत्र में भी भाग लिया। चलते हुए ५० रुपये हमारी भावी पुत्रीपाठशाला को दान दे गये। 'सत्यार्थप्रकाश' के स्वाध्याय के पश्चात् मैं सवा नौ बजे सोने की तैयारी कर रहा था कि मेरे बुलाये हुए रलाराम अपील-नवीस टाण्डा से पधारे और उन्होंने साखी-राम साहूकार की बाल-विधवा पुत्री से मेरे समझाने पर विवाह करना स्वीकार किया।"

होली की छुट्टी पर समाज-मन्दिर में हवन आदि के पश्चात् सहभोज हुआ। कपूरथले के लाला धूमामल भी सम्मिलित थे। उपदेशकों का अभाव अनुभव करके

इस समय निश्चित हुआ कि जालन्धर आर्यसमाज की ओर से एक उपदेशक-पाठशाला खोली जावे। मैं तो पहले ही ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मचारी मुनि ऋषि को पढ़ाया करता था। मैंने भी इस भावी उपदेशक विद्यालय का एक अवैतनिक अध्यापक बनना स्वीकार किया। यह उपदेशक-विद्यालय कुछ दिनों ही चलकर बन्द हो गया।

कन्या गुरुकुल की धुन

'सद्धर्मप्रचारक' के दूसरे अंक से ही मैंने एक लेखमाला का आरम्भ कर दिया था जिसका शीर्षक था 'अधूरा इन्साफ़ (न्याय)'। इस लेखमाला में मैंने स्त्रियों को सुशिक्षिता होने का पुरुषों के साथ समान अधिकार जतलाते हुए लिखा था—"स्त्री को आत्मिक विद्या पर वैसा ही अधिकार है जैसा पुरुषों को, इसलिए जिस प्रकार पुत्रों पर पवित्र वेद की आज्ञानुसार, पहले छोटी आयु में माता-पिता का अधिकार है कि शिक्षा दें और जब यज्ञोपवीत संस्कार हो जावे तो तत्काल ही लड़का गुरुकुल में भेजा जाना चाहिए, वैसे ही लड़कियों के साथ भी बर्ताव होना चाहिए।" उस समय मैं दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कॉलिज को ही पुत्रों के लिए गुरुकुल समझता था। इसलिए कन्या गुरुकुल को स्थापित करने के लिए फीरोजपुर की पुत्री पाठशाला को उत्पन्न करने का प्रस्ताव मैंने पेश किया था। उन्हीं दिनों कण्टक-निवासी लाला धनपतराय ने मेरे लेख पढ़कर अपनी पुत्री भगवानदेवी का स्वयंवर रचने का नोटिस दिया था और फीरोजपुर की पुत्री पाठशाला के साथ आश्रम खोलने का विचार भी उठा था। आन्दोलन तो इन विषयों पर बहुत हुआ किन्तु जहाँ कुमारी भगवानदेवी के स्वयंवर का शोर मचकर अन्त को एक ब्राह्मण देवता की कृपा से कुमारी जी का विवाह एक सन्तान रखनेवाले धनाढ्य रंडवे के साथ हो गया वहाँ फीरोजपुर का प्रस्तावित आश्रम—कन्या-गुरुकुल का आभास-मात्र भी न बन सका।

'सत्यार्थप्रकाश' की कथा

जहाँ धर्म-प्रचार के लिए इन दिनों मैं बाहर जाया करता था वहाँ अपनी जाति की प्राचीन कथा-विधि को पुनर्जीवित करने का विचार भी मेरे अन्दर काम करने लगा। १० ज्येष्ठ संवत् १९४६ (२४ मई सन् १८८९) से सूदों के चौक में 'सत्यार्थप्रकाश' की कथा का आरम्भ किया गया। जब पहले दिन कथक्कड़ बनकर मैं आसन पर बैठा और कथा शुरू की तो केवल २०-२५ आर्यभाई ही मेरे सामने बैठे हुए थे। बाजार का चौगान बड़ा था, इसलिए दुकानें दूर-दूर थीं। दूकानदार दूकानों पर हुक्के गुड़गुड़ाते रहे और हमारी दरी पर न आये, किन्तु जब मैंने ऊँचे स्वर से वेद-मंत्रों को पढ़कर उनकी व्याख्या पंजाबी बोली में आरम्भ की तो शनैः-

शनैः गुड़गुड़ी हाथ में लिये बहुत-से लाला लोग मेरे समीप आ बैठे। दूसरे दिन उपस्थिति सौ के लगभग थी और चार दिनों के पीछे दो-ढाई सौ तक पहुँच गयी। लोग बड़ी श्रद्धा से हमारी धर्म-कथा सुनने लगे और हुक्का आदि का उस स्थान में लाना बन्द कर दिया। इस प्रकार एक मास से अधिक कथा की शृंखला चलकर बन्द हो गयी। मुझे एक कार्यविशेष के लिए अपने ग्राम में जाना पड़ा। पीछे पण्डित श्रीपति जी को व्यास की गद्दी पर बैठाया गया। पण्डित जी ने ईश्वर-प्रार्थना ही करायी कि आँधी आ गयी और सब श्रोतागण उठ खड़े हुए। बस फिर लौटने पर कुछ न बन सका। वर्षा-ऋतु भी आ गयी थी, जिसके कारण बाहर बैठना कठिन हो गया।

एक आर्यवीर परीक्षा में

जिस चौक सूदाँ में कथा होती थी वहीं जालन्धर धर्मसभा के मन्त्री की दुकानें थीं। उनकी दूकान लाला शालिग्राम आर्य (वर्तमान प्रसिद्ध गुरुकुल काँगड़ी के भण्डारी)के भाइयों के पास किराये पर थी। धर्मसभा के मन्त्री का नाम लाला वसन्त-राम था। उन्होंने भण्डारी जी के भाइयों से कहा कि यदि वे अपने भाई को आर्य-समाज से अलग न कर लेंगे तो उनसे दूकान छीन ली जाएगी। भाइयों ने मिन्नतें कीं, समझाया कि आर्यसमाज में जाना छोड़ देवें, परन्तु बहादुर शालिग्राम ने एक न सुनी। घर छोड़कर समाज-मन्दिर में डेरा लगाया, परन्तु फिर भी निर्दयी धर्म-समाजी ने दूकान खाली करा ही ली। तब भाई, शालिग्राम को फिर घर ले-गये। धर्मसमाजी ने तो समझा था कि जब अपनी पैंठ की दूकान अलग लेंगे तो इनका अनाज न बिकेगा और ये सब भूखों मरेंगे, परन्तु मारनेवाले से रक्षा करनेवाला ज्यादा बलवान् होता है। उस समय न बिका हुआ गेहूँ कुछ दिनों के बाद बड़े महँगे भाव बिका और शालिग्राम के भाइयों को दुगुना लाभ हुआ जिससे उनकी श्रद्धा भी आर्यसमाज और वैदिक धर्म पर बढ़ गयी।

जिन दिनों भण्डारी जी घर छोड़कर आर्यसमाज-मन्दिर में आ टिके थे उन्हीं दिनों से इनके अन्दर देवनागरी अक्षर और संस्कृत भाषा जानने का अनुराग अधिक हो गया। मुझसे आर्यसिद्धान्तों के विषय में वह ऐसे प्रश्न किया करते जिनसे मुझे अपनी डायरी में यह लिखना पड़ा कि इन्हें व्याख्यानदाता बनने का बड़ा चाव है और संस्कृत का शौक ऐसा दृढ़ हुआ कि शायद बीस बार संस्कृत व्याकरण को छोड़कर फिर से घोटना आरम्भ किया।

श्री पूर्णानन्द जी का प्रवेश

श्री पूर्णानन्द जी भी आर्यसमाज में उन्हीं दिनों प्रविष्ट हुए। किस प्रकार अपने देश सिन्ध से लड़कपन में ये निकले, किस प्रकार साधुवेश में विद्या-प्राप्ति का

प्रयत्न करते रहे और अन्त को किस प्रकार जालन्धर पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित देवीचन्द्र जी से विद्याध्ययन करने लगे, इन सब प्रश्नों का उत्तर पण्डित पूर्णानन्द जी ने पीछे दिया। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि जब आर्य-समाज जालन्धर का पहला वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था, तब मैंने एक युवक साधु को दीवार पर लगे वेदमन्त्रादि की अशुद्धियों पर कटाक्ष करते देखा। पूछने पर पता लगा कि इस युवक साधु का नाम 'टीकमानन्द' है। जालन्धर की पढ़ाई से असन्तुष्ट होकर इस युवक साधु ने काशी का रास्ता लिया। वहाँ वैशाख संवत् १९४६ के उत्तरार्द्ध (सन् १८८९ ई० के मई मास के आरम्भ) में आर्यसमाज के उपदेशक स्वामी रामानन्द जी का व्याख्यान कार्माइकल लाइब्रेरी हॉल में सुनकर साधु टीकमानन्द ने वैदिक धर्म को ग्रहण किया। इससे पहले कई साधु आर्य-समाज में सम्मिलित हुए थे, परन्तु किसी ने भी आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन में अधिक रुचि न दिखाई थी। इस नये साधु ने मत-परिवर्तन करते ही स्वामी रामानन्द से प्रार्थना की कि वे उसकी पढ़ाई का प्रबन्ध कर दें। स्वामी रामानन्द ने टीकमानन्द को 'पूर्णानन्द' तो बना दिया, किन्तु उनके आर्षग्रन्थ पढ़ने का काशी में प्रबन्ध न करा सके। तब आर्यसमाजों में उपदेशक-विद्यालय खोलने का आन्दोलन करते हुए दोनों संन्यासी महोदय ज्येष्ठ के आरम्भ (मई मास के अन्त) में जालन्धर पहुँचे और ३ ज्येष्ठ (२७ मई) के सायंकाल दोनों के व्याख्यान आर्यसमाज-मन्दिर में हुए।

उपदेशक क्लास का झगड़ा

जब १९ वैशाख, संवत् १९४६ (२ मई सन् १८८९ ई०) को स्वामी रामानन्द जी अपने नये शिष्य पूर्णानन्द जी को लेकर जालन्धर आये थे, तब उन्हीं दिनों वहाँ 'द्वाबा उपदेशक मण्डली' खोलने का विचार पक्का हो चुका था। इस मण्डली के दो विभाग सोचे गये थे—एक 'संगीत मण्डली' और दूसरी 'उपदेशक मण्डली'। १३ ज्येष्ठ (२७ मई) को स्वामी रामानन्द ने संन्यासी टीकमानन्द के 'पूर्णानन्द' बनने का हाल सुनाया और पूर्णानन्द जी ने भी कुछ कहा। स्वामी रामानन्द ने काशी में उपदेशक-पाठशाला खोलने का विचार प्रकट कर मुझसे सहायता माँगी। मैंने उन्हें कहा कि काशी तो पौराणिकों का गढ़ है, उपदेशक-पाठशाला का चलना कठिन है; क्यों न लाहौर में प्रयत्न किया जाए जहाँ दयानन्द कॉलिज से भी अच्छी सहायता मिल सकती है? स्वामी रामानन्द जी को मेरी सम्मति पसन्द आयी और वह लाहौर चले गये। वहाँ पण्डित गुरुदत्त जी तथा उनके सहायकों ने भी सम्मति दी और उपदेशक-क्लास की अपील पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। स्वामी रामानन्द जी पूर्णानन्द जी को साथ लेकर ५ आषाढ़ (१९ जून) की दोपहर की रेल से मेरे पास लौट आये। स्वामी रामानन्द जी तो चन्दा जमा करने चल दिये किन्तु पूर्णानन्द

जी को सन्तोष न हुआ। वे एक दिन भी व्यर्थ गँवाना नहीं चाहते थे। उसी समय पता लगा कि स्वामी पूर्णानन्द जी के एक पुराने परिचित विद्वान् कपूरथले में पढ़ाया करते हैं। स्वामी पूर्णानन्द जी पढ़ने के लिए उन्हीं के पास जाने को तैयार हो गये। इस सम्बन्ध में १७ आषाढ़, १९४६ के 'सद्धर्म प्रचारक' में जालन्धर का अग्र-समाचार निकला था—"स्वामी रामानन्द जी २१ जून को प्रातः उपदेशक-क्लास के आन्दोलन के लिए होशियारपुर गये थे, वहाँ से लौटकर २५ जून को लाहौर चले गये। अबतक तीस रुपये मासिक चन्दा लिखा चुके हैं। ईश्वर कृतकार्य करें। स्वामी पूर्णानन्द जी जालन्धर समाज की ओर से दर्शनों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कपूरथले भेजे गये।"

पाठक काषाय-वस्त्रधारियों में स्वामी और साधु का भेद देखकर कुछ विस्मित-से होंगे, परन्तु उस समय, न जाने क्यों, जहाँ पुराने प्रविष्ट भगवेपोशों को आर्यसमाज में स्वामी की उपाधि मिलती थी वहाँ नयों को साधु ही कहा जाता था। साधु पूर्णानन्द जी भी जब सान पर चढ़कर इस्पात सिद्ध हुए तो उन्हें भी श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ही कहा जाने लगा।

जिनके टेढ़े प्रश्न पर उपदेशक-क्लास का आन्दोलन आरम्भ हुआ वह तो विद्याध्ययन के लिए अलग जा बैठे और सारा बखेड़ा मेरे गले पड़ गया। उन दिनों पण्डित गुरुदत्त जी लाहौर की सामाजिक व्यवस्था से अप्रसन्न थे। एक ओर तो उनकी यह शिकायत थी कि दयानन्द कॉलिज के बोर्डिंग हाउस में मांस का बावरचीखाना है और दूसरी ओर राय मूलराज-से, वेदों और वेदकर्ता परमात्मा तक को जवाब देनेवाले, आर्यसमाज के अगुआ बने हुए हैं। उन दिनों रायबहादुर नारायणदास एम० ए०, पण्डित गुरुदत्त के अनन्य भक्त थे, उन्हीं की चेष्टा पर भक्त ईश्वरदास एम० ए० के स्थान में एक सम्मेलन हुआ जिसमें पण्डित गुरुदत्त जी ने स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट की। विस्तारपूर्वक उस सम्मेलन का वर्णन उचित स्थान पर होगा, यहाँ जतलाने से यह तात्पर्य है कि पण्डित गुरुदत्त से राय मूलराज के सब अनुयायी उपर्युक्त कारण से रुष्ट हो चुके थे। इसीलिए जब उपदेशक-क्लास के आन्दोलन को दयानन्द कॉलिज के अधिकारियों ने टाला और मैंने अपनी स्वतन्त्र सम्मति से 'प्रचारक' में लिख दिया कि जबतक दयानन्द कॉलिज कमेटी उपदेशक-क्लास को अपने अधीन खोलना स्वीकार न करे तबतक उक्त कार्य के लिए धन श्री पण्डित गुरुदत्त के नाम पर भेजा जाया करे, तब राय मूलराज और उनके अनुयायी गुरुदत्त के पीछे हाथ धोकर पड़ गये। कभी गुरुडम की बुनियाद डालने का दोष उनपर लगाया, कभी कॉलिज की 'प्रिन्सिपल-शिप' का अभिलाषी उन्हें बतलाया। तात्पर्य यह कि जितने मुँह उतनी बातें पण्डित गुरुदत्त के सम्बन्ध में गढ़ी जाने लगीं।

पण्डित गुरुदत्त तो अपनी प्रकृति के अनुसार इन सब लाञ्छनों का उत्तर

मौन साधकर देते थे, किन्तु मुझे उचित उत्तर देने के लिए बाधित होना पड़ा। तीन वर्षों तक यह झगड़ा खूब चला, जिसका वृत्तान्त प्रचारक के १,२,३ भागों में बड़ा ही शिक्षाप्रद है। आर्यसमाज में घरू युद्ध का यह प्रस्तावमात्र था और इसलिए जब आर्यसमाज का इतिहास लिखा जाए उस समय प्रचारक के प्रथम तीन वर्षों की फाइल उस इतिहास की पूर्ति में बड़ी सहायता देगी।

यहाँ पर स्वामी रामानन्द जी के विषय में इतना ही लिखकर समाप्त करता हूँ कि उपदेशक-क्लास के बहुत साधन एकत्र करा तथा पर्याप्त मासिक लिखाने के पश्चात् उक्त स्वामी जी बीमार हो गये। उनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गयी कि सिविल सर्जन ने भी रोग असाध्य कहकर इलाज छोड़ दिया, तब मेरे मित्र राजकुमार जनमेजय के पुराने हकीम शेरअली के इलाज से स्वामी जी उठ बैठे। इसी इलाज के कारण मैंने पूर्ण श्रद्धा से हकीम शेरअली को भी पण्डित गुरुदत्त जी के इलाज के लिए भेजा था जिसका आश्चर्यमय वर्णन आगे आवेगा। स्वामी रामानन्द जी बीमारी की खटिया से उठकर जो संवत् १९४६ वि० के अन्त में गये तो फिर मुझे उनके दर्शन ही न हुए।

पण्डित गुरुदत्त के अन्तिम दिवस

संवत् १९४६ का बड़ा भाग मैंने पण्डित गुरुदत्त जी के सत्संग तथा दूर से ही उनकी सेवा में बिताया। मैं लिख चुका हूँ कि श्रद्धालु भक्तों ने श्रद्धासम्पन्न गुरुदत्त को दिन-रात घेरकर उनके स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया था। साथ ही विरोधी लोग मांस का झगड़ा छेड़कर अहिंसक गुरुदत्त को बड़ा कष्ट देते थे और वह सब-कुछ सहते थे।

इस सम्बन्ध में एक कहानी बड़ी मनोरंजक है जिससे गुरुदत्त की अपूर्व वाक्-चातुरी का पता लगता है। एक बार एक एम० ए० महाशय जो एक बड़े सरकारी पदाधिकारी थे और साथ ही प्रेमचन्द रायचन्द स्कॉलर भी, पण्डित गुरुदत्त के पास आकर बोले—"पण्डित जी, आयुर्वेद का क्या बनाओगे, सुश्रुत में तो मांस-भक्षण की खुली आज्ञा है?" उत्तर मिला—"कुछ है तो, परन्तु क्या आप सुश्रुत के उपदेशानुसार आचरण करोगे?" एम० ए० महाशय चकित होकर पूछने लगे—"क्या आप मांसभक्षण को ठीक मानने लग गये?" उत्तर मिला—"मैं ठीक मानने लगा या नहीं, इससे कुछ प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि मांस खाना हो तो उत्तम ही खाना चाहिए, सो सबसे उत्तम मांस मनुष्य का ही है। मनुष्यों में से भी यदि एम० ए० का हो तो अत्युत्तम, और फिर प्रेमचन्द रायचन्द स्कॉलर का कहीं मिल जाए, तो सोने पर सुहागा! अतीव उत्तम भोजन होगा।" एम० ए० महाशय नमस्ते कहकर रफूचक्कर हो गये।

उन दिनों एक ओर पण्डित गुरुदत्त को क्षय-रोग का प्रारम्भ था और दूसरी ओर उनके विरुद्ध विचित्र प्रकार के प्रवाद फैलाये जा रहे थे। कभी कहा जाता कि वह दयानन्द कॉलिज के प्रिन्सिपल-पद के अभिलाषी हैं, कभी कहा जाता कि भगवे धारण कर लिये हैं और गुरु बनना चाहते हैं, कभी यह गप्प उड़ायी जाती कि वह सारे उपदेशकों को वश में करके मनमानी चलाना चाहते हैं। बड़ी बात यह थी कि जिन लाला साईंदास जी ने बड़े यत्न से गुरुदत्त को आर्यसमाज का रत्न बनाया था, जिनका सचमुच गुरुदत्त के साथ पिता-पुत्र का सम्बन्ध था, उनको लोग बराबर भड़काते थे। एक बार शायद ज्येष्ठ १९४६ के अन्त में लाहौर पहुँचकर ये सब बातें सुनीं। पण्डित गुरुदत्त जी के पास गया और अपनी प्रकृति के अनुसार उनसे सीधे प्रश्न पूछे। मुझे वे प्रश्नोत्तर अभी तक याद हैं।

मैं—"पण्डित जी ! यह आपके प्रति क्या जनश्रुतियाँ फैल रहीं हैं ? लोग कहते हैं कि आप दयानन्द कॉलिज के प्रिन्सिपल-पद के अभिलाषी हैं और मुझे कॉलिज-कमेटी के एक अधिकारी ने बतलाया है कि आपने कॉलिज के प्रोफेसर-पद को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि आप प्रिन्सिपल बनना चाहते हैं ?"

पण्डित जी—"मेरी तो कोई अभिलाषा प्रिन्सिपल बनने की नहीं। जिस कॉलिज के लिए मैंने स्वयं धन दिया और भिक्षा माँगी उससे वेतन कैसे लूँ ? मुझे निकम्मा समझ कृपा करके अधिकारियों ने साइँस का प्रोफेसर बनाना चाहा था। मैंने उत्तर दिया कि वेतन लेकर तो काम करूँगा नहीं—हाँ, दो-तीन घण्टे वैसे ही पढ़ा दिया करूँगा, परन्तु साइँस नहीं, प्रत्युत वेद। उन्होंने मुझसे वेद पढ़वाना माना नहीं और बात समाप्त हो गयी।"

उसी समय मास्टर दुर्गाप्रसाद जी आ गये जिन्होंने बतलाया कि पण्डित गुरुदत्त को पता नहीं है परन्तु उन्होंने (मास्टर दुर्गाप्रसाद ने) प्रधान लाला लालचन्द जी से कहा था कि—वैदिक कॉलिज का प्रिन्सिपल वेद का जाननेवाला ही होना चाहिए। फिर मैंने पूछा—"क्या आपने संन्यासियों का वेश धारण कर लिया है ?" उत्तर मिला—"अब धन तो पास है नहीं और गर्मियों के दिन हैं, धोबी को बहुत पैसे क्यों दूँ ? मैंने घर पहिरने का कुर्ता रंग लिया है जिसे नित्य धो लेता हूँ।" मैंने फिर पूछा—"यह बहुत-से भगवेपोश चेले क्यों मूँडे हैं ?" इसपर पण्डित जी कुछ दुःखी हुए और बोले—"मुंशीराम जी ! ये संन्यासी महात्मा सब मेरे गुरु हैं। इनके विषय में ऐसा प्रवाद सुनकर मुझे खेद होता है।"

गुरुदत्त जी के पास होकर मैं लाला साईंदास जी की सेवा में गया और उनको सब-कुछ सुनाया। फिर मैंने कहा, "लाला जी ! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता-पुत्र में लोग तो द्वेष फैलाने का प्रयत्न करते हैं, आप क्यों नहीं स्वयं गुरुदत्त से स्पष्ट बातचीत करते ?" श्री लाला साईंदास जी को मेरी बात पसन्द आयी और वह मेरे साथ पण्डित गुरुदत्त जी के मकान को चल दिये। यदि उस दिन पण्डित गुरुदत्त

—१

घर होते तो शायद आर्यसमाज का इतिहास भी बदल जाता, परन्तु वह बाहर भाषण को चले गये थे। मैं जालन्धर को चला आया और जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त, मित्रों के अनुरोध पर मरी पर्वत पर सर्दार उमरावसिंह मजीठिया के अतिथि बनकर चले गये थे।

पण्डित गुरुदत्त की अकाल मृत्यु

मरी पर्वत से, हितैषियों के रोकते हुए भी, पण्डित गुरुदत्त अपने प्रिय समाज में से एक (पेशावर आर्यसमाज) के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए। ऐसे कर्मवीर के लिए विश्राम के कुछ अर्थ ही न थे। पेशावर से अधिक बीमार होकर लाहौर लौटे। तब मुझे पण्डित गुरुदत्त के दर्शन लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर हुए। इन्हीं दिनों में दयानन्द कॉलिज कमेटी का भी अधिवेशन हुआ करता था। और किसी कार्य में तो पण्डित जी सम्मिलित न हो सके, केवल कॉलिज कमेटी के उत्सव पर पहुँचे। अभी अधिवेशन आरम्भ होने में देर थी, पण्डित गुरुदत्त निर्बलता के कारण बेंच पर लेट गये। उसी वर्ष से दयानन्द कॉलिज में आर्षग्रन्थों की शिक्षा पर बल दिया जाने लगा था।

यह पहला वर्ष था, जब लाहौर आर्यसमाज के उत्सव की वेदी वेदज्ञ गुरुदत्त की विद्यमानता से वंचित रही। पण्डित गुरुदत्त का स्थान लाला लाजपतराय ने लिया और व्याख्यानों का क्रम ही बदल गया। इसके पश्चात् पण्डित गुरुदत्त का रोग बढ़ता गया। पण्डित जी अपने पूर्ण भक्त रामनारायणदास जी के यहाँ गुजराँवाले पहुँच गये। डॉक्टर फतहचन्द सिविल सर्जन बड़े योग्य वैद्य समझे जाते थे, उन्हीं की कोठी में पण्डित गुरुदत्त की चिकित्सा शुरू हुई। डॉक्टर फतहचन्द ने बड़ी सेवा की, भोजन तक अपने हाथ से बनाकर खिलाया, परन्तु रोग का पता न लगा। तब लाहौर मेडिकल कॉलेज के प्रसिद्ध डॉक्टर मलरोनी को बुलाया गया। पण्डित गुरुदत्त ने पहले उन्हीं की परीक्षा लेनी आरम्भ की और जब उनकी योग्यता का विश्वास हो गया तो विश्वासपूर्वक उनसे शरीर-परीक्षा करायी। डॉक्टर मलरोनी की सम्मति में रोग क्षय (थायसिस) न था, परन्तु उन्होंने यह कहा—"गुरुदत्त का मस्तिष्क दिन-रात काम करता है। ऐसा उद्योगी पुरुष मैंने कभी देखा नहीं। यदि उनको स्वस्थ करना हो तो किसी ऐसे वायुमण्डल में ले जाओ जहाँ मस्तिष्क काम करना ही छोड़ दे।" आर्यपुरुष यह सुनकर प्रसन्न तो हुए कि क्षय रोग नहीं, परन्तु डॉक्टर मलरोनी की चेतावनी पर किसी ने भी ध्यान न दिया।

संवत् १९४६ के अन्त तक मैं पण्डित गुरुदत्त की शारीरिक अवस्था के कारण कोई और काम न कर सका। लाहौर में पहुँचते ही जालन्धर से हकीम शेरअली को इलाज के लिए भेजा गया था। उनकी औषध का अद्भुत चमत्कार, पण्डित गुरुदत्त की जालन्धर के लिए तैयारी, कुपथ्य के कारण फिर बीमार होना, फिर

पण्डित जनार्दन की चिकित्सा और उससे निराश होकर फिर अंग्रेजी इलाज, रोग का भयानक रूप धारण करना और 'शान्तिसरोवर में स्नान' की उत्कण्ठापूर्वक विद्या तथा बुद्धि के अवतार गुरुदत्त का प्राण त्याग करना, ऐसी घटनाएँ हैं जिनका वर्णन नहीं हो सकता। यद्यपि पण्डित गुरुदत्त का जीवन लिखा जा चुका है, परन्तु उनके पवित्र जीवन से जो शिक्षा ली जा सकती है उसका अन्तरीय सार अबतक सर्वसाधारण के सामने नहीं आया। वह सार सर्वसाधारण के सामने रक्खा हुआ, निस्सार ही सिद्ध होगा, क्योंकि ऐसे महान् आत्मा के साथ सम्बन्ध हुए बिना उनके जीवन का वास्तविक रहस्य प्रकट नहीं होता।

पण्डित गुरुदत्त को तीन आर्यसमाजों से बड़ा प्रेम था—पेशावर, क्वेटा और जालन्धर। तीनों से प्रेम का प्रेरक कारण एक ही था। तीनों आर्यसमाजों में सभासदों के सदाचार पर बड़ा बल दिया जाता था। पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु ५ चैत्र संवत् १९४६ (१९ मार्च, १८९०) के दिन हुई। १ चैत्र १९४६ (१५ मार्च, १८९०) के प्रचारक में लिखा है—"क्वेटा आर्यसमाज की योग्य अन्तरंग सभा ने निश्चय किया है कि आगे के लिए मद्य-मांस का सेवन करनेवालों को समाज की सभासदी में न लिया जाए और वर्तमान सभासदों को नोटिस दिया गया है कि १ जुलाई तक इन नियम-विरुद्ध आचरणों से मुक्तिलाभ करें। क्वेटा समाज की यह स्पिरिट सराहनीय है। अन्य आर्यसमाजों को भी इसका अनुकरण करना चाहिए।"

पेशावर आर्यसमाज में सदाचार पर इतना बल था कि यदि कोई सभासद् निर्बलता के कारण आचार में शिथिल हो जाता तो आजकल की तरह कुछ लुंगाड़े साथ मिलाकर भलेमानसों की पगड़ियाँ उतारना शुरू न कर देता, प्रत्युत प्रार्थनापत्र पेश कर देता कि जबतक वह नियमपालन में दृढ़ न हो जाए उसका नाम चन्दा लेनेवाले सहायकों में लिखा जाए और जालन्धर आर्यसमाज में तो नवप्रविष्ट आर्य की दस महीनों तक परीक्षा करके उसे आर्य सभासद् बनाया जाता था।

पण्डित गुरुदत्त के कार्यों का वर्णन इस लेखमाला में आगे भी कभी-कभी आवेगा। परन्तु उनकी योग्यता का दृष्टान्त देना यहाँ आवश्यक है। अपनी मृत्यु के एक वर्ष पहले तक पण्डित गुरुदत्त ही दयानन्द कॉलिज के लिए धन एकत्र करने के अद्वितीय साधन थे और इस कॉलिज की उन्नति का बड़ा आधार उनपर था। परन्तु आज उस संस्था में उनका नामलेवा भी कोई नहीं। सच्चे शास्त्रार्थों के वह भीष्म थे परन्तु आज इसको कोई जानता भी नहीं। किन्तु एक काम है जिसपर से गुरुदत्त का नाम मिटाने की शक्ति किसी व्यक्ति में भी नहीं है। वह 'वैदिक मेग़जीन' के तीन अंकों के लेख हैं जिन्होंने फ्रांस और इंगलैण्ड में हलचल मचा दी थी। जब जीवात्मा-विषयक उनका पहला लेख निकला था तब जालन्धर के बड़े

योग्य अंग्रेजीदाँ लोगों को भी उसके समझने के लिए चार-चार बार उस लेख की आवृत्ति करनी पड़ी थी और अवतक योरुप और अमेरिका में आर्यसमाज के उच्च विचार फैलाने का गुरुदत्त के लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। जो उपनिषद्-व्याख्या का क्रम पण्डित गुरुदत्त ने अंग्रेजी में आरम्भ किया था उसको भी आगे ले-चलनेवाला कोई उत्पन्न न हुआ। वैदिक मेग़जीन का नाममात्र के लिए पुनरुज्जीवन किया गया, परन्तु उसे सचमुच वेदों का प्रचार बनाने में अभी बड़ी मजिलें बाकी हैं।

एक वर्ष की कठिन परीक्षा

पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु से पहले ही मेरी धार्मिक परीक्षा आरम्भ हो गयी थी। स्त्री-शिक्षा के भक्त लाला देवराज के बड़े भाई श्री बालकराम जी मेरे बड़े मित्र थे। उनका उल्लेख इस लेखमाला में कई बार आ चुका है। इसका कारण शायद यह भी था कि मेरी धर्मपत्नी को उनके सब भाइयों में से यही अधिक प्यार करते थे। जिन निर्बलताओं में बालकराम जी के साथ मैं सहकार रह चुका था उनसे स्वयं मुक्त होने पर मैं उनको भी मुक्त कराना चाहता था, इसलिए उनसे बढ़ा गाढ़ा सम्बन्ध था। संवत् १९४६ का श्रावण मास मेरे लिए बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। एक ओर तो प्रस्तावित उपदेशक श्रेणी के झगड़ों को सामने रखकर पण्डित गुरुदत्त के विरोधी उनपर कटाक्ष करते थे जिसका अज्ञात साधन वे मुझे बना लेते थे। मैंने कहीं लिख दिया कि जबतक उपदेशक श्रेणी का खोलना दयानन्द कॉलिज कमेटी व आर्यप्रतिनिधि सभा नियमपूर्वक स्वीकार न कर ले तबतक उक्त श्रेणी के लिए धन पण्डित गुरुदत्त के पास भेजा जाए। फिर क्या था, शोर मचाकर आकाश और पाताल एक कर दिया गया—मनुष्यपूजा की बुनियाद पड़ रही है! गुरुडम की आधारशिला रक्खी जा रही है! इत्यादि। यह कोलाहल वे लोग मचाते थे जो सब संस्थाओं को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का प्रयत्न कर रहे थे और जिन्होंने संगठन के सब नियमों को पाँव-तले रौंद डाला था।

दूसरी ओर उस महीने अनावृष्टि के कारण गर्मी बहुत पड़ी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस श्रावण की तीन-चार रातें ऐसी भयानक व्यतीत हुईं कि नगर की घनी बस्ती से व्याकुल होकर मेरे कई मित्र मेरे खुले अहाते में आते और रात को दो-दो बार मेरे ठण्डे पानी के कूप पर स्नान करने के लिए डोल को खटखटाते रहते।

ऐसी अवस्था में प्रचारक का सम्पादन तथा साथ ही आर्यसमाज का अन्य कार्य और इसपर इमारत बनने के कारण धन कमाने की आवश्यकता कचहरी की ओर घसीट रही थी और सबसे बढ़कर हैज़े का आक्रमण—विचित्र दशा हो रही थी! यह अवस्था थी जब श्रावण के अन्तिम दिवस १४ अगस्त, १८८९ ई० की रात को

लाला बालकराम का देहान्त हो गया। आर्यसमाज जालन्धर ने अनावृष्टि के चिह्न देखते ही बड़े-बड़े यज्ञों पर बल दिया था। बजाजेवाले बड़े चौक में जिस दिन हवन हुआ, उस दिन पूर्णाहुति पड़ते ही, मूसलाधार वर्षा होने लग गयी। हम लोगों ने उठकर शामियाने के बीच में बाँस की चोब लगा हवनकुण्ड की रक्षा की और दो घण्टों तक हरिकीर्तन से बाजार को गुँजा दिया। यज्ञ की तैयारी के समय जो दूकानदार विरोध कर रहे थे, वे हम लोगों के धर्म-प्रेम की नुमाइश को देख आप-से-आप खिंच आये और हमारा साथ देने लगे। सारे शहर में धूम मच गयी कि आर्यों के हवन ने अनावृष्टि को दूर कर दिया और १५ स्थानों से हवन के लिए वहीं निमन्त्रण मिल गया।

वर्षा तो हुई परन्तु हैज़ा साथ ही फूट निकला, और बालकराम जी की अकाल मृत्यु ने शहर में भूचाल डाल दिया। वकील और रईस बाहर को भागने लगे और आर्यपुरुष अपने कर्तव्य को समझते हुए बीमारों की सेवा में लगे रहे।

बालकराम जी के देहान्त पर मेरे सारे परिवार को कष्ट हुआ। मेरी धर्मपत्नी बड़ी लज्जावती थीं और इसलिए उनमें दिखलावे का लेशमात्र भी स्वभाव न था। दु:ख को प्रकट करने से, रो-पीटकर कुछ काल में शान्ति-सी आ जाती है, परन्तु हृदय की गहराई में कष्ट को अनुभव करनेवाले की सहनशक्ति का कुछ पारावार ही नहीं। सौभाग्यवती शिवदेवी को जो दु:ख हुआ उसे घर का कोई व्यक्ति, उनकी माता वा मेरे अतिरिक्त, न समझ सका।

जिस समय बालकराम जी की मृत्यु हुई उनके पिता घर न थे और सबसे छोटे भाई पिता के साथ गये हुए थे। भक्तराम जी उस समय इंगलैंड में बैठे बैरिस्टरी की तैयारी कर रहे थे। घर में केवल देवराज ही थे, जिनका कोमल हृदय व्याकुल हो जाता यदि मैं पास न होता। दिन-रात मुझे उनके पास रहना पड़ा। उसी समय मुझे छूटा हुआ हुक्के का रोग फिर से आ लगा। पृथ्वी पर सोने का कभी अभ्यास न था। श्री देवराज जी की बिरादरी के सब लोग आकर ज़मीन पर सोते थे; मुझे भी भूमि पर सोना पड़ता था। तीसरी रात को पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। वहुत यत्न किये, जो ओषधियाँ थीं उनसे काम लिया, जीरे का तेज अर्क मिला उसका भी सेवन किया, परन्तु दर्द दूर न हुआ। तब उपस्थित वैद्य ने चिलम में कुछ रखकर दम लगवाया जिससे पीड़ा दूर हो गयी। सम्भव है कि पीड़ा-निवृत्ति अन्य ओषधियों का परिणाम हो, परन्तु मुझे स्वयं हुक्का पीनेवाले डॉक्टर ने निश्चय दिलाया कि जिस व्यक्ति ने वर्षों हुक्के की गुलामी की हो उसे अपनी पाचनशक्ति की सहायता के लिए हुक्के की शरण फिर से लेनी चाहिए। दूसरे दिन से ही हुक्के-बाजी का आरम्भ हो गया, परन्तु दूसरी बार जो दो वर्षों के पश्चात् इस व्यसन को तिलांजलि दी तो आजतक यही नहीं कि इस व्यसन का नाम नहीं लिया प्रत्युत इसकी वदौलत दो और व्यसनों से भी मुक्ति लाभ की।

इस मौत पर भी आर्यसमाज के सभासदों ने विचित्र शान्त अवस्था का दृश्य दिखाया। वालकराम जी म्युनिसिपल कमिश्नर थे, ऑनरेरी मजिस्ट्रेट थे, सब राष्ट्रीय सभाओं के उत्तेजक थे, इसलिए उनकी मौत पर जहाँ एक दिन मण्डी बन्द रही, म्युनिसिपल बोर्ड स्कूल बन्द रहा, यहाँ तक कि सनातनधर्मसभा ने भी इसी शोक में अपनी सभा का साप्ताहिक अधिवेशन बन्द कर दिया, वहाँ आर्यसमाज का साप्ताहिक अधिवेशन बराबर हुआ और मैंने ईश्वर-प्रार्थना करके पूर्ववत् ही उपदेश दिया। जालन्धर आर्यसमाज में उन दिनों कुछ विचित्र ही भाव काम करते थे जिनका अब प्रायः आर्यसमाजों में अभाव-सा देख पड़ता है।

श्री बालकराम जी की अकालमृत्यु ने मेरी धर्मपत्नी को बहुत उदास कर दिया था, इसलिए सितम्बर की छुट्टियों में उन्हें, दोनों पुत्रियों तथा हरिश्चन्द्र को साथ लेकर मैं हरिद्वार पहुँचा। हरिद्वार में कुछ वर्षों पहले मैं केवल एक दिन रहकर ऋषिकेश देखने गया था। यह उन दिनों सचमुच तपोभूमि थी। अब मालूम हुआ है अच्छा-खासा शहर बस गया है। १८ वर्ष गुरुकुल में रहते हुए मैं अबतक एक बार भी ऋषिकेश नहीं गया। एक दिन १८८६ के सितम्बर (संवत् १९४६ के भाद्रपद) में मेंह बरसते में हम सब हरिद्वार पहुँचे। हरिश्चन्द्र की आयु उस समय दो वर्ष की थी। हम कपूरथले की हवेली में उतरे थे। हमारे आँगन के सामने ही गगा बहती थी। हरिश्चन्द्र ने कुंजियों का गुच्छा खेलते-खेलते जोर से गंगा में फेंक दिया। जब ढूंढ पड़ी तो गंगा की ओर बेपरवाही से हाथ बढ़ाकर बोला, 'बह गयीं, कुंजियाँ वह गयीं!' हम सब हँस पड़े और घर लौटने पर हमें सब ताले तुड़वाने पड़े। हरिश्चन्द्र की निरपेक्षता बहुत पुरानी है।

मेरे 'आर्यसमाज' नामरूपी वज्र-प्रहार पर भी पण्डा जी ने आ ही घेरा। हमारा पण्डा था भलामानस, बोला—"मुझे तो सेवा करनी है चाहे कुछ देना वा न देना।" पण्डे यात्रियों को चारपाई पर सोने से मना किया करते हैं। हमारे पण्डे ने चारपाइयाँ ला दीं। नित्य घर से बाँस का अचार तथा दही लाकर देने लगा। पाँच दिन इतना सुख पहुँचाया जो २० रुपये व्यय करने पर भी न मिल सकता। मैंने चलते समय पाँच रुपये भेंट किये जिसे उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकर कर लिया। मैंने तो समझा कि पण्डा जी घाटे में रहे, परन्तु पण्डा जी ने मेरी धर्मपत्नी के पास पहुँचकर पाँच रुपये और वसूल कर लिये।

अब तो पण्डा का हौसला बड़ा बढ़ गया। उन्होंने खोलकर बही सामने रख दी और बोले—"जजमान! आप आर्यसमाजी हैं तो हम भी आपसे मूर्तिपूजा के लिए नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिए कि इस यात्रा में मैंने आपकी सेवा की थी।" मैंने लिख दिया—"हरिद्वार में सैर के लिए आया, यदि यहाँ पण्डे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीक और निवास के योग्य है।" उस समय पण्डा जी ने बड़ी प्रसन्नता से समझा कि मैदान मार लिया है, परन्तु जब पीछे से किसी से पढ़वाया

होगा (क्योंकि प्रायः पण्डों के लिए काला अक्षर भैंस बराबर होता है) मुझे खूब सुनायी होंगी।

मैं अपने एक वृद्ध सम्बन्धी को साथ लाया था, जिनके साथ परिवार को अपने ग्राम तलवन पहुँचने भेज दिया और मैंने मेरठ की ओर प्रस्थान किया। डॉक्टर रामचन्द्र जी मेरे पुराने परिचित तथा सम्बन्धी भी थे, उनके यहाँ मैंने डेरा किया। इसी समय 'रामचन्द्र वैश्य, लाला का बाजार, मेरठ' से मिला। इनका नाम लाला का बाजार से अलग, समझ में ही नहीं आ सकता था। शोक कि यह महाशय अब मर चुके हैं। उस समय वह देव-समाजी गुरु अग्निहोत्री के बड़े चेले थे। डॉक्टर भी उन्हें अग्निहोत्री कहकर पुकारा करते थे। मुझसे मिलकर वह आर्यसमाज की ओर झुक गये और उसके पश्चात् दूसरे वर्ष ही अपनी धर्मपत्नीसहित पंजाब में दौरे के लिए आये थे। मेरठ में पहुँचकर मैंने २३ भाद्रपद (८ सितम्बर आदित्यवार) को स्थानीय समाज-मन्दिर में 'अमर जीवन' विषय पर उपदेश दिया। बड़ा चबूतरा था जिसपर दरियाँ बिछ गयीं। चारों तरफ लैम्पों की रोशनी भी हो गयी। उप-स्थिति २५ की थी, एक-एक की लाइन बन गयी। स्थान ४०० तक व्यक्तियों का समेट लिया और श्रोता केवल २५ बैठे। अन्य लैम्प तो बड़े उत्तम थे परन्तु उपदेशक की चौकी पर एक बड़ी मैली-पुरानी लालटेन थी जिसके शीशों पर मिट्टी चढ़ी हुई थी और अन्दर धुँधला-सा दिया जल रहा था। जब लैम्प लाने को कहा गया तो उत्तर मिला—"यह श्री स्वामी दयानन्द जी के समय की लालटेन है, यह न बदलेगी।" अस्तु। एक नये पण्डित नौकरी के लिए बुलाये गये थे, उनकी परीक्षा होनी थी। वह ईश्वरोपासना के लिए बैठाये गये। उनकी परीक्षा लेनी थी इसलिए एक-एक शब्द व्याकरण की रीति से सिद्ध करते-करते उन्होंने बहुत समय ले लिया। तत्पश्चात् मैंने अपना कथन कह डाला। भजनों का कोई प्रबन्ध न था। अन्त में एक वेदमन्त्र बोलकर अधिवेशन समाप्त हुआ करता था। परन्तु उस समय नये पण्डित जी किसी कार्य के लिए चले गये थे। सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे, तब एक भद्र पुरुष ने कहा—"चन्द्रभान जी! आप भी तो ब्राह्मण हैं, मन्त्र बोल दीजिए।" तब पता लगा कि सभा-विसर्जन का मन्त्र ब्राह्मण-कुलोत्पन्न को ही बोलना चाहिए। इसके पाँच मास पश्चात् यही लीला मैंने राजा साहब मण्डी के यहाँ देखी जो सायंकाल की सन्ध्या के लिए उस समय तक नहीं उठा करते थे, जब तक पण्डित विद्यासागर जी एक विशेष श्लोक चेतावनी का न बोल देते थे।

मेरा उपदेश सुनकर युवकों ने आग्रह किया कि मैं व्याख्यान दूँ, परन्तु कठिनाई यह हुई कि बिना अन्तरंग सभा की आज्ञा के मेज-कुर्सी लगाकर व्याख्यान नहीं हो सकता था। इसलिए यह ठहरी कि मैं अपने भाई साहब से, जो बहादुरगढ़ में थाने-दार थे, मिलने चला जाऊँ और लौटते हुए व्याख्यान दूँ, तबतक अन्तरंग सभा का जलसा हो चुकेगा।

बहादुरगढ़ में भाद्रपद २८-२६ (१३ और १४ सितम्बर) को व्याख्यान देकर मैं फिर मेरठ लौटा और ३० भाद्र (१५ सितम्बर) को फिर उपदेश दिया। मैंने चाहा कि भजन-कीर्तन की प्रथा यहाँ चला दूँ, इसलिए एक युवक को हारमोनियम बजाने पर राजी भी कर लिया, परन्तु समय पर उसको इतने ताने मिले कि उसने बजाने में लज्जा प्रकट की। डॉक्टर रामचन्द्र जी को साथ ले मैंने वैसे ही भजन गाया, तब कुछ और भाई सम्मिलित हो गये। जब इसके तीन-चार साल बाद उत्सव पर नगरकीर्तन कराया गया था उस समय भी मेरठ के बाजारियों ने खूब फब्तियाँ उड़ायी थीं। अबकी बार तो मेज-कुर्सी भी लग गयी और दाई-तीन सौ की उपस्थिति में मैं दो व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आया।

कार्तिक में आर्यसमाज अमृतसर के जलसे पर मैंने दो व्याख्यान दिये थे, परन्तु उसी समय से पण्डित गुरुदत्त का रोग बढ़ने लगा और मेरे लिए हर सप्ताह लाहौर जाना एक आवश्यक कार्य हो गया। यद्यपि पण्डित गुरुदत्त जी की बीमारी की चिन्ता अधिक थी, परन्तु इससे धर्म के कार्यों में कुछ शिथिलता नहीं आती थी। इन्हीं दिनों वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुंचाने का मैंने दृढ़ व्रत धारण किया था।

जालन्धर प्रान्त में शास्त्रार्थों की धूम

मैं लिख चुका हूँ कि स्वामी रामानन्द युवक संन्यासी पूर्णानन्द को वैदिक धर्म की शरण में लाये थे। वह स्वामी पूर्णानन्द जी कपूरथले अपने पुराने परिचित पण्डित हरिकृष्ण के पास छह दर्शनों की पुनरावृत्ति करने गये थे। उक्त पण्डित जी ने हमारे संन्यासी को पुराणों के हेर-फेर में ही फंसा रक्खा और कपूरथला के अर्थ-सचिव मिश्र अछरूमल जी ने उन्हें तंग करना शुरू किया। तब स्वामी पूर्णानन्द जी ने विज्ञापन देकर १५, १६, १७ कार्तिक (१, २, ३, नवम्बर) को प्रातः खूब व्याख्यान दिये और पौराणिक मत की पोल खोली। मुझे भी स्वामी जी ने सूचना भेज दी थी। एक ओर तो स्वामी जी की ओर से सूचना आयी और दूसरी ओर से मिश्र अछरूमल जी का खुला चैलेंज था कि यदि मैं कपूरथले में प्रचार के लिए आऊँगा तो वह मुझे गिरफ़्तार करा लेंगे। मैंने १६ कार्तिक (२ नवम्बर) को ही दीवान अछरूमल जी को सूचना भेज दी और १७ कार्तिक (३ नवम्बर) को व्याख्यान के लिए पहुँच गया। मिश्र अछरूमल कट्टर सनातनी थे, इसलिए आर्य-समाज के सभासद् उन्हें दूर से छेड़ा करते थे। एक आर्य लड़का मेरे व्याख्यान का विज्ञापन मिश्र जी के मकान की दीवार पर लगा आया। उन्होंने उसे पढ़ते ही फड़वाकर पाँच-छह कलसे पानी से दीवार को धुलवा डाला। मेरे व्याख्यान में एक महाशय बोले, मैंने उनसे ही प्रश्नोत्तर आरम्भ कर दिये। मिश्र जी के कहने पर कोई मजिस्ट्रेट तो मेरे नाम वारण्ट गिरफ्तारी देने को तैयार न हुआ, परन्तु कुछ

दंगाई लुच्चे अवश्य व्याख्यान-गृह की छत पर आ बैठे और उनमें से एक ने पक्की ईंट मेरी खोपड़ी को ताककर फेंकी। सच कहा है—'मारनेवाले से बचानेवाला प्रबल है।' जब ईंट ताककर चलायी गयी तो मेरा सिर उसके निशाने में था, परन्तु मैं दूसरी ओर मुँह करके उधर सम्बोधन कर जा खड़ा हुआ और ईंट जोर से मेज पर पड़ी। ८०० के लगभग श्रोतागण थे जो प्रातः हमारी ओर हो चुके थे। कुछ ने उन लुच्चों को पकड़ लिया और उनका मुँह बन्द कर बाहर छोड़ आये। कपूरथले पर इसके पश्चात् कई धावे हुए परन्तु दीवान अछरूमल की धमकी, धमकी ही रही।

इस समय एक ओर तो स्वामी लक्ष्मणानन्द थे, जो कुछ दिनों तक प्राणायाम की शिक्षा कुछ आर्यसभासदों को देते रहे और दूसरी ओर स्वामी पूर्णानन्द जी ने संस्कृत की पढ़ाई आरम्भ कर दी। उन दिनों मैंने भी फिर से स्वामी जी के आगे पत्रे रक्खे और लाला रामकृष्ण जी प्रधान तथा कुछ अन्य सभासद् भी पढ़ने लगे थे जिनमें सुकेत के राजकुमार जनमेजय मुख्य थे।

जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव से लगभग बाईस दिन पहले मण्डी के राजा विजयसेन जी ने जालन्धर आकर यह इच्छा प्रकट की कि आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा के मन्तव्य, दोनों के प्रसिद्ध व्याख्याताओं द्वारा सुनें। १९ मार्गशीर्ष १९४६ के दिन यह प्रसिद्ध धर्म-चर्चा आरम्भ हुई, जिस दिन श्री राजा साहब आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित हुए। राजा साहब पौराणिक थे इसलिए पटियाले के प्रसिद्ध राजपण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री राजा साहब को सहायता देते रहे और प्रश्नों के उत्तर मैं, स्वामी पूर्णानन्द जी तथा श्री देवराज जी देते रहे। राजा साहब ने बहुत विषयों में आर्यसमाज के मन्तव्यों से सहमति प्रकट की और भोलेपन से कहा—"आपकी सब बातें हम मान लेंगे परन्तु मूर्तिपूजा मनवायेंगे।" इधर से उत्तर मिला—"महाराज! देखिए, कौन किसको मनवा लेता है!" दूसरे दिन पण्डित आर्यमुनि तथा पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि वेद में 'साकारपूजा का विधान है वा निराकारपूजा का'। इस शास्त्रार्थ का बड़ा प्रभाव पड़ा और नगर में धूम मच गयी।

पौष संवत् १९४६ के पूर्वार्द्ध में (दिसम्बर १८८९ के अन्त में) मैं जालन्धर और लुधियाना आर्यसमाज में सम्मिलित हुआ और उन्हीं के काम में फँसा रहा। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द ने भी इन्हीं दिनों स्वामी पूर्णानन्द जी से विद्याध्ययन करना आरम्भ किया। द्वाबा उपदेशकमण्डली ने भी इन्हीं दिनों कार्य्यारम्भ किया। जालन्धर आर्यसमाज की ओर आर्यजनता की विशेष दृष्टि पड़ने लगी। यह हालत थी जब शिकारपुरी पण्डित प्रीतमदेव शर्मा जालन्धर पधारे। उदासी केशवानन्द के अनुकरण में इन्होंने भी आर्यसमाज को गालियाँ देकर ही, सनातनियों से अपना उल्लू सीधा करना शुरू किया। प्रीतमदेव कुछ मन्तव्यों में आर्यसमाज के साथ

सहमत भी थे, परन्तु जब स्वामी दयानन्द को गाली देते तो 'सनातनधर्म की जय' बोलकर धर्म-सभा के साथ सारा मतभेद भूल जाते। जालन्धर आर्यसमाज ने लाहौरी आर्यसमाजियों के तानों से तंग आकर इस समय स्वयं ही इस व्यक्ति का मुकाबिला किया। अपने सभासदों द्वारा ही उसके व्याख्यानों का खण्डन कराया और शास्त्रार्थ के लिए भी तैयार हो गये, परन्तु धर्मसभा ने उसकी जिम्मेदारी से इन्कार कर दिया। इस हलचल में भी आर्यसमाज को कुछ नये सभासद् मिले। प्रीतम शर्मा के भड़काने से एक युवक आर्य दौलतराम को उसके पिता ने घर से निकाल दिया। दौलतराम ने बड़ी दृढ़ता दिखाई और समाज-मन्दिर में निवास आरम्भ किया। समाज ने इस युवक की शिक्षा का भार अपने ऊपर लिया। फिर ठीक आयु होने पर उसका विवाह एक आर्यकन्या से करा दिया, और उसे धन कमाने के योग्य कर परिवार पालने के योग्य बना दिया।

प्रीतम शर्मा का हम लोगों ने न केवल जालन्धर छावनी तक ही पीछा किया, प्रत्युत होशियारपुर में भी स्वामी पूर्णानन्द तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द को भेजने के अतिरिक्त मैंने भी व्याख्यान दिये और जो शंकाएँ वह सत्यार्थप्रकाश में दिये प्रमाणों पर उठाता, उनका समाधान पुराणों द्वारा उसके पास पहुँचा देता।

५ चैत्र संवत् १९४६ (१९ मार्च,१८९०) को पण्डित गुरुदत्त का देहान्त हुआ। शोक-सभा में सम्मिलित होने के पश्चात् चिरकाल तक मैंने लाहौर के दर्शन न किये। पण्डित गुरुदत्त के जीवन से दिव्य आत्मिकज्ञान उपलब्ध करने जाया करता था और श्री लाला साईंदास के अनुभव से शिक्षा प्राप्त किया करता था, परन्तु पण्डित गुरुदत्त के बिछोड़े का दुःख अभी कम नहीं हुआ था कि ३० ज्येष्ठ संवत् १९४७ (१३ जून १८९० ई०) को लाला साईंदास भी ५१ साल की आयु में इस भौतिक शरीर को त्याग गये। अब लाहौर के साथ कोई विशेष लगाव न रहा। 'प्रचारक' में मेरे नोट वर्तमान विषयों पर होते थे और मर्त्यलोक की खबर लाते थे, श्री देवराज जी के नोट आकाश में उड़ान भरते थे।

लाहौर की झगड़ालू रंगभूमि से छुटकारा पाकर मैं संवत् १९४८ में बड़े उपयोगी कामों में लगा रहा। 'प्रचारक' के कुछ अंकों में आर्यपुत्री पाठशाला के न खुलने पर अपने ऊपर फटकार डालने के पश्चात् आखिर वह कन्या पाठशाला खुल गयी जिसे आज हम 'कन्या महाविद्यालय' के रूप में देखते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म-प्रचार में भी अत्यधिक भाग लिया। फगवाड़ा को सर करके हमारे धार्मिक योद्धा ब्रह्मानन्द जी लुधियाने पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने हलचल मचा दी जिसके कारण मुझे वहाँ भी पहुँचना पड़ा। वहाँ वैदिक धर्म का खूब प्रचार हुआ। छह-छह घण्टों तक व्याख्यान हुए। क्रम यह था—मैंने आधे घण्टे तक धर्म विषय पर कहते हुए दूसरे यम (सत्य) की व्याख्या प्रारम्भ की। एक भाई बोल उठे कि है तो ठीक, परन्तु कलयुग में 'सत्य' कैसे चल सकता है? मैंने उस भाई को सम्बोधन करके

'कलियुग' की व्याख्या आरम्भ कर दी। इसपर किसी भाई ने कुछ और शंका उठायी जिसपर तीसरा विषय आरम्भ हो गया। अन्त को वहाँ बड़ा प्रबल आर्य-समाज स्थापित हुआ।

पंजाब के ग्रामों में, साधारण बुद्धि तथा विद्या रखनेवाला मनुष्य धर्म-प्रचार नहीं कर सकता। वहाँ ब्रह्मपद को पहुँची हुई स्त्रियों के अतिरिक्त साधारण कृषिकार भी ब्रह्मज्ञानी ही नहीं प्रत्युत चार्वाकों के कान कतरनेवाले भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार के एक साधारण व्यक्ति से ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द की बड़ी मनोरंजक बातचीत हुई।

रतजगा करके मैं लुधियाने पहुँचा, इसलिए भोजन करके लेट गया। केवल कोपीन धारण किये एक नंगा जाट भादों की धूप में घास काटकर लाया था। घास का गट्ठर उतारकर विश्राम के लिए ब्रह्मचारी जी के पास बैठ गया। ब्रह्मचारी जी का पहले से परिचित मालूम देता था। वह उसे ईश्वर का अस्तित्व समझाने लगे। उसने कुछ बेढब-सा उत्तर दिया; ब्रह्मचारी जी बोले—"क्या प्राचीन शास्त्रकार ऋषि महात्मा सब मूर्ख थे? वे सब ईश्वरवादी थे?" जाट मुस्कराकर बोला—"मेरी गल्ल सुन लओ। रात नूं गली बिच्च बिड़क होई। कुत्ता भौंकने लगा। सारे पिण्ड दे कुत्तेयाँ ने चक्कर लित्ता। बिड़क सुननेवाले कुत्ते ने सिर चक्क के देखया ताँ कुछ न दिख्या। ओह ताँ सो गया पर पिण्ड दे कुत्ते सारी रात भौंकदे ही रहे।"

ज्यों-ज्यों जाट की अकाट्य युक्ति को मैं सुनता, त्यों-त्यों हँसी विवश होकर बाहर आती थी। मतलब उसका यह था कि जब एक ने भ्रम से ईश्वर कह दिया तो लाखों उसके चेले 'ईश्वर' ही कहने लगे। पहले का तो भ्रम दूर हो गया परन्तु उसके चेले उसी धुन में राग आलापते रहे। इसलिए मूर्खों की साक्षी कोई युक्ति नहीं है। मुझे ब्रह्मचारी जी की फँसावट पर दया आयी और मैंने बहुपक्ष की दलील को छोड़कर उसके साथ उस गँवारी भाषा में उसी प्रकार का विवाद आरम्भ कर दिया। फिर वह बड़े प्रेम से मेरे व्याख्यानों में अच्छे वस्त्र पहनकर आया और अन्त को हमारा सहायक बन गया।

भादों और असौज के महीनों में भी मैं बराबर धर्म-प्रचार के लिए बाहर जाता रहा। नवाँशहर और राहों की इस निमित्त से दो बार यात्रा की। जहाँ सवारी न मिली वहाँ पैदल चलकर समय पर पहुँच अपना कर्तव्य पालन किया। इन्हीं यात्राओं में एक बार इक्का ऊपर आ गिरा और माथे में ऐसा घाव लगा जिसका निशान अबतक बाकी है।

संवत् १९४७ में कई बार अपने ग्राम तलवन को जाते और आते हुए नूरमहल तथा नकोदर आदि स्थानों में धर्म-प्रचार करता रहा। विशेष प्रचार का कार्य ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी करते रहे। इन्हीं दिनों अटक में दुकान करनेवाले अमृतसर-

निवासी लाला धनपतराय ने 'सद्धर्मप्रचारक' द्वारा अपनी पुत्री के लिए स्वयंवर-विवाह का नोटिस दिया था। उसपर कई प्रसिद्ध आर्यसमाजियों की विचित्र प्रकार की सम्मतियाँ निकली थीं जो इस समय बड़ी मनोरंजक प्रतीत होंगी; इनके उत्तर देने में मेरा बहुत समय लगा था। फिर 'द्वाबा गुरुदासपुर उप-प्रतिनिधिसभा' का संघटन भी इन्हीं दिनों किया गया था जिसका विशेष काम मुझे ही करना पड़ता था। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द इस उपप्रतिनिधि के अधीन बड़ा सन्तोषजनक काम करते रहे। ब्रह्मचारी जी को काम की बड़ी लगन थी। जालन्धर के इर्द-गिर्द इन दिनों खूब जोर से प्रचार हुआ। आर्यपुरुषों में उन दिनों कितनी दृढ़ता और शान्ति-प्रियता का संचार था यह एक दृष्टान्त से ही विदित हो जाएगा।

शेख की बस्ती में पं० श्रीपति जी अध्यापक, आर्यसमाज जालन्धर, ने अपने गृह पर आर्यपुरुषों को धर्मप्रचार के लिए निमन्त्रित किया। बीच में विघ्न डालने के लिए विरोधी पौराणिकों ने झाँझ बजाये, ढोलक पीटा और पंजाबी गन्दा गीत गाया, परन्तु उपासक ईश्वरोपासना में मग्न रहे; और जब प्रचारक ने इसपर भी दृढ़ता से उपदेश आरम्भ कर दिया और शान्ति को हाथ से न छोड़ा तो श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और विघ्न डालनेवाले लज्जित होकर लौट गये।

इसी वर्ष मार्गशीर्ष में श्री पूर्णानन्द जी ब्रह्मचारी ने ब्रह्मानन्द को साथ लेकर 'द्वाबा गुरुदासपुर उप-प्रतिनिधिसभा' की ओर से बिना वेतन प्रचार आरम्भ कर दिया। श्री पूर्णानन्द जी तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी ने उस समय से जिस प्रेम से जीवनपर्यन्त वैदिक धर्म का प्रचार किया, उसका वर्णन बड़ी विस्तृत पुस्तक में ही आ सकता है। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी तो वर्षों तक पंजाब में धर्म-प्रचार करने के पश्चात् काशी जा विराजे और वहाँ से वैदिक धर्मोपदेशक मण्डली बनाकर निकलने का शुभ विचार था, परन्तु उनकी आयु थोड़ी ही थी। योगाभ्यास करते हुए, सीमा से अधिक परिश्रम के कारण पहले मस्तिष्क में विकार हुआ और फिर उनका देहान्त हो गया।

इस वर्ष आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सवों में मैं भी सम्मिलित हुआ, परन्तु लाहौरियों के साथ अधिक सम्बन्ध न जोड़ सका। यह पहला अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त का स्थान लाहौर आर्यसमाज के प्लेटफार्म पर लाला लाजपतराय ने लिया और उसे उन्होंने उस समय निभाया बड़ी उत्तमता से। उस समय उनका सिद्धान्त यह था कि "योरुप मैं केवल प्रकृति की उपासना में ही विद्वान् लगे हुए हैं और आर्यावर्त्त में आत्मिक जगत् की ओर। ऋषियों के समय में पदार्थविद्या और ब्रह्मविद्या का मिलाप ही उपनिषद् जैसे ग्रन्थों के निर्माण का कारण हुआ है, इसलिए जबतक आर्यवर्त्त की ब्रह्मविद्या को पदार्थ-विद्या की कसौटी पर नहीं परखा जाता तबतक जीवन का वास्तविक उद्देश्य ज्ञात नहीं हो सकता। इस कसौटी पर ब्रह्मविद्या को परखनेवाला भी समय की आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुआ और

हमें दिखला गया कि जीवन का परमोद्देश्य क्या है ?" अन्त में दयानन्द कॉलिज के लिए अपील करते हुए श्री लाजपतराय जी ने कहा कि—"प्राकृतिक धन को अमृत-जीवन में बदलकर अपनी सन्तान के लिए एक स्मारक छोड़ जाओ।"

मांस विषय पर आन्दोलन इन दिनों छिड़ चुका था। २७ मार्गशीर्ष सं० १९४७ के 'प्रचारक' में स्पष्ट लिखा है कि—"मांसभक्षण पर दो दल हो रहे हैं।" इसके पश्चात् इस प्रश्न का चित्र कुछ भयानक-सा होता गया। 'स्त्रियों को उच्च शिक्षा का अधिकार है या नहीं' इसपर भी खूब विचार हुआ करता था। 'प्रचारक' मांसभक्षण को पाप तथा देवियों को उच्च शिक्षा का अधिकार बतलानेवाला था।

इसी वर्ष जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर 'द्वाबा गुरुदासपुर उप-प्रतिनिधिसभा' के नियम स्वीकृत हुए। इस सभा का प्रधान मैं बना और मन्त्री श्री रामकृष्ण जी, वर्तमान प्रधान आर्यप्रतिनिधिसभा, पंजाब। श्री पूर्णानन्द जी इस सभा के प्रथम उपदेशक बन ही चुके थे। बड़े ज़ोर से प्रचार का कार्य शुरू हो गया।

जालन्धर से मैं लुधियाना आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ जहाँ आर्यसमाज-सम्बन्धी विशेष कार्य हुए। इन्हीं दिनों प्रो० मैक्समूलर ने अपना प्रसिद्ध 'मत्स्य सूक्त' लिखा था जिसपर 'प्रचारक' में बड़ा जबरदस्त नोट निकला।[1]

हरिद्वार का कुम्भमेला ऋषि दयानन्द जी की मृत्यु के पश्चात् पहली बार ही आनेवाला था। संक्रान्ति वैशाख १९४८ को स्नान का दिन था। 'प्रचारक' में इसी तैयारी के लिए बहुत-से लेख निकले, परन्तु उस आन्दोलन को बीच में ही छोड़कर मुझे जालन्धर त्यागना पड़ा।

'सुकेत' पहाड़ में एक छोटी-सी रियायत है। उसके दुष्टनिकन्दनसेन पर प्रजा की ओर से कई अभियोग चलाये गये। मनुष्य-घात, डाका, लूटमार, सभी प्रकार के दोष प्रजा ने लगाये थे। राजा के चचा मियाँ शिवसिंह रियासत से निकाले हुए चिरकाल से जालन्धर में थे। उनके भी घर को राजा ने लूट लिया था। एक लाख का उन्होंने दावा किया था। राजा ने कमिश्नर साहब को जज मान लिया और स्वीकार किया कि जो दण्ड वह निश्चित करेंगे राजा सहन करने को तैयार हो जाएँगे। जब मियाँ शिवसिंह सुकेत बुलाये गये तब उन्होंने वहाँ पहुँचते ही मुझे अपनी तथा अन्य प्रजा की ओर से वकील नियत कर बुलाने के लिए तार दिया।

सुकेत जाने से पहले मेरे अन्दर विचित्र देवासुर-संग्राम हो रहा था। २७ पौष संवत् १९४७ (११ जनवरी, १८९१) की डायरी में लिखा है—"मैं अपने गत दो वर्ष के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हूँ, यद्यपि मैंने उस बीच में आर्यसमाज की बहुत सेवा की है। मैंने लगभग अकेले ही 'सद्धर्मप्रचारक' का सम्पादन किया है, वर्ण-व्यवस्था

१. प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेद की भाषा का अनुकरण करते हुए इस नाम के काल्पनिक सूत्र का निर्माण किया था।

पर एक ट्रैक्ट लिखा है, कुछ शास्त्रार्थ भी किये और बहुत-से व्याख्यान वैदिक धर्म के प्रचारार्थ दिये, परन्तु क्या मेरी आत्मिक अवस्था में वास्तविक उन्नति हुई है? हे हमारे मनों को जाननेवाले! तू ही जानता है कि इस दिखावे में कैसी अपवित्र चेष्टाएँ छिपी हुई हैं। हे प्राणेश्वर! मुझे बल दो कि मैं धर्म-मार्ग पर चल सकूँ और सत्य पर दृढ़ रहूँ।"

उस समय के लेखों से ज्ञात होता है कि वकालत छोड़ने के लिए हृदय में हलचल मच चुकी थी। १२ जनवरी, १८९१ ई० (२८ पौष १९४७) की डायरी में एक महन्त के दुराचार का हाल लिखकर और संन्यासाश्रम की दुरवस्था का वर्णन कर लिखा है—"इस प्रकार की घटनाएँ जतलाती हैं कि मातृभूमि के पुनरुद्धार के लिए बड़े तपयुक्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता है।" उसी दिन कचहरी में जाने का हाल लिखा है—"बार-रूम (वकीलों के कमरे) में वकील भाइयों के साथ इस पेशे के धर्माधर्म विषय में बातचीत हुई। मैं बार-बार अपने आत्मा से प्रश्न कर रहा हूँ कि वैदिक धर्म की सेवा का व्रत धारण करते हुए क्या मैं वकील रह सकता हूँ? मार्ग क्या है, कौन बतलाएगा? अपने स्वामी परमपिता से ही कल्याण-मार्ग पूछना चाहिए। यह संशयात्मकता ठीक नहीं। अपने देश तथा धर्म की सेवा के लिए पूरा आत्मसमर्पण करना चाहिए, परन्तु परिवार भी एक बड़ी रुकावट है। मैं सन्दिग्ध अवस्था में हूँ। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिए। कृष्ण भगवान् ने कहा है—**"संशयात्मा विनश्यति"**[1] [गीता ४।४०] पिता! तुम्हीं पथ-दर्शक हो।"

सुकेत में १७ दिवस

२ माघ संवत् १९४७ (१५ जनवरी, १८९१) की शाम को होशियारपुर पहुँचा। ३ माघ (१६ जनवरी) को प्रातः पहाड़ी डोली में सवार होकर चला। रास्ते में बराबर मेंह बरसता रहा। दिन-रात कहार बदलते रहे। ५ माघ (१८ जनवरी) को १२ बजे दिन के हटरी स्थान पर पहुँचा। हटरी पर रियासत मण्डी का एक कारिन्दा रहता था। उसके मकान पर डोली से उतरकर नयी सवारी पर सवार होना था जिसे पालकी कहा जाता था। परन्तु जब वह ढाँचा सामने आया तो सिवाय दो बाँस के लट्ठों पर एक छोटी पीढ़ी के और कुछ न था। सचमुच 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' थे। कारिन्दा जी के बाल-बच्चों में मैंने सारी मिठाई बाँट दी। उस समय सूर्य भगवान् यौवनावस्था में उदित थे और मैंने स्नान करके कारिन्दा जी का निमन्त्रण स्वीकार किया। बिना धोई छिलकेवाली उड़द की दाल और आलुओं के साथ मण्डों (फुलकों) का जो स्वाद उस समय आया वह शायद जन्म-भर में चार-पाँच बार ही अनुभव किया होगा।

१. संशय-ग्रस्त व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

भोजन से निवृत्त होकर पालकी नाम्नी पीढ़ी पर सवार हुआ। मिठाई की तीन हँडियों में से एक हँडिया मेरे सामने कारिन्दा ने रख दी। मैंने बहुत इन्कार किया परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया, मुझे रास्ते का अनुभव है, आपको नहीं; आपके काम आएगी। हटरी से सीधी चढ़ाई का आरम्भ हो गया। यह सिकन्दरे की चढ़ाई कहाती है। मेरा सामान कुलियों की पीठ पर चला। थोड़ी देर ऊपर चढ़ते ही सारे पहाड़ श्वेत हिम से ढके हुए दिखाई देने लगे। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता गया त्यों-त्यों दृश्य सुन्दर होता गया। यहाँ तक कि ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा जहाँ हिम गिर रहा था। गरम कोट आदि पहनकर ऊपर से मैंने धुस्सा ओढ़ लिया था। मैंने समझा था कि बर्फ की वर्षा के समय सर्दी ज्यादा होगी, लेकिन हालत दूसरी ही नजर आयी। धुस्सा झाड़कर बर्फ को नीचे फेंक दिया और हाथ हाँडी की ओर बढ़ाया क्योंकि भूख बहुत चमक उठी थी। बर्फ गिरते में कैसी भूख लगती है यह बिना अनुभव के पता नहीं लग सकता। कहारों के पाँव हिम पर पड़कर उसकी स्वच्छता को बिगड़ते देख मैं सहन न कर सका। यद्यपि मेरे पैर पड़ने से भी हिम की स्वच्छ-साफ चादर मैली होती थी परन्तु वह मेरी दृष्टि से पीछे रह जाती थी। मैंने उस समय पौराणिकों का ही अनुकरण किया और अज्ञान में पाप न समझते हुए मनोरंजक यात्रा की। आध मील पर खड़े होकर मैंने मिठाई के साथ बर्फ मिलाकर खाना आरम्भ किया और सिकन्दरे की चढ़ाई के शिखर पर पहुँचकर खाली करके हँडिया फोड़ दी। चार बजे उतराई का प्रारम्भ हुआ। भूख पग-पग पर बढ़ रही थी और खाने को पास कुछ न था। पाँच बजे दूर पर एक दूकान दिखाई दी। आला घोड़े पर सवार हो वहाँ पहुँचा। पहाड़ी दूकानदार के पास पाव-भर गुड़ और आधा पाव चनों के सिवाय कुछ न था। उसी पर सन्तोष कर चने ठूँगने शुरू किये और तेज भूख साथ लेकर सायंकाल सुकेत पहुँचा।

कमिश्नर का कैम्प ग्राम से बाहर एक मैदान में था। वहीं मेरे मुवक्किल मियाँ शिवसिंह का कैम्प था। मैं उनको पीछे छोड़ सीधा ग्राम की दूसरी हद पर मियाँ पराक्रमसिंह के यहाँ पहुँचा। वहाँ बाबू दसौंधीराम तथा लाला गणेशदास वकील मिले जो मुझसे पहले मियाँ शिवसिंह की सहायतार्थ आये हुए थे। मेरे मित्र मियाँ जनमेजय भी मिले। भूखे को भोजन की पहले सूझी और फिर शयन की। इधर नींद के झोंके आ रहे थे और उधर स्थान एकान्त न था। लाचार फिर से यात्रा आरम्भ कर दी और डेढ़ मील पैदल चलकर सिहराल पहुँच मियाँ ज्वालासिंह के मकान में आराम किया। यहाँ शीत बहुत था, साथ ही मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे, परन्तु फिर भी साढ़े नौ बजे सोकर साढ़े चार बजे तक करवट न बदली।

दूसरे दिन प्रातःकाल यथानियम उठकर स्नान किया। जिस कूल के झरने का शब्द रात को लोरियाँ देकर सुला रहा था उसी के शीतल जल से लोटे भर-भरकर

स्नान किया। पहाड़ के रमणीक जंगल में सन्ध्या और अग्निहोत्र के समय सुगन्ध के कारण घर के बच्चों के साथ पालतू जानवर भी मेरे साथ आ बैठे। मेरे यजमान मियाँ ज्वालासिंह, मियाँ शिवसिंह के छोटे भाई थे। उन्होंने शीघ्र ही मेरी इच्छानुकूल भोजन तैयार करा दिया और मैं दिन-भर के काम के लिए तैयार होकर 'सिहराल' से चल दिया।

यहाँ एक बार ही लिख देता हूँ कि यद्यपि मुझे नित्य बिखड़े मार्ग में तीन मील से अधिक चलना पड़ता था परन्तु रात के लिए मैंने निवास-स्थान 'सिहराल' को ही बनाये रक्खा। दूसरी रात को एक घटना ऐसी भी हुई जो शायद दूसरे आदमी को वहाँ से भगा देती। मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे। सर्दी रोकने के लिए उनपर कागज चिपका रक्खे थे। मेरे सुकेत पहुँचने की तीसरी रात को, खिड़की के कागज को फाड़ बाघ ने अपना पंजा अन्दर घुसेड़ दिया और रात-भर मेरे पलँग के पाये पर पंजा डाले पड़ा रहा। प्रातः उठने पर मैंने देखा कि वह अन्दर की तरफ टिकटिकी जमाये बैठा है। मैंने डण्डे से उसका पंजा बाहर कर दिया और लाठी को जमीन पर मारकर उसे डपट सुनायी। इसपर बाघ गरजता हुआ भाग गया। मुझे बहुत समझाया गया कि मैं अन्दर के मकान में सोया करूँ परन्तु मुझे जाड़े में भी चारों ओर की वायु का मार्ग खोलकर सोने का अभ्यास था। मैं उसी हवादार मकान में सोता रहा।

५ माघ (१८ जनवरी) से लेकर पूरे १७ दिन मैं सुकेत रहा। इस बीच में जहाँ मियाँ शिवसिंह के मुकद्दमे का मनोरंजक काम होता रहा वहाँ साथ ही असाधारण प्राकृतिक तथा मानवी दृश्य भी देखने में आये और साथ ही वैदिक धर्म का प्रचार भी होता रहा।

मेरे साथ जो वकील थे उनमें से एक तो ऐसे शराबी थे कि जब रात को शराब पी लेते तो उनकी बुद्धि बड़ी तेज हो जाती, परन्तु प्रातः नशा उतरने पर मुर्दे के समान दिखाई देते। दूसरे महाशय अंग्रेजी का एक भी अक्षर न जानते थे। इसलिए कमिश्नर साहब के यहाँ बैरिस्टर रैंगिटन के मुकाबिले उन्हें बैठाना व्यर्थ था। मियाँ शिवसिंह का दावा था कि उनका भण्डार राजा ने लूट लिया। इसका प्रमाण? राजा के अत्याचारों से तंग आयी हुई प्रजा ने मेरे पास पहुँचकर चोरी के माल का पता दिया। मैंने सब मालूम कर कमिश्नर से कुछ स्थानों की तलाशी के लिए वारण्ट माँगे। कमिश्नर साहब ने मियाँ शिवसिंह को बुलाकर कहा कि यदि चोरी का माल कहीं से न निकला तो उन्हें स्वयं जेल भुगतनी पड़ेगी। मैंने इस-पर एक लिखित प्रार्थना-पत्र पेश कर दिया और सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेने का वचन दिया। कमिश्नर साहब का आश्चर्य दूर करने को मैंने अपने पास पहुँचे गुप्त प्रमाण भी उन्हें दिखलाये। तब साहब ने उसी समय सरिश्तेदार को न बुलवा मुझसे ही वारण्ट लिखवाकर पुलिसवालों को मेरे नियत किये हुए

आदमियों के साथ भेज दिया। प्रातः १० बजे वारण्ट जारी हुए और शाम के छह बजे चोरी का माल राजा साहब की नौकरानियों और अन्य विश्वासपात्रों के घरों से बरामद होकर आने लगा। सबका कहना यही था कि राजा ने यह सामान उनको कुछ दिनों रख छोड़ने के लिए दिया है।

माल तो बरामद हो गया परन्तु फिर भी कुछ स्थानो से दूसरे स्थानों में माल पहुँच ही गया और इसके कारण स्वयं मियाँ शिवसिंह थे। हम सब मियाँ शिवसिंह के भोलेपन को जानते थे। मैंने राजकुमार जनमेजय से तय किया कि मियाँ शिवसिंह पर मैं, वह तथा अन्य कई सज्जन पहरेदार बैठें और उन्हें किसी से बात न करने दें। मियाँ साहब को भी मैंने समझाया कि वारण्ट लेकर जो पुलिस गयी है उसका किसी से ज़िक्र न करें, क्योंकि ऐसा करने से बात फैल जाएगी और अपराधी माल को गायब कर देंगे। मियाँ साहब ने प्रतिज्ञा की कि वह ऐसा न करेंगे। आपने बलपूर्वक कहा कि वह मूर्ख नहीं हैं कि दुश्मनों को अपनी चाल का पता दें। अब हमारा तो यह प्रयत्न और मियाँ साहब के नौकरों का यह प्रयत्न कि हमारा प्रोग्राम उनको भी विदित हो जाए। अन्त को विजय नौकरों की हुई। मियाँ साहब लघुशंका करने गये। एक नौकर लोटा ले हाथ धुलाने दौड़ा, दूसरा एजारबन्द[1] बाँधने लगा, तीसरा छाता लगाकर खड़ा हुआ। बस, हाथ धुलाते-धुलाते सब कहानी मियाँ साहब से पूछ ली और अपने साथियों को बताने लगे। सुननेवालों में कोई विश्वासघाती भी था, उसने राजा को समाचार पहुँचाया। राजा ने आदमी दौड़ाये, परन्तु तबतक पुलिस बहुत काम कर चुकी थी।

मुकद्दमे की पैरवी तो कोई बड़ी बात न थी, परन्तु मियाँ शिवसिंह से मुकद्दमे की रक्षा करना ही सबसे कठिन काम था।

यवनिका-पतन

सुकेत का हाल है तो बड़ा मनोरंजक, परन्तु उसको विस्तारपूर्वक लिखने के लिए स्थान नहीं है। राजा को रैंगिटन साहब बैरिस्टर ने खूब लूटा। पहले १००० रुपये रोजाना फीस पर आये। जब मियाँ शिवसिंह की चोरी का माल बरामद हुआ तो लाहौर से तार आया बतलाकर चोरी के अभियोग की पैरवी के दिनों के के लिए १६०० रुपये प्रतिदिन लेने प्रारम्भ किये। १०० रुपये रोजाना भोजन के लिए अलग लेते और भोजन, राज के पुराने प्रबन्धकर्ता डानल्ड साहब के यहाँ करते। फीस बढ़वा ली परन्तु सात दिन अधिक फीस लेकर मुकद्दमा लड़ाने के स्थान में ६०,००० रुयये मियाँ शिवसिंह को दिलवा दिये। मियाँ शिवसिंह ने दो लाख रुपये की चोरी लिखवायी थी, इसमें ४०,००० रुपये की तो दवाइयाँ थीं जो बिना मूल्य बँटवायी जाती थीं और शेष वस्तुएँ भी उन्होंने बड़ी महँगी खरीदी

१. नाड़ा

थीं। उनके लिए ६०,००० रुपये एक अच्छी सम्पत्ति थी, परन्तु मियाँ साहब के पास वह रुपया जमनेवाला न था।

ऊपर का फैसला होते ही मैं चलना चाहता था परन्तु मियाँ शिवसिंह के सम्बन्धियों ने आग्रह किया कि मैं मियाँ साहब को रुपये नकद दिलवाकर जाऊँ। तब मैं रुपये गिनवाने के काम का निरीक्षक बना। वहाँ भी बड़ा काम करना पड़ा। राजा साहब से खोटे रुपये बदलवाने का काम बड़ा कठिन था परन्तु वह काम भी समाप्त हो गया और राजा साहब मण्डी के निमन्त्रण पर मैं दोनों सहकारी वकीलोंसहित मण्डी को चल दिया। राजा साहब से भेंट हुई। मुझे देखते ही उन्हें जालन्धरवाला शास्त्रार्थ याद आ गया जो उन्होंने आर्य तथा सनातनी पण्डितों के बीच कराया था। तब तो आर्यसमाज की ही बातें होती रहीं और मुझे अपने धर्म-प्रचार का बड़ा अच्छा मौका मिला। यहाँ पर मैंने पहले-पहल पहाड़ी रियासतों के कैदियों की विचित्र व्यवस्था देखी। प्रातःकाल ही जेल का द्वार खुलता और सब कैदियों को घास लाने आदि के कई काम सौंपकर छोड़ दिया जाता। सायंकाल को सब अपना काम खत्म कर जेल में आ, सो जाते। मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया तो हलकारों ने बताया कि कभी कोई कैदी नहीं भागा, क्योंकि इन लोगों को अपनी मातृभूमि से बड़ा प्रेम है।

इसी स्थान में एक शिवमन्दिर मुझे दिखाया गया जिसमें से शिवलिंग को उखड़वा दिया गया था। पुजारी ने मन्दिर इस बुद्धिमत्ता से बनवाया था कि मन्दिर की छत की ऊपर की खोल में से आदमी गुम्बद के छिद्रों द्वारा दूध छिड़क सके। यह दूध का छिड़काव बड़े बहुमूल्य चढ़ावे से होता था। राव, रंक, सब पुजारी के जाल में पागल हो फँस गये। मुझे बताया गया कि वैंडथ साहब कमिश्नर ने इस मन्दिर की पोल का पता लगाया और राजा साहब ने उनकी आज्ञानुसार उसमें से शिव की मूर्ति को उखड़वा दिया। मण्डी से हम सब वकील डोलियों में लौट पड़े। पहली रात इकट्ठे काटी। दोनों वकीलों ने प्रातः वर्षा का ढंग देखते ही खूब पी ली। एक स्थान में ओले बरसने लगे जिसके कारण हमने डोलियाँ रखवा दीं। मैंने तो कहारों को बतलाकर अपनी डोली ऊँचे स्थान में रखवायी और शराबियों की डोली को नीची जगह छोड़कर उनके कहार दूर छते हुए स्थान में जा बैठे। जब मूसलाधार पड़ने लगी तो बेचारे शराबी वकील ने प्याले से हाथ हटाकर शोर मचाया—"भीग गये! भीग गये! ओ कहारो! जल्दी डोली उठाओ!" जितनी ही शराबी वकील डाँट बतलाते उतना ही कहार और हँसते। इनकी हालत पर मुझे रहम[1] आया और मैंने छाता लेकर डोली से बाहर पैर रक्खा। बस, फिर क्या था—सब कहार दौड़कर डोलियों को लग गये और मूसलाधार बारिश में ही आगे बढ़ने लगे। रात को फिर बड़ी गड़बड़ हुई। वर्षा बन्द होते ही

—१

१. दया।

मैं पैदल हो लिया था और दस मील चढ़ाई-उतराई का भुगतान कर ऊँची चढ़ाई पर डाकबँगले में जा पहुँचा और भोजन के बाद गाढ़ निद्रा की गोद में विश्राम लेने का विचार था कि शराबियों की डोलियाँ आधी रात के वक्त पहुँचीं। उनमें से एक महाशय पीठ के फोड़े से बीमार थे। उन्होंने रास्ते में कहारों को बहुत गालियाँ दीं और तंग किया। इस अन्तिम चढ़ाई पर कहारों के पैर फिसल जाने से डोली गिरी और शराबी वकील की पीठ का फोड़ा फूट गया। हम सब तो उनका दुःख दूर करने की चिन्ता में और उन्हें यह शक कि कहारों ने उन्हें जान-बूझकर गिरा दिया है। इसलिए उन्होंने कहारों को कोसते हुए लगभग संसार-भर के सब गन्दे शब्द फुलझड़ी की तरह कहारों पर बरसा दिये। अन्त में ज्यों-त्यों करके उन्हें कुछ खिलाने का यत्न किया गया, तब शराब की बोतल खोल बैठे। मैं उन्हें छोड़ चारपाई पर दूर लेट गया। दो पेग (शराब के गिलास) और चढ़ाकर वकील साहब के सिर पर यह धुन सवार हुई कि मैं उनके मद्यपान को देख नाखुश हो गया हूँ। उनके मुंशी ने कह दिया—"वह धर्मात्मा आदमी हैं, आपके पास क्या बैठते जहाँ हमेशा मद्य का दुर्गन्ध उठता है?" मैं तो गाढ़ निद्रा में डूबा जा रहा था, उधर शोर मचा। वकील साहब के साथी हिलने से मना करते और वह मेरे पास पहुँचने के लिए हाथ-पैर मारते। कहाँ की नींद, कहाँ का सोना! मैं वहाँ से उठ पलँग पर जा बैठा और कह दिया कि मैं नाखुश नहीं हूँ; लेकिन इससे भी छुटकारा न हुआ। मेरे पैरों को ऊपर खींच शराबी वकील बड़बड़ाने लगा—"आप धर्मात्मा हैं, आप तो ऐसा कहेंगे ही। परन्तु मैं पापी हूँ, क्षमा करो!" इत्यादि। मैंने समझाया, दिलासा दिया, परन्तु वहाँ कौन सुनता था? यही क्रम एक घण्टे तक लगा रहा, तब मुझे वहाँ कुछ कहने का मौका मिला। वहाँ श्रद्धा का प्रवाह था, सोने को कहा, तो आज्ञा पालन की गयी। उस समय जो करुणा और प्रेम का भाव मेरे अन्दर काम कर रहा था उसका फिर कम ही प्रादुर्भाव हुआ है।

दूसरे दिन दोपहर अपने साथियों से बिछुड़ होशियारपुर सायंकाल पहुँचा और तीसरे दिन जालन्धर पहुँचा। परिवार को मिल निश्चिन्त हुआ।

कुम्भ पर वैदिक धर्म-प्रचार

मेरी अनुपस्थिति में सद्धर्म-प्रचारक का सम्पादन लाला देवराज जी करते रहे। लौटने पर अपना काम मैंने फिर सँभाल लिया। संवत् १९४८ का कुम्भ पास आ रहा था। मैंने प्रचारक द्वारा बहुत आन्दोलन किया। आर्यप्रतिनिधि सभाओं ने चुप साध ली थी परन्तु जब प्रचारक की प्रेरणा पर सर्वसाधारण ने कुम्भप्रचार के बड़े बोझ को उठाने की तैयारी आरम्भ की तो सभाएँ भी जाग उठीं। २८ फाल्गुन संवत् १९४७ (१२ मार्च सन् १८९१ ई०) को पंजाब प्रतिनिधिसभा का मुझे तार मिला—"संयुक्त प्रान्त और पंजाब प्रतिनिधिसभाओं ने कुम्भप्रचार का फ़ैसला

कर दिया—इसी सप्ताह के अखबार में धन और उपदेशकों की पहुँच के लिए अपील करो। व्यय दो सहस्र के लगभग होगा।"

४८ के कुम्भप्रचार का हाल प्रचारक से लेकर पण्डित लेखराम जी ने अलग छपवाकर बँटवाया। उस कुम्भ पर सैकड़ों ही जमा हुए और उतना ही व्यय हुआ। जिस भूमि के एक सिरे पर ४८ के कुम्भ का प्रचार हुआ, उसी के दूसरे सिरे पर १९६० के कुम्भ पर भूमि किराये पर लेकर फिर वैदिक धर्म का प्रचार हुआ। उसके डेढ़ वर्ष पीछे ही वह सारी भूमि आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब की आज्ञानुसार मैंने उन्हें खरीद दी और जब वैशाख १९७२ के कुम्भ पर सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि-सभा की ओर से प्रचार हुआ तो उस समय इस भूमि का स्वामित्व आर्यसमाज के पास था।

संवत् १९४८ के कुम्भप्रचार के लिए राजकुमार जनमेजय तथा अपने मुंशी को साथ ले मैं हरिद्वार पहुँचा। उसका प्रबन्ध मेरे सुपुर्द किया गया था परन्तु मुझे हरिद्वार से चार-पाँच दिनों के बाद ही लौटना पड़ा; क्योंकि मेरे पुत्र की बीमारी का समाचार तार द्वारा मुझे पहुँचा। मेरे पहुँचते ही वह नीरोग हो गया।

कुम्भ की समाप्ति पर सब संन्यासी-महात्मा मेरे गृह पर जमा हुए। स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द, सभी महाशयों के व्याख्यान हुए; परन्तु जब एक म्यान में दो तलवारों का ठहरना कठिन है तो एक स्थान में इतने वीतराग संन्यासियों का शान्ति से ठहरना कैसे सम्भव हो सकता था? स्वामी पूर्णानन्द तो काशी पढ़ने के लिए चले गये, स्वामी आत्मानन्द जी को अपने व्याख्यानों की प्रशंसा की चिन्ता हुई। इसी प्रकार यह मण्डल उस समय छिन्न-भिन्न हो गया। स्वामी आत्मानन्द जी का नाम मैंने वाकिंग एन्साइक्लोपीडिआ रख छोड़ा था। कौन पुरुष था जिसके परिवार के विषय में उनको कुछ ज्ञात न हो और कौन नगर वा ग्राम है जिसका वर्णन वह न कर सकते थे। दृष्टान्त के तौर पर लाला देवराज जी आये। मैं नाम लेकर उनसे परिचय कराने को ही था कि स्वामी जी बोले, "आइए! लाला देवराज जी! मन्त्री आर्यसमाज तथा जैलदार जालन्धर। आपके पिता लाला शालिग्राम आनरेरी मैजिस्ट्रेट का क्या हाल है? आपकी सप्ताह की प्रार्थना-पुस्तक का दूसरा संस्करण निकला वा नहीं?" एक दूसरे भाई आये जिन्होंने बतलाया कि वह कुक्कर पिण्ड (ग्राम) के रहनेवाले हैं। स्वामी जी ने उस ग्राम के जैलदार, लम्बरदारों की ही पीढ़ियाँ न गिना डालीं बल्कि बड़ और पीपल के वृक्षों का भी वर्णन कर दिया। मुझे बड़ा शोक है कि स्वामी आत्मानन्द जी को आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में जितनी घटनाएँ ज्ञात थीं वह उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गयीं।

इसी संवत् १९४८ के मध्य ज्येष्ठ (१८९१ ई० के मई मास के अन्त) में दयानन्द कॉलिज का प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था जिसमें आर्षग्रन्थों की पढ़ाई के

लिए अलग वैदिक श्रेणी खुलने का प्रश्न इस युक्ति से स्वीकृत नहीं किया था कि उसके खोलने से कॉलिज सोसाइटी के उद्देश्य बदल जाएँगे और इसलिए उक्त सोसायटी की रजिस्टरी नाजायज़ हो जाएगी। परन्तु जिन महाशयों ने उस समय इस प्रकार की युक्तियाँ दी थीं उन्होंने अब वैदिक श्रेणी उसी कॉलिज के प्रबन्ध में खोली है और सोसाइटियों के रजिस्ट्रार ने उसकी रजिस्टरी को नाजायज़ करार नहीं दिया। इन सब कामों में भाग लेने के कारण कुछ दिनों 'प्रचारक' के सम्पादन का काम मैं न कर सका। ३० ज्येष्ठ (१३ जून) से मैंने फिर 'प्रचारक' सँभाला और तब वैदिक श्रेणी और संन्यासाश्रम के सुधार आदि विषयों पर आन्दोलन आरम्भ किया।

इसी समय परोपकारिणी सभा के वैदिक यन्त्रालय में पण्डित रैमल जी तथा पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा का झगड़ा आरम्भ हुआ। इस झगड़े के निबटाने और वैदिक यन्त्रालय की रक्षा का काम जो 'प्रचारक' ने उस समय किया उसको राय मूलराज तक ने स्वीकार किया था। इस प्रश्न को हल करने के लिए उन दिनों मुझे गरमी की तीन रातों जागकर काम करना पड़ा था।

दो से एक रहकर नये युग में प्रवेश

सहधर्मिणी के साथ मेरा शनैः-शनैः अटूट सम्बन्ध हो चुका था। शिवदेवी जी से कभी बिछुड़ने का खयाल तक न आता था और उन्होंने 'वैदिक संस्कारविधि' का पाठ करके यह धारणा दृढ़ की थी कि पति से कभी वियोग न होना चाहिए। श्रावण के अन्त (अगस्त के मध्य भाग) में उन्हें पाँचवीं सन्तान उत्पन्न होते समय बड़ा कष्ट हुआ। चिकित्सक की सहायता ली गयी। लड़की का जन्म लेते ही देहान्त हो गया। देवी इससे बहुत निर्बल हो गयीं। धर्मशाला पर्वत के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के लिए निमन्त्रण आया था। निश्चय कर लिया कि १५ भाद्रपद (३१ अगस्त) को परिवारसहित धर्मशाला के लिए कूच होगा। मैं क्या सोच रहा था और कर्मानुसार उधर कुछ और तैयारी हो रही थी।

१२ भाद्रपद संवत् १९४८ (२८ अगस्त सन् १८९१ ई०) की शाम को दस्त और वमन आरम्भ हुए। डॉक्टर सारी रात पास रखकर मैं जागता रहा। तीन बजे प्रातःकाल दस्त बन्द हो गये। समझ लिया कि अब नीरोग हो गयी है। १३ भाद्रपद (२९ अगस्त) के दिन और रात आराम रहा। १४ भाद्रपद (३० अगस्त) को आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में बैठे समाचार आया कि फिर दस्त शुरू हो गये। घबराहट कुछ-कुछ कम हो रही थी। डॉक्टरों को सम्मति के लिए बुलाया गया। एक डॉक्टर ने वहाँ ही डेरा लगाया। माता ने आकर शाम से ही गोद में ले-लिया। देवी के भाई पास थे। बहुतेरा इलाज किया, परन्तु काल के आगे किसी का वश न चला। नौ बजे रात के जब माता थोड़ी देर के लिए अलग हुईं तो पुत्री

वेदकुमारी से अपना कलमदान माँगा। पर्चे पर कुछ लिखा और उसके निचले खाने में रख दिया। एक बजे जब मैं दवाई पिलाने लगा तो हाथ जोड़कर प्रणाम किया। जब दवाई पिला चुका तो माता को धीमे स्वर से कहा—"मुझसे बड़े अपराध हुए हैं—जिनकी मुझे सेवा करनी थी, ये मेरी सेवा कर रहे हैं।" माता ने प्यार दिया। भाई देवराज ने कहा—"बीबी जी, भजन सुनोगी ?" कहा—"हाँ।" देवराज जी ने आरम्भ किया—'प्रभु जी ! भेंट धरूँ क्या मैं तेरे !' देवी लब[1] हिलाती रहीं, बोल नहीं सकती थीं। भजन समाप्त हुआ। माता ने रोकर पूछा—"बच्चे किसके सुपुर्द कर चली हो ?" उत्तर मिला—"आप ही पल जाएँगे।"

मुझे देवी बाबू जी कहकर सम्बोधन किया करती थीं। साढ़े चार बजे मैं बाहर डॉक्टर से कुछ सलाह करने गया। २० मिनट पीछे बुलावा हुआ। मुझे देखते ही दो बार कहा—"बाबू जी !" मैंने झुककर नब्ज हाथ में ली। लब हिलते थे। एक बार स्पष्ट 'ओ३म्' का उच्चारण मैंने सुना और फिर माता की गोद में प्राण त्याग दिये।

छह बजे से ही नर-नारियों का हुजूम[2] जमा हो गया। स्त्रियों ने रोना-पीटना आरम्भ किया। देवी की माता और उनकी जेठानी (मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी) ने सबको रोने-पीटने से बन्द कर दिया और ९ बजे श्मशान-भूमि में वैदिक विधि से मृतक शरीर का अन्त्येष्टि-संस्कार कराके परमात्मा से शान्ति के लिए प्रार्थना की गयी।

देवी ने चार सन्तान छोड़ीं—(१) वेद कुमारी, १० वर्ष, (२) हेमन्त कुमारी, जिसका यज्ञोपवीत संस्कार के समय नया नाम रक्खा गया—'अमृत कला'—६ वर्ष, (३) हरिश्चन्द्र, ४ वर्ष, (४) इन्द्र, दो वर्ष। इनमें से इन्द्र उस समय भी ज्वर और दस्तों से पीड़ित था और छह मास पहले भी उसे निमोनिया हो चुका था। मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी ने इन सबको सँभाल लिया।

दूसरे दिन प्रातः मैंने देवी का सामान सँभालना शुरू किया। बड़ी पुत्री ने कलमदान लाकर बतलाया—"माता जी ने एक कागज लिखकर इसमें रक्खा था।" मैंने कागज निकाला। उसमें लिखा था—"बाबू जी ! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना ! आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जाएगी, परन्तु इन बच्चों को कभी मत भूलना ! मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो !" यह उन पंजाबी वाक्यों का अनुवाद है जो देवी ने देवनागरी अक्षरों में लिखे। वे वाक्य मेरे हृदय पर अंकित हो गये। रात को सब बच्चों को सुलाकर, मैंने एक घण्टे तक परमात्मा से बल के लिए प्रार्थना की और दृढ़व्रत धारण किया कि बच्चों के लिए माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूँगा। यह मेरे वर्तमान बच्चे बतला सकते हैं कि मैंने अपने इस संकल्प को कहाँ तक पूरा किया है।

---

१. होंठ, २. भीड़।

इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द के उपदेशों और वैदिक धर्म के आदेशों ने सम्बन्धियों, मित्रों और हितचिन्तकों के, सामने धरे प्रलोभनों से मुझे बचाया, परन्तु देवी के अन्तिम सन्देश ने मेरे अन्दर मातृभाव का संचार करके मुझे इस योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूँ, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश की तैयारी

हरिश्चन्द्र को साथ लेकर मैं धर्मशाला पर्वत को चल दिया और शेष बच्चों को लेकर मेरी बड़ी भौजाई ग्राम तलवन को चली गयीं। धर्मशाला आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में व्याख्यान देने के अतिरिक्त मैं गुरखा पल्टन और हिमगिरि के गद्दियों में भी धर्म-प्रचार करता रहा। आश्विन के उत्तरार्द्ध (अक्टूबर के आरम्भ) में लौटकर फिर वकालत के काम में लग गया। मेरे बड़े भाई, श्री आत्माराम जी ने, अपनी धर्मपत्नीसहित, बच्चों की रक्षा-सेवा के लिए जालन्धर में डेरा आ जमाया। इसी वर्ष लाहौर, होशियारपुर आदि स्थानों के आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर मांसभक्षण विषय पर प्रश्नोत्तर होने शुरू हो गये थे।

संवत् १९४८ के अन्त (सन् १८९२ के आरम्भ) से ही मैं कुछ बीमार रहने लगा। दो बार एक-एक सप्ताह बीमार रहकर मई (वैशाख-ज्येष्ठ) मास में अधिक बीमार हो गया। डॉक्टर और हकीम सबसे ही परीक्षा करायी। सब अंग ठीक पाये गये; परन्तु बीमारी यह थी कि ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता जाता शरीर में जलन बढ़ती जाती और शाम को दूर हो जाती। न ज्वर था न फेफड़ों में कुछ कसर थी और न किसी अन्य रोग के चिह्न थे। तब ज्येष्ठ के उत्तरारम्भ (जून के आरम्भ) में ही धर्मशाला पर्वत का रास्ता पकड़ा। यहाँ दो आर्यसंन्यासियों में पहले से ही मांस विषय का विवाद चल रहा था, जिसमें आर्यसमाजी बैरिस्टर, वकील भी भाग ले रहे थे। मैंने उस समय तो वहाँ पहुँचकर उस विवाद को मिटा दिया परन्तु मैदान में वह झगड़ा जोर पकड़ता गया। रायज़ादा भक्तराम उस समय धर्मशाला में बैरिस्टरी करते थे। उनके पास चार मास बहुत उत्तम काटे। एक ओर वकालत करते हुए वहाँ कुछ आर्थिक कमाई भी की थी और साथ ही आत्मिकोन्नति और स्वाध्याय के लिए भी काफी समय मिला। काँगड़ा, पालमपुर आदि में वैदिक धर्म-प्रचार का भी खूब अवसर मिला। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द ने मुझे दो शास्त्रार्थों में भी घसीट लिया। उन दिनों सहनशीलता का पाठ पढ़ने का भी अच्छा अवसर मिला और पहाड़ों की चढ़ाई में मानसिक बल की कई बार परीक्षा हुई।

अक्टूबर (आश्विन-कार्तिक) मास में मैं जालन्धर लौटा। मांस विषय पर मैदान में तीव्र आन्दोलन हो रहा था। इसपर दो दल बन गये थे। यद्यपि अभी समाज का संघटन एक ही था तथापि एक-दूसरे पक्ष को उपाधियाँ मिलने लग गयी

थीं। मांसखोर और घासखोर, मांस-प्रचारक और महात्मा बुद्ध, इस प्रकार एक-दूसरे को खिताब मिल रहे थे। इसी उधेड़-बुन और लड़ाई-झगड़े में आर्यसमाज लाहौर का वह वार्षिकोत्सव आ पहुँचा जिसमें दोनों पक्षों की ओर से खुल्लमखुल्ला अपने मन्तव्यों का प्रचार हुआ और जो लोग गुप्त रीति से मांस का प्रचार करते थे उन्होंने खुले बन्दों प्रकट होकर मांस-भक्षण का समर्थन करना शुरू कर दिया। पंजाब के समस्त आर्यसमाजों की प्रतिनिधिसभा का वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा, सार्वजनिक जीवन हो गया और इसलिए अपनी जीवन-यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहाँ समाप्त करता हूँ। आश्रम इसे कह नहीं सकता, क्योंकि वैदिक ब्रह्मचर्य-आश्रम के साथ मेरा स्पर्श तक न हुआ था। फिर गृहस्थ भी अवैदिक ही रहा। हाँ, इससे आगे मैंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की तैयारी आरम्भ कर दी थी। उस तैयारी में ६ वर्ष व्यतीत करके किस प्रकार मैंने वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया और उस आश्रम-धर्म के पालन में मुझे कहाँ-कहाँ ठोकरें लगीं, इसके वर्णन का समय अभी नहीं आया। तब चौथे आश्रम में प्रवेश का वर्णन अभी बहुत दूर है।

—श्रद्धानन्द संन्यासी
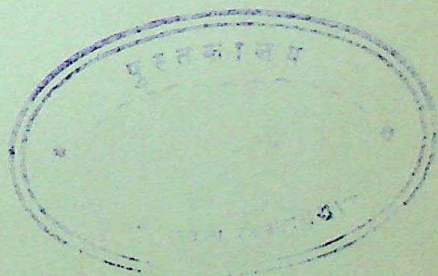
□□

भारतीय नवजागरण में आर्यसमाज तथा उसक संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की भूमिका के अधिकृत व्याख्याकार **डा० भवानीलाल भारतीय** का जन्म राजस्थान प्रांत के अंतर्गत नागौर जिले के ग्राम परबसतर में आषाढ़ कृष्णा ३ सं. १९८५ वि. को हुआ। उनकी उच्चस्तरीय शिक्षा जोधपुर में हुई। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में एम. ए. तथा 'संस्कृत भाषा और साहित्य को आर्यसमाज का योगदान' शीर्षक विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय से ही पी. एच. डी. की उपाधि ग्रहण की।

डा० भारतीय को आर्यसमाज लेखन क्षेत्र में अवतीर्ण हुए ३७ वर्ष हो चुके हैं। इस बीच उन्होंने लगभग ६० छोटे बड़े ग्रन्थों का प्रणयन, सम्पादन, अनुवाद आदि किया है। दयानन्द सरस्वती की निर्वाण शताब्दी के अवसर उन्होंने नवजागरण के पुरोधा शीर्षक दयानन्द सरस्वती का शोधपूर्ण, बृहद, जीवनचरित लिखा था। आर्यसमाज के वेदविद् विद्वानों, शास्त्रार्थ महारथियों, पत्रकारों एवं लेखकों पर अनेक अनुसंधानपूर्ण ग्रंथ छप चुके हैं। पं. लेखराम पुरस्कार, पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय स्मारक साहित्य पुरस्कार, विद्यावती शारदा साहित्य पुरस्कार तथा पं. गोवर्धन शास्त्री स्मारक पुरस्कार आदि से सम्मानित डा० भारतीय आर्यसमाज की साहित्यिक एवं अनुसंधानात्मक गतिविधियों में विगत तीन दशाब्दों से निरन्त सम्बद्ध रहे हैं।

वे आर्यसमाज की संगठनात्मक गतिविधियों में भी निरन्तर भाग लेते रहे हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के मन्त्री तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्षों तक वे अन्तरंग सदस्य तथा उपमंत्री रहे। दो दशाब्द से भी अधिक समय तक राजस्थान की कॉलेज शिक्षा सेवा में रहने के पश्चात् वे विगत सात वर्षों से पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसंधान पीठ के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर पद पर कार्यरत हैं। स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित रचनाओं के वैज्ञानिक रीति के संपादन, विवेचन तथा अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद आदि से प्रो. भारतीय की सारस्वत साधना सम्यक् रूप से परिलक्षित होती है। आर्यसमाज विषयक शोध और अनुसंधान के बारे में भारतीय एवं विदेशी विद्वान उनसे प्रामाणिक परामर्श लेने में गौरव का अनुभव करते हैं।